स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

गुरु शिष्य सम्बन्ध

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

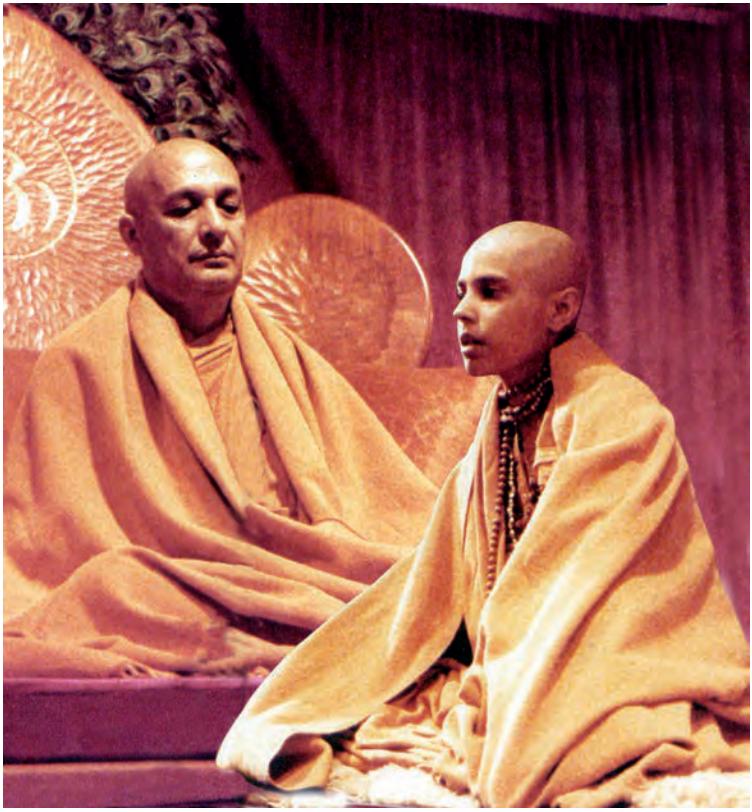

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

गुरु शिष्य सम्बन्ध

WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

गुरु शिष्य सम्बन्ध

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

मार्गदर्शन

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बिहार योग विद्यालय द्वारा
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा

प्रथम प्रकाशन 1995
पुनर्मुद्रण 2004
द्वितीय संशोधित संस्करण 2013

ISBN: 978-81-85787-98-5

© बिहार योग विद्यालय 1995, 2013
प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट से लिखित अनुमति के बिना इस पुस्तक के किसी भी अंश का अन्यत्र मुद्रण या अन्य किसी रूप में प्रयोग वर्जित है।

Dedication Tipon
Sw. Sivananda

Dedication Tipon
Sw. Satyananda

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

आत्मार्पण	3
गुरु की आवश्यकता	5
गुरु कैसे प्राप्त करें?	12
गुरु को कैसे पहचाने?	19
गुरु की सार्थकता	23
गुरु तत्त्व	28
गुरु की श्रेणियाँ	31
शिष्य की श्रेणियाँ	43
गुरु-आज्ञा पालन	61
गुरु के प्रति नकारात्मकता	64
शिष्य का अहंकार	67
समर्पण	71
सम्प्रेषण	76
गुरु-कृपा	80
गुरु – माता-पिता एवं मित्र	84
दीक्षा	89
गुरु एक ही होना चाहिए	94
गुरु-दक्षिणा	96
मन्त्र	103
गुरु-सेवा	108

ईश्वर रूप गुरु 117
हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती 120
गुरु भूमि – भारत 124
उपसंहार 127

द्वितीय खण्ड – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रवचन

शिष्यत्व ही योग का प्रारम्भ है 136
गुरु का चयन 146
सम्बन्ध की स्थापना 149
गुरु की अन्तरात्मा से सम्बन्ध जोड़ना 152
गुरु परम्परा 162
अपरिहार्य उपादान 166
गुरु की भूमिका 171
श्रद्धा – एक अपरिमेय शक्ति 181
गुरु की विशिष्टता 192
अहंकार का विसर्जन 195
सम्प्रेषण एवं शिक्षण 209
सम्प्रेषण का रहस्य 212
गुरु को कहाँ खोजें? 224
प्रत्येक गुरु एक प्रकाश है 229
एकनिष्ठा का महत्त्व 235
क्या गुरु की प्रशंसा करनी चाहिए? 238
मुक्त मन 241
एक शिष्य की कहानी 247
भक्ति कैसे जगायें? 250
शिष्य को निर्देश 252
गुरु एक मनोचिकित्सक 259
गुरु प्रहरी नहीं हैं 263
गुरु कृपा ही केवलम् 266
स्वामी शिवानन्द 276
गुरु स्तोत्रम् 290

परिचय

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की विचारधारा के अनुसार गुरु और शिष्य से सम्बन्धित विषय पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से इस पुस्तक की रचना की गयी है। इस प्राचीन और कालातीत परम्परा पर बहुत कुछ कहा जा चुका है, किन्तु इस पुस्तक में गुरु-शिष्य सम्बन्ध के दैनिक व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध प्रमुख प्रासंगिक क्षेत्रों को समेकित किया गया है।

प्रथम खण्ड की रचना स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती द्वारा की गयी है, जो हाल के वर्षों में स्वामीजी के समस्त भ्रमण-कार्यक्रमों में उनके साथ रहीं हैं। द्वितीय खण्ड में गुरु-शिष्य सम्बन्ध पर स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा दिये गये सत्संग और प्रवचनों को समाविष्ट किया गया है। इसमें उनके द्वारा अपने शिष्यों को लिखे गये पत्रों के अनेक उद्धरण भी सम्मिलित किये गये हैं।

जिज्ञासु एवं साधक गुरु-शिष्य सम्बन्ध के माध्यम से प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे एवं आध्यात्मिक विकास करेंगे, इसी भाव से इस पुस्तक का प्रणयन किया गया है।

मेरे गुरु ने दिखा दी मुझे राह।
उन्होंने माँगा मेरा तन,
सहज ही मैंने कर दिया उसका अर्पण।
उन्होंने माँगे मेरे प्राण,
निर्द्वन्द्व भाव से कर दिया मैंने दान।
उन्होंने पूछा– क्या दे सकोगे अपना मन भी?
मैंने कहा– वह तो सदा के लिये है आपका ही।
अब, मैं रह गया अकिंचन,
रिक्त और एकान्त।
चन्द्र तारक खचित नील निरभ्र नभ
बस रह गया मेरे पास।
तभी अकस्मात्–
सूर्य ने छेड़ दिया अपना संगीत
आकुल सागर की लहरों ने कर दिया मुझे अभिसिक्त,
गरजता मेघ बरस पड़ा मुझ पर,
और नाच उठे हिमधवल राजहंस
मेरे नेत्रों के आगे।
बिजली की चमक ने आलोकित कर दिया
मेरी आत्मा को।
पुनः पधारे गुरुदेव हमारे
और पूछा– क्या दे पाओगे अपने संस्कार,
जिन्हें जन्म-जन्मान्तरों से संचित कर रखा है तुमने?
मैंने उनकी भूरी आँखों की गहराइयों में झांका,
लगा, वे तो युगों से खड़े हैं मेरे सामने।
मेरी आँखों के सामने सबकुछ विलीन होने लगा,
विगलित और तिरोहित होने लगा।
अन्दर और बाहर में रहा केवल एकत्व,
जो मेरे गुरुदेव की करुणा थी,
जिसने मेरे 'मैं' को मिटा डाला
और कर लिया अपने में आत्मसात्।
मेरे गुरु ने दिखा दी मुझे राह।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

प्रथम खण्ड

आत्मार्पण

मेरे गुरु ने मुझे निम्नलिखित कहानी सुनायी–

एक दिन एक राजा के दरबार में एक ऋषि आये। राजा ने उनसे कहा, "मैं आपको क्या दूँ?" ऋषि ने उत्तर दिया–"जो तुम्हारा अपना हो।" "अति उत्तम"–राजा ने कहा–"मैं आपको दस हजार गायें देता हूँ।" "किन्तु वे तुम्हारी नहीं हैं"–ऋषि ने कहा–"वे तुम्हारे साम्राज्य की सम्पत्ति हैं। मैं तो सिर्फ वही चीज स्वीकार करूँगा जो पूर्णत: तुम्हारी ही है।" यह सुनकर राजा ने कहा–"तब मैं अपना एक पुत्र देता हूँ।" ऋषि ने उत्तर दिया–तुम्हारा पुत्र भी तुम्हारा अपना नहीं है।" वार्त्तालाप चलता रहा। ऋषि राजा द्वारा अर्पित सभी वस्तुओं को यह कहकर अस्वीकार करते गये कि वे राजा की अपनी नहीं हैं। अन्त में राजा ने कहा–"मैं अपने आप को अर्पित करता हूँ।" ऋषि ने पूछा–"इस अर्पण का क्या तात्पर्य है? तुम तो यह भी नहीं जानते कि तुम कौन हो। ऐसी स्थिति में तुम अपने आपको मुझे कैसे अर्पित कर सकते हो?" कुछ क्षण गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद राजा ने कहा–"मैं आपको अपना मन देता हूँ, वह तो मेरा है।" ऋषि अब भी सन्तुष्ट नहीं थे। "यदि तुम किसी को अपना मन देते हो, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस व्यक्ति की स्पष्ट अनुमति के बिना तुम उस व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी के भी विषय में नहीं सोचोगे। किसी को पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ दान देकर फिर उन्हें स्वयं खर्च करने से दान का क्या तात्पर्य होगा?"–ऐसा कहकर ऋषि दरबार से विदा हो गये।

कुछ महीनों के पश्चात् वे पुन: राज-दरबार में पधारे। उन्होंने राजा से पूछा–"क्या अब तुम मुझे अपना मन समर्पित करने को तैयार हो? तुम्हारी सम्पत्ति, साम्राज्य, महारानी या सन्तान के बारे में मैं कुछ सुनना नहीं चाहता

हूँ। तुम निष्ठा और गम्भीरतापूर्वक सोचकर मेरे प्रश्न का उत्तर दो।" राजा ने गम्भीरतापूर्वक विचारकर उत्तर दिया– "नहीं, मैं अभी इस हेतु तैयार नहीं हूँ। यह सुनकर ऋषि चले गये।"

कुछ समय पश्चात् राज-दरबार में तीसरी बार उनका पदार्पण हुआ। इस अवधि में राजा ने योगाभ्यास द्वारा अपने को तैयार कर लिया था। उन्होंने ऋषि से कहा– "अब मैं आपको अपना मन अर्पित करने का प्रयास करूँगा। यदि प्रयास में विफल होऊँ तो कृपाकर मुझे क्षमा करेंगे।"

ऋषि ने राजा को अपना शिष्य बना लिया। तदुपरान्त राजा के मन ने अपने गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी के भी विषय में सोचना बन्द कर दिया। उन्होंने अपने एवं राज्य के कल्याण के बारे में भी चिन्ता करनी छोड़ दी। उनका मन निरन्तर गुरु-चरणों में तल्लीन रहने लगा।

प्रजा ने गुरु को इस स्थिति की सूचना दी। उन्होंने कहा– "अब समय आ गया है कि तुम अपने राज्य के प्रशासनिक क्रिया-कलापों में पुनः संलग्न हो जाओ। यह मेरी आज्ञा है।"

यह छोटी-सी कहानी स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि पूर्ण आत्मसमर्पण में ही गुरु-शिष्य सम्बन्धों का मर्म निहित है। शिष्य अपने मन को पूर्णतः गुरु में विलीन करते हुए, उन्हें अपना सीमित व्यक्तित्व अर्पित करता है। तदुपरान्त वह उनसे परिपूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करता है। यही आत्मसमर्पण की सही अवधारणा है, किन्तु हम लोगों में से कितने इसे प्राप्त करने की आशा करते हैं। प्रत्येक शिष्य का जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु ही समर्पित होना चाहिये।

गुरु की आवश्यकता

आप चाहे जो हों या जैसे हों, गुरु आपके जीवन की आवश्यकता हैं। हम सब जीवन-सागर में भटके हुए यात्री हैं। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हमें एक दिशा, एक उद्देश्य एवं एक लक्ष्य की आवश्यकता है। हमारे जीवन की संपूर्ण अवधि एक उद्देश्य की खोज में ही बीत जाती है। हम धन, प्रतिष्ठा एवं सामाजिक सम्बन्धों में इसे खोजने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु अन्त में हमें इन सुखों की भ्रामक प्रकृति की अनुभूति होती है। और जब आदमी बूढ़ा हो जाता है, तब उसे अनुभव होता है कि जीवन ने उसे ठग लिया। उसे लगता है, उसका सब कुछ व्यर्थ और अर्थहीन था। वह मात्र अकिंचन रह जाता है।

यदि आप अपने जीवन का सिंहावलोकन करें तो लगेगा कि आपका संपूर्ण जीवन कुछ खोजने में बीत गया। आप अनेक दरवाजे खटखटाते रहे, पर असफल ही लौटे। आप शाश्वत प्रेम की खोज करते हैं, किन्तु वह आपको छल जाता है; आप धन एवं प्रतिष्ठा के पीछे दौड़ते हैं, किन्तु ये केवल क्षणिक हैं। इन्हें प्राप्त कर लेने के बाद भी आप असंतुष्ट और अतृप्त रह जाते हैं। यदि आपको सुखी एवं सफल जीवन के सभी साधन–सौन्दर्य, सुख, सम्पत्ति और सफलता, उपलब्ध हों तो भी एक असुरक्षा की भावना आपको चिन्तन के क्षणों में परेशान करती रहती है। इन साधनों के खो जाने का भय, बूढ़े होने तथा मृत्यु का भय–एकान्त क्षणों में ये जीवन्त बन जाते हैं। फिर आप टूट जाते हैं।

मनुष्य सदा भ्रम में रहता है। उसकी बुद्धि अनुचित विचारधाराओं से आच्छादित रहती है, जो उसकी मूल प्रवृत्ति को तुष्ट करती हैं। अनेक बार जीवन की परिस्थितियाँ आघात पहुँचाकर आपके भ्रम को दूर करती हैं, जिससे आप सत्य को जान सकें, किन्तु आप उस पर ध्यान नहीं देते।

केवल ज्ञानी ही जीवन के संदेश को समझ पाते हैं, लक्षणों के गूढ़ार्थ को समझ पाते हैं। वे सहजता से यह स्वीकार करते हैं कि भौतिक सुखों की अपेक्षा अन्य महत्त्वपूर्ण चीजें भी हैं। यह ज्ञान उन्हें अन्तर्मुखी बनाता है तथा वे जीवन के अधिक अर्थपूर्ण सम्बन्धों की खोज करने लगते हैं। यही ज्ञान उन्हें अन्तरात्मा की खोज की ओर उन्मुख करता है। वास्तव में समस्या जगत् में और गुणों में नहीं, जिन्हें हम कारण मानते हैं, वरन् हममें ही है। हम सांसारिक वस्तुओं को अपरिवर्तनशील, स्थायी एवं चिरन्तन सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु हमारा यह दृष्टिकोण गलत है। विश्व के साथ स्थिरता या स्थायित्व जैसी कोई बात नहीं है। वास्तव में सतत् गतिशीलता ही विश्व की अवधारणा का आधार है। निर्माण, पालन और विध्वंस तो प्रकृति के अन्तर्निहित नियम हैं। इस प्रक्रिया को रोकने में हम पूर्णत: असमर्थ हैं।

तथापि हमें एक ऐसा स्रोत उपलब्ध है जो पूर्ण, अनन्त और चिरन्तन है। यह स्रोत हमारे अन्दर ही स्थित है। हमें इसे बाह्य जगत् में नहीं खोजना है। परन्तु अति निकट होते हुए भी यह हमसे बहुत दूर है। अज्ञान और भ्रम के कारण हम सर्वदा इससे अलग रहते हैं।

महात्माओं एवं ज्ञानियों ने इस स्रोत को सत्य या आत्मा कहा है। इस स्रोत का तात्पर्य हमारे भौतिक अस्तित्व या अहंकार से नहीं है, जिसके साथ हम प्राय: अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। यह वह सत्य, वह आत्मा है, जो हमारे अन्दर निवास करता है। वह चिल्ला-चिल्ला कर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है, वह हमें अपने अन्दर झाँकने हेतु बाध्य कर रहा है, ताकि हम चिरन्तन सुख का अनुभव कर सकें।

किन्तु यह सत्य, यह आत्मा क्या है? क्या वास्तव में इसका अस्तित्व है? यदि हाँ, तो हम इसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इस बिन्दु पर, और प्रधानत: इस हेतु, गुरु आवश्यक हो जाता है। अन्तरात्मा की यात्रा का मार्ग लम्बा, संकटापन्न, तलवार की धार के समान पतला तथा गुप्त गड्ढों से भरा हुआ है। हम इस पथ को कैसे जान सकते हैं? यहाँ सिर्फ लम्बी एवं आपदाओं से पूर्ण यात्रा पर रवाना होने का प्रश्न ही नहीं है। मुख्य समस्या तो यह है कि हमें अपना लक्ष्य ही मालूम नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिये? उत्तर स्पष्ट है। हमें ऐसे व्यक्ति को खोज निकालना है जिन्होंने इस मार्ग पर चलकर उस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। वही व्यक्ति उस लक्ष्य के मार्ग पर प्रयाण के समय हमारा मार्गदर्शक हो सकता है।

जिन मनीषियों ने गुरु-शिष्य सम्बन्ध की खोज की, उन्हें सांसारिक एवं स्थूल सम्बन्धों की सीमाओं के बारे में पूर्णत: स्पष्ट अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। वास्तव में हमारी यात्रा में वह व्यक्ति कैसे हमारा मार्गदर्शक हो सकता है जिसकी सजगता का स्तर वही हो जो कि हमारा है। यह तो वैसे ही है जैसे कि एक अन्धा व्यक्ति दूसरे अन्धे व्यक्ति का मार्गदर्शन करे। जिन लोगों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझ लिया है, उन्होंने किसी ऐसे अधिक प्रज्ञायुक्त एवं अनुभवी व्यक्ति को खोज निकाला है जो उच्चतर उपलब्धि की ओर जाने वाली राह पर उनका मार्गदर्शन कर सके। दूसरे शब्दों में, उन्हें गुरु मिल गया है।

धर्म ग्रन्थों में इस तथ्य पर बार-बार बल दिया गया है कि गुरु के मार्गदर्शन के बिना कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन में प्रगति नहीं कर सकता। सभी दृष्टिकोणों से यह एक तर्कपूर्ण दावा मालूम पड़ता है। एक शिक्षक की सहायता के बिना हम विज्ञान, कला, इतिहास, भूगोल, गणित एवं वास्तुशिल्प का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के लिये हमें एक गुरु स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अनेक लोग यह तर्क देते हैं कि गुरु की आवश्यकता नहीं है, वास्तविक गुरु तो हमारे अन्दर है। यह सत्य है। किन्तु हममें से ऐसे कितने हैं जो उसकी आवाज को सुनने, उसे समझने तथा उसके निर्देशों का अनुकरण करने का दावा कर सकते हैं? वास्तव में हम तो उसके अस्तित्व पर सन्देह करने हेतु भी प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य की मानसिक अवधारणाएँ सीमित तथा स्थूल हैं। मानव-मन विक्षुब्ध वासनाओं, इच्छाओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं का संगम है। इस हलचल के बीच आपके लिये गुरु की आवाज सुनना कैसे सम्भव है; उसकी आवाज तो नीरवता, शान्ति की आवाज है। यह वैसा ही व्यर्थ प्रयास है, जैसा कि एक ऐसे कमरे में ऊँचा सुनने वाले व्यक्ति से वार्त्तालाप करना, जहाँ उच्चतम आवाज पर बैण्ड बाजा बज रहा हो। आप जो कह रहे हैं, उसका कुछ अंश भी वह समझे, इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि बैण्ड बाजा बन्द कर दिया जाये।

इसी प्रकार यदि हम अपनी नीरवता की आवाज सुनना-समझना चाहते हैं, जो हमारे आन्तरिक गुरु से सम्बन्धित है, तो हमें अपने मन के कोलाहल को बन्द करना होगा। किन्तु ऐसी स्थिति में, जब कि हम अपने मन की प्रकृति को ही नहीं समझते, क्या ऐसा करना सम्भव है? हम यह नहीं जानते

कि हम प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध और वासना का अनुभव क्यों करते हैं। अत: हम किस प्रकार उन्हें निष्कासित कर अपने अन्दर दिन-रात होने वाले कोलाहल को बन्द कर सकते हैं? इसे दबाने का हम जितना ही अधिक प्रयास करते हैं, इसकी आवाज उच्चतर होती जाती है।

इस आन्तरिक अशान्ति या कोलाहल को रोकने हेतु हमें गुरु की आवश्यकता होती है। वे ही उन विधियों के अधिकारी या विशेषज्ञ हैं, जिनके द्वारा शरीर, मन और आत्मा का नियन्त्रण तथा नियमन होता है। वे ही वह मार्ग दिखा सकते हैं, जिस पर चलकर हम अपने मन की उन नकारात्मक वृत्तियों को बदल सकते हैं, जो कि हमारे तथा हमारे आन्तरिक गुरु के बीच बाधा बनकर खड़ी हैं। वे ही हमारे आन्तरिक गुरु को प्रकट करते हैं जो कि हमारे ही व्यक्तित्व का एक अंश है।

बाह्य, देहधारी प्रत्यक्ष गुरु ही अन्तर्यात्रा पर हमारा मार्गदर्शन करता है। हमारे अन्दर स्थित महान् प्रसुप्त शक्ति के विस्फोट हेतु वह प्रस्फोटक का कार्य करता है। ऐसा होने के उपरान्त हम स्वेच्छा से अन्तरात्मा से सम्पर्क कर सकते हैं। तब हम कह सकते हैं कि हमें गुरु की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इसके पूर्व नहीं।

ऐसा लगता है कि जो लोग गुरु की आवश्यकता को अस्वीकार करते हैं, वे ऐसा अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ दुर्घटनाओं के कारण करते हैं। उनके अनुभवजनित संशय को तो समझा जा सकता है, किन्तु गुरु-शिष्य सम्बन्ध के बारे में उनकी समग्र नकारात्मकता को कोई स्वीकार नहीं कर सकता। चूँकि इस सम्बन्ध को सकारात्मक रूप से अनुभव करने का सौभाग्य उन्हें नहीं मिला है, मात्र इसी कारण से उनके द्वारा इसे पूर्णरूपेण अस्वीकृत करने का कोई औचित्य नहीं है। यह बात तब और अधिक सत्य मालूम पड़ती है जब गुरु की अवधारणा की आलोचना करने वाले लोगों के जीवन और इतिहास का अध्ययन किया जाए।

अपनी मानसिक असुरक्षाओं एवं सीमाओं के वशीभूत होकर अन्य लोगों को पथभ्रष्ट करना एक बड़ी गलती है। यदि किसी गुरु से अपने सम्बन्धों के बारे में आपकी प्रतिक्रियाएँ नकारात्मक हैं, तो आप उस गुरु की निन्दा कर सकते हैं तथा उसके प्रभाव को अपने जीवन से बाहर निकाल सकते हैं। किन्तु आप अपने मात्र इस एक अनुभव को सभी गुरुओं की सामान्य निन्दा का आधार नहीं बना सकते। आपकी अवस्था उस व्यक्ति के समान है जिसका

वैवाहिक सम्बन्ध असफल हो गया है। ऐसी स्थिति में वह लोगों से कहता है कि सभी स्त्रियाँ बुरी हैं तथा वैवाहिक सम्बन्ध व्यर्थ हैं। क्या उसका ऐसा कहना या करना उचित है? क्या कोई समझदार व्यक्ति उसकी बातों को सार्वभौम सत्य के रूप में स्वीकार करेगा? यदि वह व्यक्ति लोगों को यह समझाने में सफल हो जाए कि सभी स्त्रियाँ बुरी हैं तथा विवाह एक दुर्घटना है तो मानव जाति के विकास के मार्ग में जबरदस्त बाधा उपस्थित हो जाएगी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जो लोग गुरु की निन्दा करते हैं तथा घोषणा करते हैं कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध मानसिक विकास में सहायक नहीं है, वे ही एक समय आने पर स्वयं गुरुपद प्राप्त करना चाहते हैं। वे यह दावा करते हैं कि उन्हें आत्मबोध प्राप्त है तथा वे अपने ज्ञान का संप्रेषण कर सकते हैं। ऐसा व्यक्ति जो शिष्यत्व की शर्तों की पूर्ति न कर सका हो, गुरु कैसे हो सकता है?

गुरु बनने हेतु एक व्यक्ति के लिये उत्तम शिष्य बनना अनिवार्य है। उसे उन कठिनाइयों, दु:ख, अनादर, आघातों तथा सत्य-परीक्षाओं से गुजरना ही पड़ेगा, जिनका सामना एक शिष्य को करना पड़ता है। उसे अपने अहंकार का उन्मूलन करना ही होगा तथा घास के एक तिनके के समान विनम्र बनना होगा, जो कि हवा के साथ हिलता-डुलता रहता है। तभी वह गुरु के रूप में प्रस्फुटित हो सकता है, अन्यथा नहीं। भूतकाल में तथा हाल के वर्षों में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि शिष्य का अनुशासित जीवन बिताए बिना शीघ्रता में गुरुपद प्राप्त करने वाले लोगों को खतरों का शिकार होना पड़ा। यह अनुशासन केवल वैसे सन्तों के लिये आवश्यक नहीं है जिन्हें जन्म से ही आत्मबोध प्राप्त होता है।

गुरु मार्गदर्शक प्रकाश है। वह भौतिक शरीरधारी हो सकता है, किन्तु उसकी आत्मा उच्च, अज्ञात जगत् में विचरती रहती है। वह अपनी नहीं, हमारी आवश्यकताओं हेतु धरती से जुड़ा रहता है। उसका प्रयोजन स्वार्थरहित है, उसकी इच्छाएँ समाप्त हो चुकी हैं; उसका कोई लक्ष्य या आकांक्षा नहीं है। यद्यपि देखने वाले को ऐसा लग सकता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है उसमें पूर्णत: लिप्त एवं डूबा हुआ है, किन्तु उसके लिये सब माया है। उसमें एक विशेष योग्यता होती है कि वह प्रत्येक कार्य का एक अंग होता है और साथ ही उससे बाहर रहकर उसका साक्षी होता है। वह किसी भी समय अपने को उससे बाहर खींच ले सकता है।

गुरु आपके जीवन की पूर्णता है। वह पवित्रता, शान्ति, प्रेम और ज्ञान की साक्षात् मूर्ति होता है। गुरु ही आपके अन्त:करण के इन गुणों को प्रकट करने का उत्तरदायित्व का वहन करते हैं। जब आप अपने व्यक्तित्व की इन विशेषताओं को विकसित करना चाहते हैं तभी आपको गुरु की आवश्यकता होती है। आपके द्वारा स्थापित जीवन के अन्य सभी सम्बन्ध आपको इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रेरित या निर्देशित नहीं कर सकते। एक बच्चे की निष्कपटता और पवित्रता आपको प्रेमी, दयालु और सौम्य बनने हेतु प्रेरित करती है। इसी प्रकार गुरु, अपने लक्ष्य की पवित्रता द्वारा, आपको अपने आन्तरिक विकास की ओर अभिमुख करता है।

इसके अतिरिक्त आप में से कुछ लोग अपनी अन्तरात्मा को जानने की आकांक्षा नहीं भी रख सकते हैं। यह हो सकता है कि जीवन के अनुभवों ने आपको गहराई से प्रभावित न किया हो। अत: आप बाह्य जगत् में ही सुख की खोज जारी रखना चाहते हैं। ऐसा होने पर भी गुरु आपके जीवन का एक आवश्यक अंग है।

आप यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि कभी-कभी जीवन की परिस्थितियों तथा क्षमता के अभाव के कारण आपको कष्ट भोगना पड़ा है। आप अपार धन के स्वामी हो सकते हैं, किन्तु दुर्बल स्वास्थ्य के कारण उसका उपभोग नहीं कर पाते। आपके अनेक बच्चे हैं, किन्तु वे नशीली दवाओं, उन्माद तथा विखण्डित मानसिकता के शिकार हैं। आपका व्यवसाय अच्छा है, परन्तु उससे आपको अपने इच्छानुसार मानसिक सन्तोष नहीं मिल रहा है। यह भी हो सकता है कि आपका कोई स्थायी पेशा नहीं है। कभी-कभी किसी बुरा चाहने वाले के अशुभ एवं नकारात्मक प्रभावों के कारण आपका परिवार संकट में पड़ जाता है। आप किसी भी दृष्टि से विचार करें, आपको लगता है कि आप जीवन की बाजी हार चुके हैं।

इन कठिनाइयों से बच निकलने के लिये आपने प्रत्येक उपाय का प्रयोग किया है, किन्तु आपके सारे प्रयास व्यर्थ गये हैं। आप चिकित्सकों तथा मनोचिकित्सकों की शरण में गये हैं तथा अपनी तरफ से भी सभी प्रयास कर हार चुके हैं। किन्तु यदि आपकी समझ में यह आ जाए कि गुरु-सम्पर्क इन सांसारिक क्लेशों का सरलतम उपचार है तो आप अनेक कष्टों से अपने को बचा पायेंगे। भारत में लोग गुरु की शरण में केवल आध्यात्मिक ज्ञान के लिये नहीं जाते हैं। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि गुरु जीवन की समग्र कठिनाइयों

में उनकी सहायता कर सकते हैं। अत: वे उनसे ठोस एवं स्थायी सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

गुरु आपकी व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के निदान हेतु सदैव प्रस्तुत रहते हैं। वे आपकी बीमारी की चिकित्सा कर सकते हैं। यदि आपका परिवार अनिष्टकारी तत्त्वों की छाया से ग्रस्त है तो उनके सकारात्मक प्रभाव से उसका निराकरण हो सकता है। आपके बच्चे आपकी सलाह की अवहेलना कर सकते हैं, किन्तु वे गुरु की सलाह को अवश्य मानेंगे। यदि आपका व्यवसाय संकट में है तो तत्सम्बन्धी आसन्न खतरों के बारे में आप उनसे सलाह कर सकते हैं।

गुरु का अस्तित्व इन्द्रियज्ञान के क्षेत्र में नहीं होता है। उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और उनका यह ज्ञान स्थान और काल की सीमाओं से परे होता है। उन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि की शक्ति विकसित कर ली है, अत: वे आपके भूत, वर्तमान और भविष्य को जान सकते हैं। ईश्वरीय शक्ति उनके माध्यम से कार्य करती है। यही कारण है कि उनके सत्संग या सम्पर्क का परिणाम हमेशा शुभ होता है।

उनकी सलाह सही और निर्णय ठोस होते हैं। आप पर आने वाले संकटों को वे अच्छी तरह जानते हैं; यदि आप उनसे सलाह लें तो समय से बहुत पूर्व ही वे आपको चेतावनी दे सकते हैं। किन्तु उन्हें समझने के लिये आपको उनके शब्दों के प्रति ग्रहणशील होना होगा। आप उनसे ठोस एवं स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास अवश्य करें। ऐसा होने पर जब भी आपको उनकी आवश्यकता होगी, आपको उनकी सुरक्षा और मार्गदर्शन तत्क्षण प्राप्त होंगे।

जीवन में आपकी कोई भी भूमिका हो–आप धनी हैं या गरीब, सुखी हैं या दु:खी, स्वस्थ हैं या अस्वस्थ, आपकी चेतना विकसित है या अविकसित–आपकी शिक्षा के लिये गुरु के पास कुछ-न-कुछ अवश्य है। उनके पास सभी लोगों के लिये एक-न-एक सन्देश है। जिस व्यक्ति ने कभी कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया है वह भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसके जीवन में भी असन्तोष, निराशा और रिक्तता की अनुभूति के क्षण नहीं आए हैं। गुरु आपके जीवन की इस रिक्तता की पूर्ति करते हैं।

गुरु कैसे प्राप्त करें?

इस दिशा मे प्रयास करने के पूर्व ही आपको अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिए कि आप किन उद्देश्यों से गुरु की खोज हेतु अभिप्रेरित होते हैं। आप उनसे अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा रखते हैं। आपकी खोज के अभिप्रेरक तत्त्व क्या हैं? क्या आप अन्तरात्मा की जागृति की भावना से प्रेरित हैं? क्या आप अपने वर्तमान जीवन की प्रतिकृति में सिर्फ एक ज्ञानी व्यक्ति के ज्ञान, उपस्थिति या परोपकारिता के भावों को शामिल करना चाहते हैं। क्या आप शारीरिक या मानसिक रोग, बेरोजगारी अथवा आर्थिक समस्याओं से उत्पन्न गहरी निराशाओं से मुक्ति पाने हेतु गुरु की खोज कर रहे हैं?

यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि आप किस प्रयोजन से गुरु की खोज करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में पर्याप्त आत्मचिन्तन होना चाहिये। आप सदैव यह याद रखें कि जैसी आवश्यकता होगी वैसे ही गुरु आपको मिलेंगे। यदि आप के लिये गुरु की आवश्यकता वास्तविक होगी तो आपकी खोज के परिणामस्वरूप सही व्यक्ति अवश्य मिल जाएँगे।

उदाहरण के लिये, आप आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम लक्ष्य के अनुभव की इच्छा कर सकते हैं तथा मन और बुद्धिजनित विभ्रम के कारण ऐसा सोच सकते हैं कि आप इस हेतु तैयार हैं। किन्तु वास्तव में, आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से, आप निम्नतम स्तर पर स्थित हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में आप उच्चतम स्तर से ही यात्रा कैसे प्रारम्भ कर सकते हैं? मान लिया कि किसी दिन उन्माद में आकर आप तंत्रिका शल्यचिकित्सक बनने का निश्चय कर बैठते हैं, ऐसी स्थिति में क्या यह व्यावहारिक होगा कि आप उस विषय के एक महान् विशेषज्ञ के पास जाकर उनसे निवेदन करें कि वे तत्क्षण आपको

शल्यचिकित्सा का प्रशिक्षण देने लगें। वे कदापि ऐसा नहीं करेंगे। वे आपको सर्वप्रथम आधारभूत शरीर-रचना विज्ञान सीखने की सलाह देंगे।

आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिये ऐसी घटना एक सामान्य बात है। कभी-कभी हम अति उत्साहित हो जाते हैं तथा गुरु खोजने एवं ज्ञानोदय प्राप्त करने हेतु शीघ्रता से हिमालय, ऋषिकेश या अन्य स्थानों की ओर प्रयाण का निर्णय ले लेते हैं। परिणामस्वरूप हम अनेक दुर्घटनाओं को भोगकर तथा बुरी तरह निराश होकर वापस लौटते हैं। अत: अपनी व्यक्तिगत विकास यात्रा में गलतियों, दुर्घटनाओं एवं पश्चात्तापों से बचने के लिये आपको शनै:-शनै: क्रमबद्ध रूप से अपनी दिशा तथा आवश्यकताओं का निर्धारण करना होगा।

हो सकता है कि थोड़े समय के लिये आप दु:ख एवं कठिनाइयों से गुजर रहे हों। जब हम कठिन दबावों के प्रभाव में होते हैं, तो प्राय: हमारे अन्दर कुछ जग उठता है और हम जीवन को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। संसार के प्रति हम एक निस्पृह, तटस्थ, भाव का अनुभव करते हैं। हमें प्रत्येक वस्तु में क्षणभंगुरता का अनुभव होने लगता है। अत: हम उन सभी वस्तुओं के प्रति उदासीन रहने लगते हैं जिनके लिये कभी हममें तीव्र ललक हुआ करती थी। ऐसे विचारों के प्रभाव में आकर हम गुरु खोज सकते हैं एवं संन्यास भी ले सकते हैं। किन्तु अपने क्षणिक मानसिक सदमे से उबरते ही हम पाते हैं कि हमारी इच्छाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ एवं वासनाएँ त्वरित गति से वापस आ रही हैं। तब हम अनुभव करते हैं कि यदि हम अपनी आवश्यकताओं का ठीक से विश्लेषण करते, तो गुरु की खोज की हमारी दिशा उपर्युक्त लक्ष्यों से निर्धारित होती, अन्य से नहीं।

भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता से सम्बन्धित विचार वैसे साधकों के मन में भी उठते हैं जो वास्तव में अपनी इच्छाओं का त्यागकर गुरु के निकट रहना चाहते हैं। परन्तु ये विचार किसी विशेष समय की परिस्थितियों के परिणाम नहीं होते, बल्कि ये तो जीवन के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के प्रति उनकी गहन समझदारी से उत्पन्न होते हैं। एक बार निर्णय ले लेने के बाद कठिनाइयों का सामना होने पर पीछे मुड़ने या भटकने का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा।

अत: प्रारम्भ में ही आप अच्छी तरह यह समझ लें कि गुरु में आप क्या खोज रहे हैं। इस बात को समझने के लिए पूर्ण सावधानी से काम लेना अति आवश्यक है। गुरु के निर्धारण में आपके प्रयोजन तथा सजगता के

स्तर की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण होती है। प्राथमिक पाठशाला का एक शिशु एक विश्वविद्यालय प्राचार्य से सम्बद्ध होने की आशा कदापि नहीं कर सकता। उसे एक ऐसा शिक्षक प्राप्त करना ही होगा जो उसकी अपनी सजगता के स्तर से सम्बन्ध स्थापित कर सके। एक आध्यात्मिक शिष्य के लिए भी यही बात सत्य है।

अत: गुरु की खोज करने वाले शिष्य के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह अपने को शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक दृष्टि से तैयार करे। इस हेतु सर्वोत्तम उपाय यह है कि आप आध्यात्मिक विषयों पर होने वाले सत्संग, प्रवचन, व्याख्यान एवं वार्तालाप में अधिकाधिक भाग लें। आप ऐसे महान् ज्ञानी पुरुषों की खोज में अवश्य रहें जो धर्मग्रंथों द्वारा उद्घाटित जीवन के रहस्यों तथा मौलिक सत्यों की व्याख्या कर सके। आपको आत्मपरीक्षण एवं स्वयं से सकारात्मक प्रश्न करने हेतु प्रेरित कर सकें।

बुद्धिमान् एवं ज्ञानीजनों से सत्संग के इस अभ्यास को आप अपने दैनिक जीवन का एक अंग बना सकते हैं। जब भी अवसर मिले, आप ऐसे लोगों के सामीप्य के लाभ से न चूकें। सत्संग का शाब्दिक अर्थ है, 'सत्य से संगति।' आपके आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ में सहायक होने वाले साधनों में यह सरलतम एवं सर्वाधिक प्रभावशाली है। यह एक सर्वविदित बात है कि जब भी हम सकारात्मक प्रभावों के सम्पर्क में आते हैं, हम उसी दिशा में अपना विकास करने हेतु अभिप्रेरित होते हैं।

सत्संग में शामिल होने के साथ-साथ आपको कुछ व्यक्तिगत साधना या यौगिक अभ्यास नियमित रूप से करना चाहिए। कुछ समय के बाद आप पायेंगे कि आपकी समझदारी अधिक स्पष्ट एवं आपका निर्णय अधिक सही है। अपनी सीमाओं, सामर्थ्यों एवं कमजोरियों के बारे में आपकी समझदारी बेहतर होगी। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह होगी कि आपके सामने आपका लक्ष्य या उद्देश्य स्पष्ट होने लगेगा। इसमें कुछ समय लग सकता है। आप प्रतीक्षा करें। इस सन्दर्भ में आपकी सफलता अपने अभ्यास के प्रति लगन तथा नियमितता पर निर्भर करेगी। आपकी समझदारी और अन्तर्दृष्टि धीरे-धीरे सशक्त होगी और अन्त में, समय आने पर, आप अपने गुरु को पहचानने में समर्थ हो जायेंगे।

एक बात पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। वह यह है कि सीमित सजगता के साथ गुरु का चयन नहीं किया जाना चाहिये। जब तक आपकी सजगता आशंकाओं, दु:खों, चिन्ताओं तथा सन्देहों से मुक्त न हो जाए

तब तक गुरु का वरण करने में विलम्ब ही श्रेयस्कर है। इनके कारण निर्णय लेने में निश्चित रूप से गलती होगी। अनेक बार आप ऐसे लोगों से मिलते हैं जिन्हें सिद्धियाँ या अत्यधिक शक्ति प्राप्त रहती है। वे आपको क्षणिक अनुभव प्रदान करने की क्षमता रखते हैं। ऐसी स्थिति में आप अपनी भ्रान्ति एवं भावनाओं के वशीभूत होकर विचलित हो जाते हैं। ऐसे लोगों के साथ आप गहरा लगाव भी अनुभव कर सकते हैं। किन्तु वे निश्चित रूप से वैसे गुरु नहीं हैं, जिनकी आप खोज कर रहे हैं।

आप ऐसे लोगों को उनके असली रूप में देखने का प्रयास अवश्य कीजिए। अपना वास्तविक गुरु पाने के पूर्व आपको ऐसे अनेक अनुभवों से गुजरना पड़ सकता है। आपको ऐसे अनुभवों के सकारात्मक प्रभावों को ग्रहण करना चाहिए। लेकिन आप वास्तविक रूप से तब तक प्रतिबद्ध न हों जब तक कि आप पूर्णत: आश्वस्त न हो जाएँ। व्यक्ति इस सम्बन्ध में तभी नि:संशय और तैयार हो सकता है जब उसकी समझदारी शुद्ध और बहुत हद तक स्पष्ट हो जाए।

गुरु प्राप्त करने हेतु उन्मत्त होने या स्नायविक विकार से ग्रस्त होने का कोई कारण नहीं है। आप सत्संग और साधना द्वारा अपने को तैयार कीजिए। अनेक योग शिक्षक आपको अपने घर पर अभ्यास करने योग्य यौगिक क्रियाओं के बारे में सलाह दे सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी लोगों के सत्संग में भाग लेने के भी पर्याप्त अवसर मिलते हैं। आप किसी गुरु के पास सिर्फ मन्त्र के लिये या अपने आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन में समय-समय पर आने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में सलाह लेने हेतु जा सकते हैं। ज्योंही आपकी सजगता बढ़ेगी और समझदारी गहरी होगी, आपको अपना मार्ग और गुरु अनायास ही मिल जाएगा।

जिस प्रकार एक शिष्य के लिये विकास के अनेक स्तर होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न गुरु भी विकास के विभिन्न स्तरों पर होते हैं। ज्ञानी गुरु धर्मशास्त्रों एवं आध्यात्मिक जनश्रुतियों में निष्णात होते हैं। योगी गुरु सभी प्रकार के योगाभ्यासों में दक्ष होते हैं तथा पूर्ण कुशलता से उनकी शिक्षा दे सकते हैं। तान्त्रिक गुरु उन तरीकों में निपुण होते हैं, जिससे वे आर्थिक या अन्य कठिनाइयों का उन्मूलन कर सकते हैं।

तथापि यदि आप उच्चतम अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, वास्तव में इसकी कामना करते हैं और इस हेतु सर्वस्व त्यागने के लिये तैयार हैं, तो आप निश्चित रूप से एक ब्रह्मनिष्ठ गुरु की खोज करें। ब्रह्मनिष्ठ गुरु सदैव

ब्रह्म या अन्तिम सत्य में लीन रहते हैं। ऐसे गुरु दुर्लभ होते हैं। यदि आपको कोई ऐसे गुरु मिल जाएँ, और आप उनकी विशेषताओं को पहचानने में सफल हो जाएँ, तो आपको समझना चाहिये कि आप बहुत भाग्यवान् हैं। ऐसा हो सकता है कि आप ऐसे लोगों से कई बार मिल चुके हों, किन्तु अपनी बुद्धि एवं विभेदन क्षमता के सन्देह एवं दम्भ द्वारा आच्छादित होने के कारण आप उन्हें न पहचान सकें। वे अपनी पीठ पर कोई विज्ञापन लगाकर नहीं चलते कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ, मेरा अनुकरण करो। एक सच्चे ब्रह्मनिष्ठ गुरु सभी प्रकार के आडम्बरों से बचते हुए सम्भवत: सरलतम जीवन बिताते हैं।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह यह कि गुरु मूलत: दो प्रकार के होते हैं–एक को परम तत्त्व का ज्ञान होता है और दूसरे को उसका ज्ञान और अनुभूति, दोनों होती है। आपको कैसे गुरु की आवश्यकता है इसका निर्णय आपको स्वयं करना है। यदि आपको सिर्फ ज्ञान चाहिये तो आप एक ज्ञानी गुरु की खोज करें। किन्तु यदि आप अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको एक ब्रह्मनिष्ठ या तान्त्रिक गुरु की शरण में जाना होगा।

प्राय: हम पाते हैं कि अपने विकास के स्तर या अपनी सही आवश्यकताओं का निर्धारण करना शिष्य की क्षमता के बाहर की बात होती है। किन्तु ऐसा होने पर भी उसके मन में एक गुरु प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है। ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम उपाय यह है कि वह एक ज्ञान-सम्पन्न गुरु के पास जाए। वे आपके विकास के स्तर को समझने तथा आपके आवश्यकतानुसार आपका मार्गदर्शन करने में सक्षम होंगे। किन्तु यदि आप उनमें विश्वास करते हैं, तो आप सदैव याद रखें कि उनका आदेश-निर्देश आपके लिये अन्तिम तथ्य है। वे आपको संन्यास लेकर आश्रम में रहने की आज्ञा दे सकते हैं, या आपकी साधना से सम्बन्धित निर्देश देकर घर वापस भेज सकते हैं। आश्रम में आपको बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य दिया जा सकता है, या सिर्फ यह कहा जा सकता है कि पाकशाला में दिन-रात सब्जी काटिये। इनमें से किसी भी कार्य से शिष्य के मार्ग में न तो अवरोध होना चाहिये और न उसके अहंकार में ही वृद्धि होनी चाहिये। केवल गुरु जानते हैं कि उसे कोई विशेष कार्य क्यों दिया गया है। कुछ दिनों के बाद शिष्य को पता चलेगा कि गुरु उसकी गहरी प्रकृति को, अन्य किसी व्यक्ति की तुलना में बेहतर ढंग से समझ सके हैं।

प्राय: अपने पूर्व जीवन में शिष्य एक गुरु के साथ रह चुका होता है, किन्तु वर्तमान जीवन में उसे गुरु से किसी सम्पर्क के बिना कुछ अनुभवों से गुजरना

होता है। एक बार इन अनुभवों से गुजरने के बाद गुरु के प्रति उसकी उत्कण्ठा बढ़ने लगती है। यह स्थिति कुछ हद तक भूख से रोते हुए बच्चे के समान है। माँ उसका रोना सुनती है, किन्तु वह जानती है कि उसे दूध पिलाने का यह उचित समय नहीं है। इसी प्रकार आपके जीवन में गुरु के अभ्युदय का भी एक सही निश्चित समय होता है। वह मुहूर्त्त आते ही आपको गुरु मिल जायेंगे।

ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब गुरु शिष्य की स्वप्नावस्था या ध्यानावस्था में प्रकट होते हैं। तब शिष्य उस व्यक्ति की खोज करता है जिसे उसने इस अवस्था में देखा है। श्री अरविन्द की प्रमुख शिष्या 'माँ' को गुरु का दर्शन स्वप्न में ही हुआ। उन्होंने देखा कि महर्षि उन्हें अपनी ओर आने के लिये इशारा कर रहे हैं। बाद में वे अरविन्द आन्दोलन का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग बन गईं।

कभी-कभी गुरु को भी किसी विशेष शिष्य को खोजने या प्राप्त करने का आदेश मिलता है, किन्तु ऐसा मुख्यत: विकसित चेतनायुक्त शिष्यों के सम्बन्ध में ही होता है जिन्हें किसी महान् लक्ष्य की पूर्ति करनी होती है।

हम सभी रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द की कहानी तो जानते ही हैं। रामकृष्ण अपने शिष्य की खोज में थे। जब वे कलकत्ता के एक कुलीन युवक नरेन्द्रनाथ से मिले तो तत्क्षण समझ गए कि वे ही उनके महान् लक्ष्यों को पूरा करेंगे। नरेन्द्रनाथ ही आगे चलकर विवेकानन्द हुए। उन दिनों विवेकानन्द पूर्णत: बुद्धिवादी थे। वे रामकृष्ण की अनेक बातों तथा क्रिया-कलापों से सहमत नहीं होते थे। उनके विचार तथा प्रतिक्रियाएँ उनकी बुद्धिवादिता से प्रभावित थी। इसके बावजूद उनका हृदय सम्मोहित होकर रामकृष्ण की तरफ खिंचा चला जाता था। युवक नरेन्द्रनाथ इस रहस्य को नहीं समझ पाते थे; अत: उन्हें अत्यधिक मानसिक द्वन्द्व से गुजरना पड़ता था। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ ऐसा रूप लेती गयीं कि अन्त में विवेकानन्द को अपने आपको गुरु को समर्पित करना पड़ा। बाद की कहानी तो एक इतिहास बन गयी।

हमें स्वीकार करना होगा कि ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का निर्धारण उच्चतर शक्तियों द्वारा होता है। उचित समय आने पर ये घटनाएँ अपने आप एक निश्चित स्वरूप लेने लगती हैं। आप स्वत: अपने गुरु के पास पहुँच जाते हैं। आप जैसे ही उन्हें देखते हैं, आपका हृदय, आपकी आत्मा उनसे जा मिलती है। उस समय आपके सारे संदेह निर्मूल हो जाते हैं। दो हृदयों के मिल जाने के उपरान्त सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। जब हम बुद्धि के क्षेत्र में रहते हैं तभी प्रश्नों, सन्देहों एवं विभिन्न प्रकार के भय से परेशान होते हैं।

मैंने भी अपने जीवन में गुरु की खोज की है। मैं भी ऐसे प्रश्न किया करती थी। मैं सोचा करती थी कि क्या वे मुझे मिलेंगे, क्या मैं उन्हें पहचान पाऊँगी? चूँकि मेरी खोज बुद्धि पर आधारित थी, अत: मैं भी ऐसे प्रश्नों से परेशान रहती थी। अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मैं कह सकती हूँ कि ऐसे सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है–प्रश्न करना ही बन्द कर दीजिए। अपने अन्दर झाँकिए, अपने अभ्यासों को तीव्र कीजिए, बढ़ाइए। लगनशील साधक बनिए। ऐसा होने पर संसार की कोई भी शक्ति आपको अपने गुरु से अलग नहीं रख सकेगी।

अन्त में हम कह सकते हैं कि गुरु प्राप्त करने की कोई निश्चित पद्धति नहीं होती, वह कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिसे हम आधुनिक सुपर बाजार में खरीद सकें। गुरु की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। वे हमारे द्वारा प्रयुक्त सीमित, परम्परागत शब्दों की सीमाओं से परे होते हैं। हमें तो उनकी आत्मा से संचार स्थापित करना है। ऐसा संचार शब्दों, इन्द्रियों या बुद्धि पर आधारित नहीं होता। अत: सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को तैयार करें और कुछ समय बाद, जब गुरु मिलेंगे, हम उन्हें पहचान लेंगे।

शाश्वत संयोग

गुरु एक सामाजिक आवश्यकता नहीं हैं। वे एक मोटर कार या देहाती घर के समान प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं होते जिसे एक श्रेष्ठतर विकल्प प्राप्त होते ही त्याग दिया जाय। वे एक कूड़ा-दानी या रद्दी की टोकरी भी नहीं होते, जिसमें समस्त नकारात्मकताएँ या स्नायविक विकार डाल दिये जायें। वे शुद्ध देदीप्यमान अन्तरात्मा हैं, जो अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हैं। वे एक ऐसा प्रतीक हैं, जैसा बनने की आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिये। उनका क्षेत्र अन्तरात्मा है, और इस क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन करने हेतु ही हमारे जीवन में उनका अवतरण होता है। एक बार गुरु से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर काल इसे बदल नहीं सकता और न मृत्यु ही इसे मिटा सकती है। यह एक शाश्वत एकत्व या संयोग है। गुरु जन्म-जन्मातर तक आपके साथ रहते हैं।

गुरु को कैसे पहचाने?

यदि गुरु के भौतिक स्वरूप के सम्बन्ध में आपकी कोई पूर्वकल्पित धारणा है तो अच्छा यह होगा कि आप तत्काल उसका त्याग कर दें। दैहिक रूप के आधार पर व्यक्ति अपने पति, प्रेमी या मित्र का चयन कर सकता है, किन्तु गुरु के साथ तो उसे आध्यात्मिक तरंगों के आधार पर ही संचार स्थापित करना होगा, उनके बाह्य रूप के आधार पर नहीं।

गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध दैहिक या भौतिक अन्त:क्रियाओं पर आधारित नहीं है। ऐसा कोई भी विचार सर्वथा त्याज्य है। गुरु का कार्य हमारी इन्द्रियों को उत्तेजित करना या वासनाओं को तुष्ट करना नहीं हैं। ये कार्य तो सांसारिक अन्त:क्रियाओं द्वारा होते हैं। शिष्य से गुरु का सम्बन्ध आध्यात्मिक, मानसिक एवं सूक्ष्म स्तरों पर आधारित है। अत: व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से ही निर्णय करना चाहिये; शारीरिक स्वरूप देखकर नहीं। गुरु का बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक हो सकता है और नहीं भी हो सकता; किन्तु यह बात बिल्कुल महत्त्वहीन है। संसार में आकर्षक लोगों की कमी नहीं है; परन्तु उनमें से ऐसे कितने हैं जिन्होंने शान्ति प्राप्त की है तथा अपनी आत्मा को प्रकाशित किया है?

आध्यात्मिक मार्ग पर आपकी सहायता करने वाले गुरु की चेतना निश्चित रूप से विकसित होनी चाहिये। यदि गुरु की सजगता आपकी सजगता के समान ही सीमित है तो वे भी आपकी तरह ही कठिनाइयों, इच्छाओं, वासनाओं, लोभ और भ्रम को अभिव्यक्त करेंगे। उनका उद्देश्य दूषित होगा और उनकी सलाह अविश्वस्त। अत: आपको गुरु रूप में किन्हीं ऐसे व्यक्ति को स्वीकार करना है जिनकी चेतना आपकी चेतना से उच्चतर हो।

गुरु की चेतना के स्तर का निर्णय आप कैसे कर सकते हैं? यह बिल्कुल सरल समस्या है, विकसित चेतनायुक्त गुरु की वाणी और व्यवहार में

विरोधाभास नहीं होता है। उनके विचार, वाणी और कर्मों में समरूपता होती हैं। उनका जीवन पाखण्ड और कपट से मुक्त होता है। यदि वे इस मानदण्ड पर खरे नहीं उतरते हैं तो अच्छा होगा कि आप उनसे अपने को अलग कर लें। महान् लोगों की वाणी और व्यवहार में समरूपता होनी ही चाहिये। ऐसे गुरु के प्रति आपके मन में आदर का भाव नहीं हो सकता जो अपने तथा दूसरों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के नियमों को मानते हैं।

ऐसे गुरु का व्यक्तित्व कदापि दृढ़ नहीं हो सकता जिनका दर्शन सुविधावादी और जीवन दोहरा हो तथा जिनका सार्वजनिक स्वरूप कुछ और एवं पर्दे के पीछे का स्वरूप कुछ और है। यदि उनकी चेतना जाग्रत एवं सत्य में स्थित होगी तो वह उनके व्यक्तित्व में भी गहराई से परिलक्षित होगी। उनमें अनिश्चित व्यवहार तथा चंचलता का पूर्ण अभाव होगा तथा निरन्तर स्थायित्व की स्थिति बनी रहेगी।

ऐसे गुरु की ओर लोग स्वत: खिंच जाते हैं। आप उनके व्यक्तित्व से पूर्णरूपेण आकर्षित हो जायेंगे, सम्मोहित नहीं। आपको प्रेमोन्माद में अन्धा कर या मूर्ख बना कर सम्मोहित किया जाता है। उन्माद का प्रभाव हटते ही सम्मोहन समाप्त हो जाता है, किन्तु सकारात्मक आकर्षण का प्रभाव गहरा और स्थायी होता है। जिस प्रकार मधु में निहित माधुर्य मधुमक्खियों को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार गुरु का चुम्बकीय व्यक्तित्व भी लोगों को निश्चित रूप से आकृष्ट करता है।

ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति में साधक के पास आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता। हम ज्योंही ऐसे व्यक्ति के निकट जाते हैं, एक गहरा, स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह प्रथम दृष्टि में प्रेम जैसी बात है। एक बार आकर्षित होते ही शिष्य अपने अन्दर परिवर्तन अनुभव करने लगता है। यदि आपने किसी व्यक्ति की उपस्थिति में ऐसा अनुभव किया है, तो समझ लीजिए कि वे ही आपके गुरु हैं। आपने जिन्हें गुरु माना है, वे यदि ख्याति प्राप्त विद्वान् एवं बड़ी संस्थाओं के संस्थापक हैं, किन्तु आपकी आत्मा को झकझोरने में असफल हैं, तो आप इस सम्बन्ध में फिर से सोचिये। त्रुटियाँ आपके अन्दर हो सकती हैं, तथापि आपको पुनर्विचार करना ही चाहिये।

ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो गुरु होने का ढोंग रचते हैं। किसी अच्छे व्यवसाय से लाभ उठाना सामान्य मानवीय स्वभाव है। अत: कुछ महत्त्वाकांक्षी

लोगों ने गुरुपद से भी लाभ उठाने की निर्लज्जता की है। धोखेबाज गुरु और ढोंगी पैगम्बरों की कमी नहीं है। अत: जिज्ञासुओं को पूर्ण सतर्क रहना चाहिए ताकि वे ऐसे लोगों के शिकार न हो जाएँ। विशेषकर पश्चिमी जगत् गुरु-शिष्य सम्बन्धों की परम्परा की पवित्रता से अनभिज्ञ रहा है। परिणामस्वरूप वहाँ के लोग प्राय: ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित हो जाते हैं जो सिद्धियों का प्रदर्शन करके विकसित चेतनायुक्त होने का दावा करते हैं। सिद्धियों के प्रयोग द्वारा लोगों को सम्मोहित करने वाला व्यक्ति अपनी निम्नतर एवं सांसारिक सजगता का अतिक्रमण नहीं कर सकता। ऐसे लोग सिर्फ एक प्रदर्शन कर रहे हैं। उनकी तुलना ऐसे जादूगर से की जा सकती है जो बड़े जनसमूहों को अपनी हरकतों से सम्मोहित करता है। प्रत्येक व्यक्ति तमाशे का खूब आनन्द लेता है, किन्तु इसके समाप्त होने के बाद उसे लगता है कि उसने कुछ नहीं सीखा है। यदि कोई व्यक्ति ऐसे लोगों के चक्कर में पड़ जाता है तो वह अपने गुरु की खोज में निश्चित रूप से असफल होगा।

अनेक साधक गुरु का चयन उनके व्यवहार एवं व्यक्तित्व के आधार पर करते हैं। यदि वे सुन्दर और मृदुभाषी हैं, तो लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु यदि उनका व्यवहार रूखा, कठोर, अपमानजनक तथा भर्त्सनायुक्त होता है तो वे उन्हें अस्वीकार कर देते हैं।

आपको याद रखना चाहिये कि आप अपनी सीमाओं से ऊपर उठने के लिये गुरु की खोज कर रहे हैं। वे आप से भद्रता या दयालुतापूर्वक बोलें या आपकी डाँट-फटकार एवं भर्त्सना करें, इन सबके पीछे उनका उद्देश्य रहता है–शिष्य का उत्थान। अत: आप गुरु के बारे में निर्णय उनके व्यवहार को देखकर नहीं, बल्कि उनके उद्देश्य की शुद्धता को समझकर करें। यदि उनका प्रयोजन पवित्र है तो हमें शिक्षा देने के लिये वे किसी भी विधि का प्रयोग कर सकते हैं, हमें उस पर आपत्ति नहीं होनी चाहिये। जो गुरु अपने शिष्य के प्रति केवल मधुर शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा कभी उसकी भर्त्सना नहीं करते, वे सिर्फ उसे सन्तुष्ट कर सुला देते हैं, निष्क्रिय बना देते हैं और इस प्रकार उसके अहंकार को सुदृढ़ करते हैं।

एक बात हमेशा याद रखनी चाहिये– आपके गुरु आपकी उपलब्धि तथा विकास के स्तर के अनुकूल ही होंगे। गुरु के सम्बन्ध में मूल्यांकन करने तथा निर्णय लेने में व्यक्ति की अपनी योग्यता एवं व्यक्तित्व की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

एक लगनशील शिष्य को निष्कपट और सही गुरु अवश्य मिल जायेंगे। यदि उसे मानसिक शक्ति की इच्छा होगी तो वह सिद्धियों का प्रदर्शन करने वाले गुरुओं के पीछे दौड़ेगा। सम्पन्नता चाहने वाला शिष्य सम्पन्न गुरुओं के पास जाएगा। ज्ञानोदय की कामना करने वाले शिष्य को ज्ञानमय गुरु मिलेंगे। इस बात में तनिक भी संदेह नहीं हैं, इसलिये एक शिष्य को गुरु को जानने की कोशिश करने की अपेक्षा अपने आपको समझने का प्रयास करना चाहिये। अत: यदि कोई श्रेष्ठ गुरु प्राप्त करना चाहता है, तो उसे उत्तम साधक बनना ही पड़ेगा।

गुरु की सार्थकता

प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आधारभूत एवं अन्तर्निहित आवश्यकताएँ होती हैं। पाँच वर्ष के एक बच्चे के लिये माँ का प्यार आवश्यक है। बौद्धिक या कामुक उत्तेजना का उसके लिये कोई अर्थ नहीं होता। माता-पिता के प्यार की ऊष्णाता, कुछ खिलौने और सुरक्षित वातावरण उसकी प्रसन्नता के लिये पर्याप्त हैं। जब वह तरुण होता है, तब उसकी आवश्यकताएँ भी बदल जाती हैं। अब उसे माता-पिता का प्यार ही नहीं चाहिये, उसे मित्रों की आवश्यकता भी महसूस होने लगती है। यह मैत्री कामुकता पर आधारित नहीं होती। इसका सम्बन्ध एक साथी, एक दोस्त की आवश्यकता से है, जिसके साथ वह अपनी गोपनीयताओं तथा साहसिक कार्यों के बारे में विचारों का आदान-प्रदान कर सके।

जब वह और बड़ा होता है, तब उसकी कामवासना जग जाती है; इस इच्छा की पूर्ति हेतु उसे सहभागी की आवश्यकता होती है। इस अनुभव का अवसर न मिलने पर वह सनकी या पागल हो सकता है। परिपक्वता आने पर इन सम्बन्धों का महत्त्व घटने लगता है और पिता बनने का भाव प्रबल होने लगता है। तरुणाई में भी यह भाव मौजूद रहता है, किन्तु उस समय यह गौण अवस्था में रहता और परिपक्व होने पर स्पष्ट रूप से प्रकट होता है।

जन्म के साथ प्रारम्भ होने वाली यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यदि किसी बच्चे, तरुण या वयस्क को उसकी अन्तर्निहित आवश्यकताओं से वंचित किया जाए, तो उसके व्यक्तित्व में अवरोध तथा जटिलताएँ विकसित होने लगती हैं। आधुनिक युग में अपराध, बलात्कार, हत्या, पागलपन और बाल्य-अपराध जैसी समस्याओं के उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक वंचनाओं से गुजरना होता है।

ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति को बचपन में अपने माता-पिता से तिरस्कार एवं कठोर व्यवहार मिला हो, या वयस्क होने पर कामवासना की तृप्ति का अवसर न प्राप्त हुआ हो। ऐसी किसी भी घटना के परिणामस्वरूप उसके चरित्र में विकृति उत्पन्न हो सकती है। बचपन की अति साधारण घटना भी वयस्कता प्राप्त होने पर खण्डित मानसिकता या पागलपन का कारण हो सकती है। मनुष्य अपने जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों के प्रति अति संवेदनशील होता है। प्रत्येक घटना या परिस्थिति उसके मानस में संचित एवं पंजीकृत हो जाती है और उसका एक निश्चित कार्यक्रम बन जाता है। यह जानना बिल्कुल असम्भव है कि इस तरह का कोई विशेष अनुभव भविष्य में क्या रूप लेगा।

व्यक्ति के जन्म के साथ ही उसकी एक अन्य आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। यह आवश्यकता है एक गुरु की, एक आध्यात्मिक मित्र, परामर्शदाता या मार्गदर्शक की। हो सकता है कि आपने इस तथ्य का अनुभव न किया हो; किन्तु आपके बच्चे का जन्म एक निश्चित उद्देश्य से हुआ है; और उसका जीवन उसी ओर निर्देशित हो रहा है। हो सकता है कि वह अपने इस उद्देश्य से अनभिज्ञ हो तथा अपनी इस आवश्यकता को सुसंगत रूप से प्रकट करने में असक्षम हो, किन्तु वह अचेतन मन से उसी की खोज में लगा हुआ है।

अत: माता-पिता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने बच्चे को गुरु के सम्पर्क में लाएँ। ऐसा होने से उसके सकारात्मक संस्कार प्रकट होंगे तथा उसके सक्रिय जीवन का अभिन्न अंग बन जायेंगे। उत्तम संस्कारों के साथ उत्पन्न बच्चों के समुचित विकास के लिये भी अनुकूल वातावरण तथा सकारात्मक अभिप्रेरणाएँ आवश्यक होती हैं। इस प्रकार की सुविधाओं के अभाव में बच्चे के व्यक्तित्व के अच्छे संस्कार दब जायेंगे तथा नकारात्मक संस्कार प्रभावी होने लगेंगे। बच्चा मिश्रित संस्कारों को लेकर पैदा होता है। यह आपका कर्त्तव्य है कि आप अनुकूल वातावरण उपलब्ध करायें ताकि उसे अपने उत्तम संस्कारों को अभिव्यक्त करने का उचित अवसर मिल सके। गुरु के सम्पर्क में आने पर अच्छे संस्कारों से रहित बच्चे के जीवन में भी परिवर्तन आने लगेगा तथा जीवन की नकारात्मक शक्तियों पर विजय पाने में वह सफल होगा।

यदि किसी बच्चे को उसकी बाल्यावस्था के प्रारम्भिक दिनों से ही गुरु के सम्पर्क में लाया जाए तो उसके जीवन में कुछ विशिष्ट क्षेत्र विकसित होने लगते हैं। उसके विकास के मार्ग की सारी जटिलताएँ एवं अवरोध समाप्त हो

जाते हैं। वह अपनी सभी इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं तथा वासनाओं की पूर्ति करने में निश्चित रूप से सफल होता है।

अपने जीवन की अन्त:शक्ति को प्रकट करने हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि हम सभी प्रकार की सीमाओं से मुक्त हों। वातावरण तथा सम्बन्धों से उत्पन्न अवरोधों के अभाव में ही व्यक्ति की प्रतिभा तथा रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास संभव है।

हम लोग अपने जीवन में गुरु के महत्त्व को वास्तव में अब तक समझ नहीं सके हैं। हमारी यह सामान्य धारणा है कि उनके पास हम या तो मंत्र के लिये या संन्यासी बनने के लिये ही जा सकते हैं, किन्तु यदि हम जीवन की सामान्य घटनाओं में पूर्णत: लिप्त रहना चाहें तब भी हमारे जीवन में उनका एक प्रमुख स्थान है।

हमें यह समझना चाहिये कि गुरु हमारी एक धरोहर हैं। इस सम्बन्ध में इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि हम कहाँ और किस प्रकार रहते हैं। गुरु की आवश्यकता सिर्फ एक संन्यासी या साधक को ही नहीं होती। भारत में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति के एक पारिवारिक गुरु होते हैं। वे परिवार के एक अंग होते हैं, जिन्हें परामर्शदाता तथा मार्गदर्शक के रूप में देखा जाता है। व्यवसाय, विवाह, जन्म और मृत्यु जैसे सभी मामलों में उनसे सलाह ली जाती हैं। वे उन्हें सलाह देते हैं तथा संकट के समय उनकी सहायता हेतु प्रस्तुत रहते हैं। गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त करने वाले ये लोग साधु-संन्यासी नहीं, बल्कि सामान्य गृहस्थ होते हैं। किन्तु उनका एक संस्कार बन गया है जिससे वे पीढ़ी-दर पीढ़ी एक गुरु से सम्पर्क बनाये रहते हैं, उन्होंने अपने जीवन में गुरु को अति उपयोगी पाया है।

अनेक परिवारों में हम प्राय: पाते हैं कि बच्चे माता-पिता की बातों पर ध्यान नहीं देते, पति पत्नी का ख्याल नहीं रखता या पत्नी परिवार में तनाव उत्पन्न करती रहती है। घोर प्रयासों के बावजूद भी पारिवारिक द्वन्द्व का समाधान नहीं हो पाता, क्योंकि कोई भी एक-दूसरे की सलाह स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं है। लेकिन जब गुरु कुछ कहते हैं तो सभी उनकी बातें सुनने और मानने के लिये तैयार हो जाते हैं, क्योंकि उनकी सलाह के पीछे सिर्फ उनका प्रेम तथा कल्याणकारक भाव होता है, उनका कोई निहित स्वार्थ नहीं होता। पुन: अपने विवेक तथा प्रज्ञा से वे यह जान जाते हैं कि किसी समस्या का सर्वोत्तम समाधान क्या है।

मैं ऐसे अनेक युवकों को जानती हूँ जो मनमौजी ढंग से रहते हैं तथा ऐसी लड़कियों से विवाह करना चाहते हैं जो उनके माता-पिता को स्वीकार्य नहीं है। माता-पिता अपने पुत्र के मन को बदलने के लिये हर सम्भव चाल चलते हैं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती है। अन्त में वे गुरु की शरण में जाकर उनसे सहायता की प्रार्थना करते हैं। यदि गुरु समझते हैं कि युवक को इस सम्बन्ध में पुनर्विचार करना चाहिये तो वे उसे बुलाकर कहते हैं कि उक्त लड़की से विवाह करना श्रेयस्कर नहीं है। गुरु के एक शब्द से ही उसका हठ समाप्त हो जाता है तथा वह तुरंत उनकी बात स्वीकार कर लेता है। उसका ऐसा विश्वास है कि गुरु उसे गलत सलाह कदापि नहीं देंगे। यह गुरु के प्रति उसकी भक्ति तथा विश्वास का प्रतीक है। जिन्हें गुरु में विश्वास होता है, जो उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं तथा उनके कार्यों के सम्पादन हेतु सदैव प्रस्तुत रहते हैं, उनकी सहायता का उत्तरदायित्व गुरु स्वयं अपने ऊपर लेते हैं।

आज हमारे चारों तरफ अराजकता व्याप्त है। पिता पुत्र का विरोधी है, पुत्र माता-पिता से घृणा करता है। पुत्री अपने से बहुत अधिक उम्र वाले पुरुष के साथ भाग जाती है। पत्नी का अन्य पुरुषों के साथ गलत सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छाचारी हो गया है। उसके मन में परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति सम्मान का कोई भाव नहीं है। पारिवारिक एकता समाप्त हो रही है। परिवार के सदस्य अपने को क्रूर परिस्थितियों से घिरा हुआ पाते हैं, जहाँ उनमें से प्रत्येक को स्वयं अपना रास्ता निकालना है।

कभी-कभी परिस्थितियों का मुकाबला कर पाने में असमर्थता के कारण व्यक्ति को खण्डित मानसिकता, पागलपन, अवसाद एवं स्नायविक विखण्डन का शिकार होना पड़ता है। ये सभी विकार मानव निर्मित हैं। हमने स्वयं उनका निर्माण किया है। आदि मानव को उन्माद या खण्डित मानसिकता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी, किन्तु वर्तमान समाज में ये बीमारियाँ प्रचण्ड रूप से फैली हुई हैं। हमारे समाज की गलत संरचना ही इसका प्रधान कारण है।

प्रत्येक मनुष्य को एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जिसके पास वह अपने सुख और दु:ख के समय जा सके। वह व्यक्ति अंगद के पैर की तरह अचल होना चाहिये। वह ऐसा होना चाहिये जो केवल देना जानता हो तथा कुछ माँगने या प्राप्त करने की इच्छा से पूर्णत: मुक्त हो। जब सभी आपको अस्वीकार कर चुके हों उस समय वह आपको उठाकर गले से लगा

ले। उसके सामने आप बच्चे की तरह रोएँ, किन्तु उसके मन में आपके प्रति कोई गलत धारणा न हो। उसके विवेक तथा अनुग्रह की सहायता से आप अपनी आपदाओं पर विजय प्राप्त कर सकें ताकि एक बार पुन: आप जमीन पर अपने पैर मजबूती से जमाकर खड़े हो सकें।

किन्तु क्या ऐसा व्यक्ति पाना संभव है? उत्तर है, हाँ। गुरु में आप इन गुणों के अतिरिक्त भी अन्य सभी गुण पा सकते हैं। आपको सिर्फ उनका दरवाजा खटखटाना है। आप जन्म-जन्मांतर से जो कुछ भी खोज रहे हैं, उसका उत्तर आपको मिल जाएगा।

गुरु तत्त्व

गुरु तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर स्थित है। इसे आन्तरिक गुरु भी कहते हैं। यह आपके सम्पूर्ण जीवन के समस्त क्रिया-कलापों का साक्षी है तथा अव्यक्त रूप से उच्चतर आत्मज्ञान की ओर आपका मार्गदर्शन करता है। कभी-कभी अपनी उद्विग्नता एवं दुराग्रह के कारण आप इसके निर्देशों पर ध्यान नहीं दे पाते; तथापि यह धैर्यपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा करता है जब आप अन्तर्मुखी होंगे तथा अपने जीवन में इसके गहरे महत्त्व पर चिन्तन कर सकेंगे।

गुरु तत्त्व आपके अन्दर स्थित एक उच्चतम एवं पवित्रतम तत्त्व है। यह आयु, स्थान एवं काल की सीमा से परे तथा अविनाशी है। मृत्यु के साथ इसका अन्त नहीं होता; यह जन्म-जन्मान्तर तक साथ-साथ चलता है। यह एक अमूर्त तथ्य है; इसका कोई रूप, रंग या ध्वनि नहीं होती। विकसित अन्तर्दृष्टि से युक्त व्यक्ति ही इसका अनुभव कर सकता है। इन्द्रिय जगत् में विचरण करने वाले लोगों के लिये यह आन्तरिक गुरु एक रहस्य ही बना रहता है।

अत: अपने अन्दर स्थित इस तत्त्व से घनिष्ठता स्थापित करने हेतु हमें उस व्यक्ति की खोज करनी होगी जो हमारे आन्तरिक गुरु का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि या प्रतिरूप हो। इसी उद्देश्य से गुरु-शिष्य सम्बन्ध को युगों-युगों से सुरक्षित रखा गया है। जीवन्त गुरु शिष्य के अन्दर स्थित गुरु तत्त्व का ही प्रतीक है। शिष्य स्वयं को गुरु-चरणों में समर्पित करता है तथा उनकी इच्छा के अनुसार उनकी सेवा करता है। उसे यह मालूम है कि गुरु के प्रति विनम्र भक्ति द्वारा ही वह अपने गुरु तत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर सकता है।

आधुनिक शिक्षण पद्धति की तुलना गुरु-शिष्य सम्बन्ध से नहीं की जा सकती, क्योंकि इसमें गुरु तत्त्व का पूर्ण अभाव होता है। भारत में गुरु का स्थान शिक्षक से बहुत अधिक ऊँचा माना जाता है। जब भी कोई भारतीय

गुरु के सम्पर्क में आता है, वह उनके प्रति सम्मान और भक्ति के भाव से भर जाता है। वह गुरु के भौतिक स्वरूप को स्वीकार करता है। वह उनके भौतिक शरीर को एक आन्तरिक प्रबुद्ध चेतना का बाह्य आवरण मानता है।

अपने आन्तरिक गुरु से सम्पर्क स्थापित करना आपके लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यही वह केन्द्र है जिसकी खोज आप युगों से करते रहे हैं। बाह्य जगत् में जिन सुखों के पीछे आप दौड़ते रहे हैं वे भ्रम के अलावा और कुछ नहीं हैं। इनके विपरीत आपका आन्तरिक गुरु परमानन्द का अनन्त स्रोत है। वास्तव में उसकी अचेतन खोज के क्रम में ही आप भौतिक जीवन से सुख की अपेक्षा करने लगते हैं। उसके सम्पर्क से होने वाली अनुभूति के प्रति आप अवचेतन रूप से सजग हैं, किन्तु अपनी अज्ञानता और माया या भ्रम के पर्दे के कारण आप अन्यत्र, बाह्य जगत् में उसे खोजने का प्रयास करते हैं।

जब आप किसी फूल, रंग, चित्र या सुन्दर व्यक्ति को देखते हैं तो एक प्रकार के सुख का अनुभव करते हैं। आप सोचते हैं कि वह विशेष वस्तु या व्यक्ति आपके सुख का स्रोत है, किन्तु वास्तव में यह अनुभव आपके अन्दर घटित हो रहा है। वस्तु या व्यक्ति सुख का स्रोत नहीं है। आपकी सजगता या बोध के स्तर के आधार पर आपके द्वारा अनुभव की गई सुख की मात्रा का निर्धारण होता है।

इस बोध का उद्‌गम बाह्य जगत् में नहीं, बल्कि आपके अन्दर है। उस समय आपको अपने अन्दर स्थित अनन्त स्रोत का क्षणिक दर्शन होता है और यही आपके आनन्द का कारण है। किन्तु आप अपने इस अनुभव को भौतिक वस्तु विशेष से सम्बद्ध करते हैं और इसलिए उस अनुभव को पुन: प्राप्त करने के लिये उस वस्तु का पीछा करते हैं। इस बार आप एक अपेक्षा या कामना से प्रेरित होते हैं। इस कारण आपका बोध प्रतिबन्धित हो जाता है और उसकी अनुभूति पहले जैसी गहरी एवं आनन्ददायी नहीं होती। अत: आप निराश हो जाते हैं और पुन: भौतिक वस्तुओं में आनन्द की खोज करने लगते हैं।

गुरु से मिलने पर आपके अन्दर इसी प्रकार की प्रक्रिया शुरू होती है। तथापि चूँकि गुरु आपके आन्तरिक गुरु का प्रतिरूप होता है, अत: यह अनुभव अधिक स्थायी होता है। गुरु के प्रति आपका बाह्य अवबोधन आन्तरिक गुरु के प्रति आपके बोध से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। यदि गुरु से आपका सम्बन्ध ऊँचा और पूर्ण है तो इसके साथ ही आप अपने गुरु तत्त्व से सम्पर्क विकसित करने में भी सक्षम होते हैं। दोनों अनुभव समानान्तर चलते हैं और

उनमें सह-अस्तित्व होता है। जीवन्त गुरु से सम्बन्ध विकसित होने के साथ-ही-साथ आन्तरिक गुरु से आपका सम्पर्क सजीव, साकार और सुस्पष्ट होने लगता है, और इस प्रकार गुरु तत्त्व प्रकट होने लगता है।

हमारे भौतिक शरीर में आज्ञाचक्र या भ्रूमध्य गुरु तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। इसी बिन्दु पर आप अपने आन्तरिक गुरु का निर्देश प्राप्त करते हैं। यही वह बिन्दु है जिससे होकर आपके बाह्य गुरु आपको आदेश देते हैं तथा अपनी प्रज्ञा का संचार करते हैं। आज्ञा चक्र पर अपने बाह्य गुरु की आवाज सुनने में आपकी निपुणता ज्यों-ज्यों बढ़ेगी, अपने आन्तरिक गुरु या गुरु तत्त्व के सूक्ष्म और कारण स्वरूप को पहचानने में आप अधिकाधिक सक्षम होंगे। एक समय आने पर यह जीवन्त यथार्थ बन जाता है और तब आपके जीवन में वास्तविक अनुभूति का उदय होता है।

गुरु की श्रेणियाँ

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के विश्लेषण के प्रसंग में विभिन्न प्रकार के गुरुओं की चर्चा करना आवश्यक है। गुरु सामान्यत: चार प्रकार के होते हैं–योगी गुरु, ज्ञानी गुरु, तान्त्रिक गुरु और ब्रह्मनिष्ठ गुरु। ऐसा गुरु पाना सम्भव है, जो एक ही साथ योगी, ज्ञानी, तान्त्रिक और ब्रह्मनिष्ठ हों। कुछ गुरु योगी और ज्ञानी तो होते हैं, किन्तु उन्हें तन्त्र का ज्ञान या ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती है। कुछ गुरु ब्रह्मनिष्ठ होते हैं तथा उन्हें तन्त्र और योग का ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु वे योग शिक्षण का कार्य नहीं करते। यद्यपि वर्णन हेतु अनेक प्रकार के गुरु की चर्चा की जाती है, किन्तु प्राय: ऐसे गुरु पाये जाते हैं जो विभिन्न प्रकार के ज्ञान एवं अनुभूति से युक्त होते हैं।

योगी गुरु

लम्बी एवं कठिन साधना द्वारा योग विज्ञान पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने वाले व्यक्ति को योगी गुरु कहते हैं। उच्च साधनाओं के परिणामस्वरूप उन्हें सिद्धियाँ एवं आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है। तथापि वे पैनी अन्तर्दृष्टि, शान्त एवं अनुद्विग्न मनोवृत्ति तथा सन्तुलित निर्णय लेने की क्षमता से युक्त होते हैं। एक योगी गुरु विद्वान्, प्रखर वक्ता और दार्शनिक हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु उन्हें शरीर और मन सम्बन्धी दुर्बोध नियमों का ज्ञान होता है। वे इन नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं तथा निर्भय होकर अनुशासित जीवन जीते हैं। उनका जीवन अनुशासन और सन्तुलन का सार-संग्रह होता है। वे अपने शिष्य से भी ऐसी ही अपेक्षा रखते हैं। योगी गुरु शरीर और मन को वाहन मानते हैं और उनका पूर्ण उपयोग आध्यात्मिक उपलब्धि या ज्ञानोदय की प्राप्ति हेतु करते हैं।

उनकी सतर्क आँखें पूर्णता के लक्ष्य पर टिकी रहती हैं और वे अपने शिष्यों को उसकी प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहने की प्रेरणा देते हैं। वे अपने लापरवाह, सुस्त, उदासीन और आत्मसन्तुष्ट शिष्य के उत्साह को पुनर्जीवित करने के लिये कठोर तरीकों का उपयोग करते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन योगमय होता है और इसकी अभिव्यक्ति उनकी वाणी, आदतों एवं चाल-ढाल में स्पष्ट रूप से होती है।

योगी गुरु को शरीर और मन के क्रिया-कलापों का पूर्ण ज्ञान और अनुभव होता है। वे प्राय: मानसिक शक्तियाँ विकसित कर लेते हैं और कभी-कभी इनका उपयोग लगनशील साधकों की सहायता तथा प्रोत्साहन हेतु करते हैं।

योगी गुरु और योग शिक्षक में भिन्नता होती है। योगी गुरु का अपने शरीर, मन और भावना पर नियन्त्रण होता है। उनका प्रत्येक कार्य योगमय होता है। वे क्रमानुसार यौगिक अभ्यासों का उपयोग करते हैं। उनका प्रथम उद्देश्य शरीर को अनुशासित करना होता है, द्वितीय मन का नियन्त्रण और अन्त में शरीर और मन, दोनों का अतिक्रमण। पूर्णता के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये वे प्राय: घोर तपस्या में लीन रहते हैं।

यौगिक तकनीकों पर पूर्णाधिकार प्राप्ति के उपरान्त वे लगनशील साधकों का मार्गदर्शन करते हैं। यद्यपि वे सिर्फ हठयोग और साधारण प्राणायाम सिखाते हैं, किन्तु उनका ज्ञान क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। वे शिष्य की क्षमता के अनुसार ही उसे ज्ञान प्रदान करते हैं।

दूसरी तरफ, एक योग शिक्षक अपने शरीर, मन और भावना को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। उनका ज्ञान योग छात्रों से अधिक हो सकता है, किन्तु उनका अनुभव क्षेत्र सीमित होता है। शरीर, मन और भावना को नियन्त्रित करने वाले नियमों पर उन्हें पूर्णाधिकार प्राप्त नहीं होता। योगमार्ग पर अग्रसर होने के लिये यह उपलब्धि आवश्यक है।

योगाभ्यास आपकी आध्यात्मिक साधना का सारभाग है। अपनी सजगता का परिष्कार, शक्ति का सन्तुलन एवं चेतना की अभिवृद्धि हेतु आपको अपने दैनिक कार्यक्रमों के साथ यौगिक तकनीकों को एकीकृत करना होगा। जिस प्रकार आप प्रतिदिन प्रात:काल शरीर की सफाई करते हैं, उसी प्रकार नियमित रूप से आपको अपनी यौगिक साधना भी करनी चाहिये।

अत: प्रत्येक साधक के लिये योगी गुरु नितान्त आवश्यक है। आपकी आध्यात्मिक यात्रा के मार्ग पर वह मील का एक प्रमुख पत्थर है। वे आपको

अपने शरीर तथा मन को प्रशिक्षित करने की प्रेरणा देते हैं और इस प्रकार उच्च साधनाओं का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

योग एक सीमित विज्ञान नहीं है। यह तन्त्र एवं अन्य गूढ़ दर्शनों के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। हठयोग का अभ्यास राजयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। राजयोग और क्रियायोग एक-दूसरे के पूरक हैं। क्रियायोग तन्त्र के अन्तिम लक्ष्य की ओर ले जाता है। अत: यह कोई असामान्य बात नहीं है कि योगी गुरु को तन्त्र एवं अन्य दर्शनों का ज्ञान एवं अनुभव होता है। वे अपने प्रमुख शिष्यों को इन विद्याओं की शिक्षा देने में पूर्ण सक्षम होते हैं।

ज्ञानी गुरु

ज्ञानी गुरु एक विद्वान् व्यक्ति होते हैं जिन्हें शास्त्रीय विद्या का पूर्ण ज्ञान होता है। इस विद्या की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर वे शिष्य की बुद्धि को प्रोत्साहित एवं सन्तुष्ट करने में सक्षम होते हैं। ज्ञानशक्ति ही ज्ञानी गुरु का क्षेत्र होता है। उनके मार्गदर्शन एवं प्रेरणा से शिष्य की बौद्धिक क्षमता पूर्ण रूप से विकसित होती है।

ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? क्या कोई स्रष्टा है? क्या ईश्वर है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर ज्ञानी गुरु दक्षतापूर्वक दे सकते हैं।

दुर्बोध दार्शनिक प्रश्नों के प्रति अपने विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण तथा अपनी प्रत्युत्पन्नमति द्वारा ज्ञानी गुरु साधकों को आनन्दित करते हैं। उन्हें प्राचीन सत्य एवं आधुनिक अस्तित्व के सम्बन्धों एवं सार्थकता की गहरी समझदारी होती है। ऐसे गुरु साधकों को प्रभावित करने वाली मानसिक शक्ति से पर्याप्त रूप से युक्त हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु उनके व्यक्तित्व में ज्ञान और विवेक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

यदि उपर्युक्त विवरण से हमारे मन में एक प्रभावशाली और गंभीर व्यक्तित्व की तस्वीर उभरे तो यह गलतफहमी हो सकती है। असीम ज्ञान से युक्त कुछ महानतम संन्यासी तो बच्चों के समान सरल होते हैं। ज्ञान के साथ नम्रता आती है और उच्चतर ब्रह्माण्डीय शक्तियों के प्रति भक्तिभाव का प्रादुर्भाव होता है। एक ज्ञानी गुरु के लिये जीवन सीखने की सतत् प्रक्रिया होती है तथा वे निरन्तर ज्ञान की खोज में लगे रहते हैं।

ज्ञानयोग ज्ञानोदय का एक प्रमुख मार्ग है। प्रधानतया बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति ही इसकी ओर आकृष्ट होते हैं। यह एक लम्बा और दुरुह रास्ता है, क्योंकि

व्यक्ति बौद्धिक कलाबाजी के जाल में आसानी से फँस सकता है। ऐसा प्राय: कहा जाता है कि प्रकाश या सत्य की अनुभूति प्राप्त करने के लिये हमें इन्द्रियों, मन और बुद्धि को मन्द करना होगा। किन्तु ज्ञानयोग के सन्दर्भ में बुद्धि का उपयोग बुद्धि को नियन्त्रित करने हेतु किया जाता है। श्री अरविन्द ने एक बार कहा था, "प्रारम्भ में बुद्धि सहायक थी, अब बुद्धि बाधा है, अत: बुद्धि का अतिक्रमण करें।"

ज्ञानी गुरु अपने शिष्य को बौद्धिक क्षेत्र से परे जाने की शिक्षा देते हैं। इस क्षेत्र से परे जाने पर ही अन्तर्ज्ञान का दर्शन किया जा सकता है। आपकी अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिये वे आपको अपने मन को सीमारहित करने की शिक्षा देते हैं। यदि आपका मस्तिष्क किताबी ज्ञान से भरा हुआ होता है तो आपकी प्रतिक्रियाएँ तथा अनुभव प्रतिबन्धित एवं सीमित होते हैं। आप प्रत्येक चीज को किताबी विचारों से या सुनी हुई बातों से सम्बद्ध करने की कोशिश करते हैं।

किन्तु यदि आप पढ़ी तथा सुनी हुई सभी बातों को छोड़कर अपने अन्दर से ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता विकसित कर लेते हैं तो आप अपने में अन्तर्निहित उच्चतर ज्ञान और अन्तर्दृष्टि का अनुभव करने लगते हैं। अपने शिष्यों को शिक्षा देते समय ज्ञानी गुरु इसी उद्देश्य से प्रेरित होते हैं।

किन्तु बुद्धि का अतिक्रमण करने में आप अपने को प्राय: असक्षम पाते हैं। वास्तव में यह क्रमश: अधिकाधिक मजबूत होती जाती है। आप पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु अनुभव का पूर्ण अभाव बना रहता है। इस स्थिति में रहने वाले लोग निराशा की भावना से ग्रस्त होते हैं। सन्तुलित योगाभ्यास द्वारा इस बाधा को दूर किया जा सकता है। आपको सत्संग और प्रवचन द्वारा ज्ञानी गुरु से अधिकाधिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। साथ-ही-साथ, ऐसे योगाभ्यासों की नियमित साधना भी करनी चाहिये जो विशेष रूप से आपके अनुकूल हों। इस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि और अन्तर्दृष्टि का समानान्तर और समन्वित विकास सम्भव हो सकेगा।

ज्ञानी गुरु अनुभूति के संप्रेषण में सक्षम नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु वे आपकी रुचि को जगाते एवं मस्तिष्क को झकझोरते हैं ताकि आप उन गहन रहस्यों के बारे में प्रश्न कर सकें जिनसे अध्यात्म मार्ग पर आपका साक्षात्कार होने वाला है। ज्ञानी गुरु को ब्रह्मश्रोत्रीय भी कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ होता है वेद या ज्ञान के स्त्रोत का ज्ञाता।

तान्त्रिक गुरु

तान्त्रिक गुरु में योगी, ज्ञानी एवं तान्त्रिक गुरु का संश्लेषण या संयोजन होता है। उनकी दीक्षा सामान्यत: किसी तान्त्रिक योगिनी द्वारा सम्पादित होती है। वे विकसित चेतना से युक्त व्यक्तियों को गुप्त एवं गूढ़ तांत्रिक अभ्यासों की दीक्षा प्रदान कर उन्हें अपना शिष्य बनाती हैं। इस दीक्षा हेतु वे प्राय: योगी या ज्ञानी गुरुओं का चयन करती हैं। तान्त्रिक योगिनी से मिलने के बाद योगी या ज्ञानी गुरु का सम्पूर्ण व्यक्तित्व या आध्यात्मिक आयाम बदल जाता है।

इस दीक्षा के बाद उनका ज्ञान अनुभूति में बदल जाता है और तब वे तांत्रिक गुरु बन जाते हैं। उनके सामने चित्त एवं ब्रह्माण्ड के गूढ़ रहस्य एक महत्त्वपूर्ण यथार्थता के रूप में प्रकट होने लगते हैं। तान्त्रिक योगिनी द्वारा मार्गदर्शन का कार्य तब तक चलता रहता है जब तक कि दीक्षित व्यक्ति एक विशिष्ट, अनिवार्य अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता एवं तान्त्रिक योगिनी वापस लौट सकती है या नहीं भी लौट सकती है। इस गूढ़ अनुभूति से गुजरे बगैर एक योगी या ज्ञानी गुरु देश, काल या पदार्थ का अतिक्रमण करने में सक्षम नहीं हो पाते। वे चित्त एवं बुद्धि के क्षेत्र में ही भटकते रहते हैं।

ब्रह्मनिष्ठ गुरु के लिये यह अनुभूति आवश्यक नहीं है। वे बहुत अधिक ऊँचाई पर पहुँचे हुए तथा अतीन्द्रिय चेतना से युक्त होते हैं।

तान्त्रिक गुरु मन के स्वामी होते हैं। वे मन का उपयोग विद्युत स्विच के समान एक यन्त्र के रूप में करते हैं। स्विच का उपयोग बिजली-बत्ती जलाने या बुझाने के लिये किया जाता है। तान्त्रिक गुरु मन का संचालन इसी सहजता से करते हैं। जिस गति एवं स्पष्टता से हम संसार के दूसरे छोर पर बैठे व्यक्ति से दूरभाष द्वारा बात कर सकते हैं उसी सहजता एवं तीव्रता से गुरु के मन की विचारशक्ति दूरस्थ क्षेत्रों तक प्रक्षेपित की जा सकती है।

तान्त्रिक गुरु अनेक शरीर धारण कर एक ही समय में भिन्न-भिन्न जगहों में प्रकट हो सकते हैं। वे अपने शरीर को पूर्णतया भिन्न रूप में भी प्रकट कर सकते हैं। वे किसी भी समय अपने सूक्ष्म शरीर का प्रक्षेपण कर सकते हैं। इस स्थिति में भी किसी स्थान में क्या घटित हो रहा है, इस बात की पूर्ण सजगता बनी रहती है। उनका भौतिक शरीर एक स्थान पर हो सकता है, किन्तु वे मूर्तरूप धारण कर एक ही समय अनेक शिष्यों के सम्मुख प्रकट हो सकते हैं।

तान्त्रिक गुरु शिष्य के मन को समझने तथा उसे अपने आप में समाविष्ट कर लेने में पूर्ण सक्षम होते हैं। उस अवधि में शिष्य पूर्णत:

गुरु के निर्देशन के अधीन कार्य करता है तथा उनके प्रति उसकी सजगता एवं एकाग्रता निरन्तर बनी रहती है। उस समय शिष्य को असाधारण अनुभूतियाँ हो सकती हैं। उसकी सजगता ऊँची हो जाती है तथा मानसिक शक्ति भी विकसित हो सकती है। तान्त्रिक गुरु ऐसी घटनाएँ घटित कर सकते हैं जो सामान्यत: असम्भव होती हैं। वे बिना किसी आधार के पदार्थ की रचना भी कर सकते हैं। ऐसे सभी कार्य उनकी मानसिक शक्तियों द्वारा सम्पादित होते हैं।

तथापि अधिकतर तान्त्रिक गुरु ऐसी सिद्धियों का प्रदर्शन विरले ही करते हैं। यद्यपि वे शिष्य के मन को नियंत्रित कर सकते हैं, किन्तु वे सामान्यत: ऐसा नहीं करते। वे जब भी ऐसा करते हैं तो प्रकृति के नियमों तथा अनेक निषेधाज्ञाओं का कड़ाई के साथ पालन करते हैं। इन नियमों के विपरीत जाने से प्राकृतिक व्यवस्था का उल्लंघन होता है। कोई भी तान्त्रिक गुरु सावधानीपूर्वक ऐसे कार्यों से बचना चाहते हैं जो अराजकता का कारण हो। वे इस बात के प्रति पूर्ण सजग रहते हैं कि ये सिद्धियाँ सिर्फ मन की उच्चतर अवस्थाओं की सीढ़ियाँ हैं। यदि अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से इनका उपयोग किया जाय तो ये शीघ्र ही आध्यात्मिक मार्ग की बाधाएँ बन जाती हैं एवं पूर्णत: लुप्त भी हो सकती हैं।

यदि तान्त्रिक गुरु कभी किसी शिष्य के मन को अभिभूत करने का निर्णय लेते हैं तो वे तत्सम्बन्धी नियमों के अनुसार ही ऐसा करते हैं। शिष्य के कर्मों के निर्धारण तथा नियन्त्रण की अवधि निश्चित कर ली जाती है। निश्चित समय की समाप्ति के बाद शिष्य के मन को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने के लिये मुक्त कर दिया जाता है। गुरु शिष्य के मन को बार-बार अभिभूत कर सकते हैं, किन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं। ऐसा करने से गुरु तथा शिष्य, दोनों को भारी नुकसान होने का गंभीर खतरा रहता है।

जब कोई भक्त सर्वप्रथम किसी तान्त्रिक गुरु के पास जाता है तो वे उसके कर्मों तथा विकास की स्थिति का मूल्यांकन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ ऐसे कर्म होते हैं जिनका उन्मूलन तत्काल किया जा सकता है। परन्तु सशक्त कर्मों का क्षय धीरे-धीरे करना होता है। इस हेतु गुरु शिष्य को एक विशिष्ट साधना प्रदान करते हैं। यदि शिष्य गुरु के आश्रम में रहता है तो उसके कर्मों के अनुसार कुछ उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। किसी भी परिस्थिति में गुरु कर्म के नियमों के विपरीत कार्य नहीं करते; वे उन्हें पवित्र मानते हैं।

तांत्रिक गुरु शिष्य के कर्मों को आत्मसात् कर बिना कोई कष्ट भोगे उनका त्याग कर सकते हैं। किन्तु ऐसा तभी होता है जब गुरु और शिष्य के बीच सभी स्तरों पर सशक्त और गहरा सम्बन्ध हो।

शिष्य के मार्गदर्शन हेतु तान्त्रिक गुरु संप्रेषण की विधि का उपयोग करते हैं। यदि शिष्य संप्रेषण के प्रति ग्रहणशील नहीं होता है तो उसके लिये औपचारिक शिक्षण विधि का उपयोग किया जाता है। किन्तु शिष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये सम्प्रेषण का उपयोग निर्देश की प्रमुख विधि के रूप में किया जाता है। गुरु निरन्तर विचारों का संप्रेषण तथा शिष्य का परीक्षण करते रहते हैं ताकि इस बात का पता लग सके कि अवरोध कहाँ है एवं शक्ति का प्रवाह क्यों रुका हुआ है। इस प्रकार वे शिष्य को अपने माध्यम के रूप में कार्य करने हेतु तैयार करते हैं।

दूसरी तरफ, शिष्य को भी अपना उत्तरदायित्व समझना है। उसे निरन्तर उच्चतर स्तर पर अपनी सजगता बनाये रखनी है ताकि गुरु आसानी से संप्रेषण कर सकें। ऐसी मानसिक अवस्था से युक्त शिष्य के लिये गुरु के शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा शिष्य अनमोल होता है। उसके साथ गुरु किसी भी समय या स्थान पर संचार-सूत्र स्थापित कर सकते हैं– अपने क्षणभंगुर शरीर के त्याग के बाद भी।

गुरु और शिष्य के बीच पूर्ण सामंजस्य होता है। जिस प्रकार मस्तिष्क पैरों को चलने, हाथों को स्पर्श करने तथा आँखों को देखने का संदेश देता है उसी प्रकार शिष्य के क्रिया-कलाप गुरु के विचारों से संचालित होते हैं। तथापि यदि शिष्य गुरु के मानस-तरंगों से समस्वरित न हो तो वह उनके विचारों का गलत अर्थ निकाल सकता है एवं उनके निर्देशों के विपरीत कार्य कर सकता है। आप उस हास्यास्पद स्थिति की कल्पना कीजिए जब मस्तिष्क पैरों को चलने का आदेश दे, किन्तु उनके बदले हाथ क्रियाशील होने लगे। अत: शिष्य को सदैव अपने गुरु के साथ तादात्म्य बनाये रखना चाहिये। सतत् स्मरण के अभ्यास द्वारा यह सम्भव हो सकता है।

तान्त्रिक गुरु से चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती रहती है। जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर, पतंगा लौ की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट होता है। वे मुक्त मन एवं भावना से जीवन जीते हैं। वे सामान्य आदमी को बाँधने वाली मान्यताओं एवं शर्तों से निर्देशित नहीं होते। स्वतन्त्रता के सही अर्थ को समझने के लिये हमें तान्त्रिक गुरु की जीवन-धारा

को समझना चाहिये। हमारी स्वतन्त्रता की अवधारणा सीमित एवं सिर्फ बाह्य जगत् से सम्बद्ध है, किन्तु तान्त्रिक गुरु को बाह्य एवं आन्तरिक, दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। वे न तो कर्मों से बँधे होते हैं और न विचारों से नियन्त्रित। वे इन सबों के स्वामी होते हैं।

भारत में वैवाहिक एवं पारिवारिक समस्याओं, शारीरिक एवं मानसिक कष्टों तथा वित्तीय एवं व्यावसायिक परेशानियों के समाधान हेतु तान्त्रिक गुरु की सलाह ली जाती है। उन्हें मानवीय सम्बन्धों की विस्तृत एवं गहरी समझदारी होती है। अत: वे समस्याओं को ठीक से समझने एवं उनका समाधान प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम होते हैं। शिष्य को प्राय: ऐसा लगता है कि गुरु ने अपनी मानसिक शक्ति द्वारा उसकी सहायता की है।

तथापि तान्त्रिक गुरु के पास जाने का प्रमुख कारण यह नहीं है। ऐसा करना गुरु की शक्ति के महत्त्व को घटाना होगा। आध्यात्मिक मार्ग पर अनुभूति प्राप्त करने के लिये मार्गदर्शन हेतु तान्त्रिक गुरु आवश्यक है। इस निर्देशन एवं अनुभूति का संप्रेषण सिर्फ एक दृष्टि, सिर थप-थपाकर या कड़ी एवं कठोर साधना द्वारा किया जा सकता है। यह सब शिष्य के विकास के स्तर पर निर्भर करता है।

ब्रह्मनिष्ठ गुरु

ब्रह्मनिष्ठ गुरु सर्वोच्च चेतना में स्थित होते हैं। वे जीवनमुक्त होते हैं। लोगों के शिक्षण, निर्देशन, उत्प्रेरण एवं उद्‌बोधन से उनका कोई मतलब नहीं होता। वे ब्रह्म के ज्ञान एवं अनुभूति में पूर्णत: लीन रहते हैं एवं वहीं निवास करते हैं।

उनके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था भक्तों एवं शिष्यों द्वारा की जाती है, अन्यथा वे भूखे-नंगे ही रहेंगे। शारीरिक बातों के सम्बन्ध में उनकी कोई रुचि एवं सजगता नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र के जल में घुले हुए नमक का अपना कोई भिन्न अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ गुरु ब्रह्म या सर्वोच्च सत्ता में तल्लीन रहते हैं। वे एक भिन्न जगत् में निवास करते हैं जिसे समझना हमारे जैसे मरणशील सांसारिक प्राणियों के लिये असम्भव है। वे जिस गहराई की खोज या जिस ऊँचाई की माप कर रहे हैं उसे जानने की आशा हम कदापि नहीं कर सकते।

उनका व्यक्तित्व आत्म-प्रकाश से देदीप्यमान रहता है। ऐसा होने पर कान सुनते नहीं, आँखें देखती नहीं, हाथ स्पर्श नहीं करते और शब्द अर्थहीन हो

जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ गुरु पूर्ण आन्तरिक एवं बाह्य नीरवता की स्थिति में रहते हैं। वे शायद ही कभी लम्बा प्रवचन या उपदेश देते हैं। उन्हें प्राय: इस बात का भी आभास नहीं होता कि वे भक्तों एवं शिष्यों से घिरे हुए हैं। कभी-कभी वे ऐसे शब्दों का उच्चारण करते हैं जो या तो असंगत होते हैं या श्रोताओं के लिये उनकी कोई सार्थकता नहीं होती। वे स्वयं ही, स्वयं को समझ सकते हैं। उनके साथ *'खग ही जाने खग की भाषा'* वाली कहावत चरितार्थ होती है।

ब्रह्मनिष्ठ गुरु के असामान्य व्यवहार के बावजूद हजारों की संख्या में लोग उनके पास जाते हैं। उनके व्यक्तित्व से एक विशेष प्रकार की ऊष्णता एवं प्रकाश प्रस्फुटित होता है। अत: मात्र उनकी निकटता में रहना एक महान् सौभाग्य की बात है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु के भक्तों एवं शिष्यों के जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ घटित होती हैं। किन्तु उन्हें तनिक भी जानकारी नहीं होती कि ऐसी बातें उनके माध्यम से हो रही हैं।

ब्रह्माण्डीय शक्ति स्वयं को ब्रह्मनिष्ठ गुरु के माध्यम से प्रकट करती है। वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों के जीवन्त उदाहरण होते हैं। अपने आप में खोये रहने के बावजूद वे सम्पर्क में आने वाले लोगों में विश्वास, भक्ति एवं समपर्ण का भाव उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। उनमें आपके व्यक्तित्व के उच्चतर गुणों को जगाने एवं आपको अपने अन्दर झाँकने के लिये प्रेरित करने की क्षमता होती है।

रमण महर्षि ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ज्वलन्त उदाहरण थे। वे इसी शताब्दी में दक्षिण भारत में पैदा हुए थे। वे इतने अन्तर्मुखी थे कि उन्हें प्राय: अपने परिवेश का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता था। तथापि हजारों लोग, जो उनके पास जाते थे, अपनी समस्याओं का तत्काल समाधान पा जाते थे। उनके द्वारा शक्ति का संप्रेषण एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया थी। शिष्य को शक्ति हस्तान्तरित करने हेतु उन्हें तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता था।

अन्त में, ऐसे जीवनमुक्त गुरु शारीरिक सजगता पूर्णत: खो बैठते हैं। उनके सामने भोजन लाया जाता है, किन्तु वे उसे ग्रहण नहीं करते। वे शरीर का अतिक्रमण कर जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें विदेहमुक्त कहा जाता है। तदुपरान्त वे दस-बारह दिनों से अधिक जीवित नहीं रह सकते एवं इस क्षणभंगुर शरीर का त्याग कर देते हैं।

ब्रह्मनिष्ठ गुरु को अवतार पुरुष समझना गलत है। विश्व में अवतार पुरुष का अवतरण एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है। उन्हें 'कनिष्ठ

ईश्वर' माना जा सकता है। वे जीवन-मृत्यु के चक्र से परे होते हैं तथा विकास के अन्तिम स्तरों से ऊपर जा चुके होते हैं। वे कर्म एवं विकास के नियमों से मुक्त होते हैं। एक ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति हेतु उनका अवतार होता है। उस उद्देश्य की पूर्ति के बाद वे अज्ञात लोक में वापस लौट जाते हैं।

ब्रह्मनिष्ठ गुरु आध्यात्मिक विकास के सभी स्तरों की अन्तिम परिणति होते हैं।

महिला गुरु

महिला गुरु के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख किये बिना गुरु सम्बन्धी कोई भी पुस्तक पूर्ण नहीं मानी जा सकती। समाज के रूढ़िवादी दृष्टिकोण के चलते बड़ी संख्या में महिला गुरु पाना सम्भव नहीं है। समाज की परम्परागत एवं अनुदार मान्यताओं से प्रभावित होकर पादरी, पुरोहित एवं धार्मिक प्रधानों ने महिलाओं द्वारा गुरु-स्तर तक पहुँचने के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की हैं।

भारत में महिला गुरुओं को प्राचीन काल से ही आदरणीय स्थान मिला है। तन्त्र के विकास के युग में उन्हें विशेष सम्मान मिला। वेद, उपनिषद् एवं अन्य धर्म-ग्रन्थों में उनके अस्तित्व का संकेत मिलता है। तथापि कुछ धर्मों के अभ्युदय के कारण परिस्थितियाँ बहुत हद तक बदल गईं एवं एक लम्बी अवधि तक महिला गुरुओं की भूमिका सीमित हो गई। सार्वजनिक व्यक्ति के रूप में उनकी पहचान समाप्त हो गई। आधुनिक काल में वे पुन: प्रकट हो रही हैं। यदि समाज अपने पूर्वाग्रहों तथा जटिलताओं को पराजित करने में सफल हो जाये तो हमें पुन: महिला गुरुओं से दीक्षा एवं ज्ञान प्राप्त करने का सौभाग्य मिलेगा।

महिला गुरु अत्यधिक शक्तिशाली होती हैं। अपनी अन्तर्निहित अन्तर्दृष्टि एवं अतीन्द्रिय प्रकृति के कारण वे आध्यात्मिक मार्ग पर तेजी से प्रगति करने में सक्षम होती हैं। पुरुषों की तुलना में उनकी विचार तरंगें अधिक सूक्ष्म होती हैं। अत: वे प्रभावशाली ब्रह्माण्डीय शक्तियों से अधिक सहजता से संचार स्थापित करने में सक्षम होती हैं।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि बुद्धि और अहंकार आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। आध्यात्मिक प्रगति के लिये व्यक्ति को अहंकारहीनता, प्रेम, करुणा, कोमलता, बच्चों-सी सरलता, विश्वास, भक्ति एवं नम्रता जैसे गुणों को अपने में बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। ये गुण एक महिला के व्यक्तित्व के आधारभूत एवं अन्तर्निहित अंग होते हैं। अत:

उनके लिये बुद्धि का अतिक्रमण करना और अपने विश्वास तथा भक्ति को बढ़ावा देना आसान होता है। भक्ति उच्चतर अनुभूति का सर्वोच्च मार्ग है। सभी सच्चे साधक भक्ति-भाव बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। यह भाव एक महिला की प्रकृति का सार-तत्त्व होता है। परिणामस्वरूप वे महान् शक्ति के जागरण से उत्पन्न उथल-पुथल का सामना अधिक सहजता से कर सकती हैं।

दूसरी तरफ, पुरुषों के लिये अपनी बुद्धि तथा अहंकार का सामना करना अत्यधिक कठिन होता है। अत: शक्ति का जागरण होने पर प्रत्येक कदम पर उन्हें द्वन्द्वों एवं विस्फोटों का सामना करना पड़ता है और वे क्षत-विक्षत हो जाते हैं। सामान्यत: पुरुषों का बौद्धिक स्तर महिलाओं से उच्चतर होता है, किन्तु आध्यात्मिक मार्ग पर यह विशेषता लाभदायक नहीं होती।

यहाँ हमारा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि महिलाएँ पुरुषों से श्रेष्ठ होती हैं या गुरु की भूमिका बेहतर ढंग से निभा सकती हैं। किन्तु हमारे लिये यह समझना आवश्यक है कि इस क्षेत्र में वे पुरुषों के समान ही सक्षम हैं। उन्होंने आध्यात्मिक मार्ग पर मानव के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। परन्तु उनकी इस क्षमता को पर्याप्त महत्त्व एवं स्वीकृति नहीं मिल पायी है। इतिहास के पृष्ठों से उनका नाम मिटा दिया गया है। सामाजिक निषेध एवं जटिलताओं के कारण महिलाओं की उपेक्षा हुई है। तथापि उन्होंने गुमनाम रहकर एवं अति गोपनीय ढंग से लोगों का मार्गदर्शन एवं सहायता की है। हम उनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि "प्रत्येक महान् पुरुष के पीछे एक स्त्री होती है।" अनेक पुरुष महिलाओं की प्रेरणा से महापुरुष बने हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। आध्यात्मिक मार्ग के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। प्राय: सभी महानतम गुरुओं को अपने आध्यात्मिक जीवन के निर्णायक क्षण में एक तान्त्रिक योगिनी या महिला गुरु का आशीर्वाद मिला है। उन्होंने उन्हें तान्त्रिक प्रक्रिया में दीक्षित किया है। अनेक गुरु अपने जीवन की इस महत्त्वपूर्ण घटना को सार्वजनिक रूप में प्रकट करने में हिचकिचाते हैं, किन्तु यह एक ऐसा सत्य है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार महिलाओं में मानव का आध्यात्मिक मार्गदर्शन करने की असाधारण शक्ति एवं क्षमता निहित है। तथापि यह एक आश्चर्यजनक बात है कि उन्हें उचित महत्त्व एवं मान्यता नहीं मिल पाई है। धर्म अभिमुख समाज उनके गुरु होने के मार्ग में कठोर बाधाएँ उपस्थित करता है। पुरुष वर्ग भी

उनका दमन करता है ताकि उनका आध्यात्मिक विकास न हो और सांसारिक भोग हेतु उनका शोषण किया जा सके।

तन्त्र विज्ञान उतना ही पुराना है जितना मानव सभ्यता। तन्त्र मार्ग में गुरु की भूमिका स्त्री निभाती है, पुरुष नहीं। वह उन्हें आध्यात्मिक अभ्यासों की दीक्षा देती है। अनुष्ठान की तैयारी और संचालन वही करती है। वह पुरुष के ललाट पर टीका लगाती है और आदेश देती है कि उसे किस बिन्दु पर ध्यान करना चाहिये।

तान्त्रिक योगिनी गुरु में अपने शिष्य को पूर्णत: अभिभूत कर लेने की क्षमता होती है। यही कारण हैं कि लोग उन्हें प्राय: डायन, जादूगरनी या दानवी मानते हैं जो अपने शिकार को नियन्त्रित करने के लिये जादू-टोने का प्रयोग करती है। किन्तु ऐसी धारणा पूर्णत: अनर्गल है। अन्य गुरु के समान वे भी योग्य शिष्यों की खोज में रहती हैं जिन्हें मार्गदर्शन और दीक्षा प्रदान की जा सके। किन्तु उनकी मानसिक शक्ति एवं चुम्बकीय व्यक्तित्व के कारण लोग स्वयं उनकी ओर आकृष्ट होते हैं।

तान्त्रिक योगिनी डायन या जादूगरनी नहीं होती। कठोर श्रम एवं व्यक्तिगत साधना द्वारा वे असाधारण शारीरिक एवं मानसिक शक्ति प्राप्त कर लेती हैं। वे स्वतन्त्र प्रकृति की होती हैं तथा उनकी निष्ठा सिर्फ अपनी अन्तरात्मा के प्रति होती है। इन कारणों से उनके व्यक्तित्व से असीम साहस एवं निर्भयता प्रस्फुटित होती रहती है। कभी-कभी वे पूर्ण एकान्त या अति संयमी एवं कठोर स्थिति में रहती हैं। उनकी आचार संहिता तथा व्यवहार एवं नैतिकता के मानदण्ड उन्हें अन्य लोगों से भिन्न बना देते हैं। सिर्फ सर्वश्रेष्ठ बहादुर लोग ही उनके मार्ग पर चलने का जोखिम उठा सकते हैं। उनका अनुसरण करने से तो देवदूत भी डरते हैं।

हमारे मन में गुरु के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा बनी हुई है। तदनुसार हमारे सामने उनकी उत्तम, पवित्र एवं गुण सम्पन्न प्रतिभा उभरती है। एक तान्त्रिक योगिनी गुरु बाहर से देखने पर इन गुणों से रहित एक साधारण व्यक्ति प्रतीत हो सकती है। किन्तु उनकी दृष्टि की गहराई में आप उनकी आत्मा की पवित्रता का दर्शन कर सकते हैं। जिसप्रकार स्वर्णकार सोने को आभूषण का रूप देकर उसे निश्चित उद्देश्य एवं उपयोगिता प्रदान करता है, उसी प्रकार तान्त्रिक गुरु विकसित आत्माओं में विस्फोट उत्पन्न कर उन्हें प्रज्वलित करती हैं तथा आध्यात्मिक विकास यात्रा में उनकी सहायक होती हैं।

शिष्य की श्रेणियाँ

शिष्य एक संस्कृत शब्द है। इसका अभिप्राय उस व्यक्ति से है, जो सीखने हेतु इच्छुक है। दूसरे शब्दों में, जो अपने को अनुशासित करने के लिये स्वयं को गुरु को अर्पित करता है, वह शिष्य है। गुरु के शिक्षण का उपयोग भौतिक या आध्यात्मिक कल्याण के लिये किया जा सकता है। यदि आप उनके ज्ञान के प्रति ग्रहणशील हैं, तथा उनके निर्देशों का अनुकरण करते हैं तो आप एक शिष्य हैं।

सुविधा की दृष्टि से शिष्यों को मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों मे विभाजित किया जाता है–गृहस्थ शिष्य, कर्म संन्यासी, साधक शिष्य, तान्त्रिक शिष्य, संन्यासी और कपटी शिष्य।

कर्म संन्यासी

कर्म संन्यासी एक विशिष्ट प्रकार का गृहस्थ शिष्य होता है। वह पत्नी एवं बच्चों के साथ पारिवारिक जीवन जीता है तथा आजीविका हेतु कोई नौकरी या व्यवसाय करता है। वह परिवार, मित्रों, सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों से मजबूती से जुड़ा हुआ होता है। वह अपनी व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक समस्याओं के सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्राप्त करने हेतु गुरु की शरण में जाता है। गुरु के प्रति उसका भाव सशक्त और निष्कपट होता है। उनके प्रति उसके मन में प्रबल विश्वास और भक्ति होती है।

गुरु उसे बताते हैं कि अपने जीवन की परिस्थितियों का सामना किस प्रकार करे। वे उसके वैवाहिक एवं व्यावसायिक जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में ठोस सलाह देते हैं। शिष्य समझता है कि गुरु की सलाह अन्तर्दृष्टि एवं व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है। प्रत्येक नये अनुभव के साथ उसके

सामने गुरु के विचार की स्वाभाविक यथार्थता प्रकट होती जाती है। गुरु में शिष्य का विश्वास बढ़ने लगता है तथा धीरे-धीरे उनके बीच का सम्पर्क-सूत्र मजबूत होता जाता है।

शिष्य गुरु के लक्ष्य की पूर्ति हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान करता है। यह उसके शिष्यत्व का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। अनेक सामाजिक प्रतिबद्धताओं के कारण ऐसा करने में अपने को असक्षम पाते हैं। ऐसे लोगों को अपने उत्तरदायित्वों को एक भिन्न प्रकार से समझना होगा। गुरु-शिष्य परम्परा में एक शिष्य गुरु को अपना शरीर, मन एवं आत्मा समर्पित करता है। ऐसा पूर्ण समर्पण उसके शिष्यत्व का प्रतीक होता है। किन्तु पारिवारिक सम्बन्धों एवं दायित्वों के कारण अनेक शिष्य इस प्रकार का सम्पूर्ण समर्पण नहीं कर पाते। ऐसे शिष्यों के लिये शताब्दियों पूर्व गुरु-दक्षिणा की प्रथा स्थापित की गई। भारत में यह प्रथा अभी भी चल रही है।

गुरु-दक्षिणा का अर्थ होता है 'पवित्र अर्पण'। गुरु-दक्षिणा के रूप में भूमि, गृह, अन्न, वस्त्र एवं मुद्रा अर्पित किए जाते हैं। इस प्रकार का अर्पण गुरु के प्रति गृहस्थ एवं कर्म संन्यासी शिष्यों के प्रेम, भक्ति एवं विश्वास का प्रतीक होता है। वे अपनी आय का एक अंश अर्पित करते हैं। यह एक प्रकार का समर्पण है। यदि शिष्य इस प्रकार का अर्पण सही भाव से करता है तो वह कुछ हद तक अपनी अज्ञानता, आसक्ति तथा जीवन में एकत्र किए गये संस्कारों से मुक्त होता है। यही दक्षिणा का वास्तविक उद्देश्य है। इससे शिष्य की आत्मशुद्धि तथा आध्यात्मिक विकास होता है।

गुरु के साथ अपने सम्बन्ध को विकसित करना तथा मजबूत बनाना शिष्य का कर्त्तव्य है। उसे अपने को गुरु के प्रभावों के प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील बनना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि गुरु शारीरिक रूप से उपस्थित हो, शिष्य के दैनिक क्रिया-कलापों की जानकारी रखे या उनमें हस्तक्षेप करे। किन्तु एक बार मानसिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद उनकी शक्ति हमेशा उपलब्ध रहती है। परिवार के साथ न रहते हुए भी वे उसका अंग बने रहते हैं।

भक्ति और विश्वास इस सम्बन्ध के आधार होते हैं। गुरु का आकस्मिक दर्शन विश्वास पैदा कर सकता है। किसी कठिन परिस्थिति में उनकी सहायता प्राप्त होने पर या बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के भी ऐसा हो सकता है। किसी गुरु की ओर आप सिर्फ इसलिए आकृष्ट हो सकते हैं कि वे आपको अच्छे तथा

सकारात्मक लगते हैं। कुछ गृहस्थ शिष्यों का गुरु में अपार विश्वास होता है तथा वे अपने प्रत्येक कार्य, व्यवसाय, वैवाहिक सम्बन्ध, सम्पत्ति अधिग्रहण आदि जैसे मामलों में सदैव उनसे सलाह लेते हैं। गुरु में शिष्य का यह विश्वास कभी विफल नहीं होता तथा इसका कभी दुरुपयोग नहीं किया जाता। गुरु शिष्य के कल्याणार्थ अपने आप उत्तरदायित्व सम्भाल लेते हैं। अन्त में यह सम्बन्ध गहरा और स्थायी बन जाता है। यद्यपि ऐसा गृहस्थ शिष्य इस जीवन में गुरु के साथ नहीं रह पाता, तथापि वह उनके बहुत निकट होता है। गुरु शिष्य के कल्याणार्थ स्वयं को ही उत्तरदायी समझते हैं।

यद्यपि गृहस्थ शिष्य एवं कर्म संन्यासी की जीवन पद्धति प्राय: समान होती है, तथापि दोनों के लक्ष्य एवं मार्ग में एक सूक्ष्म अन्तर होता है। गृहस्थ शिष्य भक्ति एवं विश्वास के मार्ग पर चलते हैं। अपनी पारिवारिक एवं सामाजिक प्रतिबद्धताओं के कारण वे साधना के दैनिक अनुशासन से बँधे हुए नहीं होते। गुरु के प्रति असीम भक्ति तथा उनकी आध्यात्मिक शक्ति में पूर्ण विश्वास ही गृहस्थ शिष्य की साधना होती है। वे गुरु को अपने जीवन तथा परिवार का एक अंग मानते हैं। वे समझते हैं कि इस सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उनके बुरे कर्मों तथा बाधाओं का क्षय निश्चित रूप से होगा। गुरु के शब्दों तथा निर्देशों में उनका पूर्ण विश्वास होता है तथा वे उनसे उनकी उपस्थिति, प्रेम एवं आशीर्वाद की अपेक्षा रखते हैं। उन्हें अपने आध्यात्मिक विकास की चिन्ता नहीं होती। वे अपनी इच्छाओं एवं वासनाओं के प्रति अनासक्ति, विरक्ति तथा परित्याग का भाव नहीं रखते।

कर्म संन्यासी भी एक गृहस्थ शिष्य ही होता है। किन्तु उसे गुरु द्वारा कर्म संन्यास की एक विशेष दीक्षा दी जाती है तथा उसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से पारिभाषित होता है। कर्म संन्यास के मार्ग पर चलता हुआ वह धीरे-धीरे एक उच्चतर जीवन-विकसित करता है। बाह्य रूप से वह एक सामान्य व्यक्ति की तरह रहता है किन्तु आन्तरिक रूप से वह सदैव एक ऊँचे लक्ष्य की ओर देखता है। उसका मूल उद्देश्य जीवन की सभी घटनाओं तथा परिस्थियों को अपने आध्यात्मिक विकास के आधार के रूप में परिवर्तित कर देना होता है। यद्यपि वह सामान्य आदमी की तरह रहता है तथा सांसारिक अन्त:क्रियाओं में भाग लेता है, परन्तु उसका लक्ष्य अन्य लोगों से स्पष्ट रूप से भिन्न होता है। एक कर्म संन्यासी यह अच्छी तरह समझता है कि उसका जीवन उसके कर्मों की अभिव्यक्ति है, अत: आध्यात्मिक जीवन के उच्च मार्ग पर चलने

के लिये उसे अपने कर्त्तव्यों तथा दायित्वों के सम्पादन हेतु निश्चित रूप से प्रयास करना चाहिये।

दीक्षा के समय गुरु कर्म संन्यासी को एक आध्यात्मिक नाम प्रदान करते हैं। यह नाम उसके व्यक्तित्व के गहरे एवं गोपनीय गुणों का प्रतीत होता है। यह इस बात का भी संकेत है कि उसे क्या और कैसा बनने हेतु प्रयास करना चाहिए। उसे एक गेरू धोती भी प्रदान की जाती है जिसे वह साधना के समय धारण करता है।

तदुपरान्त वह कर्म संन्यासी नई आकांक्षाओं के साथ अपने पारिवारिक वातावरण में वापस लौट जाता है। वहाँ वह अपनी साधना का अभ्यास करता है तथा अपनी आन्तरिक शक्ति का विकास करता है। इसके साथ-ही-साथ वह उच्चतर सजगता के साथ परिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करता है। इस प्रकार एक ओर वह पिता, पति, कर्मचारी एवं समाज का एक सदस्य होता है तथा दूसरी ओर आत्मानुसन्धान में लगा रहता है। उसे इन दोनों मार्गों के बीच सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश करनी चाहिये। उसके आध्यात्मिक विकास के साथ उसका सांसारिक जीवन बेहतर होना चाहिये। इसी प्रकार उसका उच्चतर सांसारिक जीवन उसके आध्यात्मिक विकास में सहायक होना चाहिये। उसके जीवन में पूर्ण सन्तुलन एवं समन्वय होना चाहिये तथा द्वन्द्व एवं भ्रान्ति का पूर्ण अभाव होना चाहिये।

कर्म संन्यासी या गृहस्थ शिष्य गुरु के लिए एक अति महत्त्वपूर्ण संचार स्तम्भ बन सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि विवाहित जीवन और सामाजिक प्रतिबद्धतायें बाधा बन जाएँ। हमें इस तथ्य को निश्चित रूप से अनुभव एवं स्वीकार करना चाहिये कि हम सभी कर्मों से बँधे हुए हैं। वर्तमान जीवन का हमारा व्यवसाय अनेक विगत जीवन के कार्यों का परिणाम है, किन्तु इसे हमारे आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये। गुरु इस बात को समझते एवं स्वीकार करते हैं। किन्तु गृहस्थ अपने को सीमित अनुभव करते हैं। चूँकि वे पूर्ण संन्यासी नहीं बन पाते, अत: उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि गुरु के साथ गहरा सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाये। उन्हें यह समझना चाहिये कि प्रत्येक कार्य, चाहे वह कितना ही सरल और मामूली हो, यदि भक्ति और विश्वास के साथ गुरु को अर्पित किया जाये, तो वह सही दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम हो जाता है। कुछ गृहस्थ शिष्य ऐसे होते हैं जो कुछ संन्यासी शिष्यों की तुलना में गुरु के अधिक

अनुकूल होते हैं। अन्त में, प्रश्न गुरु के साथ या निकट रहने का नहीं है, मुख्य बात आपके समर्पण करने की क्षमता पर निर्भर है।

गृहस्थ शिष्य एवं कर्म संन्यासी के लिये कर्मयोग एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधना है। शिष्य अपने श्रम का फल गुरु को अर्पित करता है। कर्मयोग का अभ्यास सर्वप्रथम गुरु आश्रम में किया जाता है और वहीं इसमें पूर्णता प्राप्त की जाती है। शिष्य आश्रम से निरन्तर सम्पर्क बनाए रहता है। वहाँ वह अपने बचे हुए समय का उपयोग नि:स्वार्थ सेवा में करता है। आश्रम के वातावरण का उसके मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अन्त में निष्काम सेवा का भाव या कर्मयोग उसके व्यक्तित्व का एक अंग हो जाता है। तब उसके लिये अपने दैनिक जीवन में इसको क्रियान्वित करना आसान हो जाता है। वह कभी भी इसका अभ्यास कर सकता है। इससे उसके आध्यात्मिक जीवन में तेजी से विकास एवं प्रगति होगी।

एक गृहस्थ या कर्म संन्यासी शिष्य का जीवन गुरु एवं परिवार दोनों के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिये। प्रत्येक दीक्षा के साथ गुरु एवं शिष्य के बीच की कड़ी अधिक मजबूत होती जाती है। शिष्य धीरे-धीरे अपने मन को तैयार करता है। सभी कर्त्तव्यों एवं दायित्वों की समाप्ति के बाद एवं उचित समय आने पर, गृहस्थ शिष्य या कर्म संन्यासी को संन्यास के उच्चतर मार्ग का वरण करना चाहिये।

साधक शिष्य

साधक का शाब्दिक अर्थ होता है साधना का अभ्यास करने वाला। साधक को गुरु द्वारा दिए गए निर्देश शिष्यों की तुलना में अधिक कठोर और ठोस होते हैं। गृहस्थ शिष्यों के प्रति वे ऐसे बड़े भाई या पिता का भाव रखते हैं जो दयालु तथा शुभचिन्तक होते हैं एवं आशीर्वाद की वर्षा करते हैं। किन्तु साधक शिष्य का गुरु से सम्बन्ध अधिक औपचारिक होता है।

गुरु साधक शिष्य के व्यक्तित्व के विकास हेतु समुचित साधना का निर्धारण करते हैं। उसे पर्याप्त मात्रा में साधना दी जाती है तथा विस्तारपूर्वक अभ्यास की विधियाँ बताई जाती हैं। वह अभ्यास करता है तथा आगे का मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिये समय-समय पर गुरु से सलाह लेता है। गुरु को साधना की प्रगति या किसी प्रकार की कठिनाई की सूचना दी जाती है। वे यह निर्णय करते हैं कि साधना में क्या जोड़ा जाय या घटाया जाय।

साधना में प्रगति हेतु यह आवश्यक है कि शिष्य गुरु के निर्देशों का कड़ाई से पालन करे। प्राय: यह पाया जाता है कि शिष्य एक गुरु से कोई अभ्यास सीखता है। कुछ दिनों के बाद एक अन्य गुरु से उसकी मुलाकात होती है तथा उनकी पद्धति उसे अधिक आकर्षक लगती है या वह किसी पुस्तक में एक अन्य पद्धति के बारे में पढ़ता है। वह उसे अधिक मोहक लगती है एवं जल्द परिणाम देने का आश्वासन देती है। कभी-कभी पड़ोसी भी उसे सलाह देते हैं कि उसके द्वारा किए जा रहे अभ्यासों से उसे अपेक्षित परिणाम नहीं मिलेंगे तथा गुरु ने उनके खतरनाक परिणामों से उसे अवगत नहीं कराया है। शिष्य को इन सभी प्रकार के व्यवधानों के प्रति अन्धा एवं बहरा बन जाना होगा। उसे इन पर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिये। गुरु का निर्णय अन्तिम मानना चाहिये। अन्य किसी बात को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये। इस मामले में शिष्य को पूर्ण दृढ़ होना चाहिये।

गुरु शिष्य से अपेक्षा करते हैं कि उसकी साधना में नियमितता तथा सुसंगति सदैव बनी रहे। इस मामले में वे शिष्य के प्रति एक हठी, निर्दय एवं कठोर अधिकारी जैसा व्यवहार कर सकते हैं। वे साधक की साधना में किसी प्रकार की विसंगति बर्दाश्त नहीं कर सकते। साधक की प्रगति तथा मनोस्थिति में वे अत्यधिक रुचि लेते हैं। यह गुरु तथा शिष्य, दोनों के लिये समान रूप से साहसिक कार्य है। साधक के आलसी एवं दीर्घसूत्री होने पर वे अधीर हो जाते हैं। ऐसा विशेषकर तब होता है जब शिष्य में उत्तम साधक बनने की क्षमता अन्तर्निहित हो। शिष्य को सही मार्ग पर लाने के लिये गुरु कठोर तरीके अपना सकते हैं। इतने पर भी यदि वह गुरु के निर्देशों के प्रति अभिमुख नहीं होता एवं साधना में पर्याप्त रुचि नहीं लेता तो गुरु अपनी सहायता एवं सहयोग पूर्णरूप से खींच लेते हैं तथा उसके साथ एक साधारण शिष्य जैसा व्यवहार करते हैं। शिष्य की लगनशीलता ही गुरु को उसकी साधना में रुचि लेने हेतु अभिप्रेरित करती है।

कठोर श्रम एवं अध्यवसाय द्वारा ज्यों-ज्यों साधक की प्रगति होती है, गुरु अनेक प्रकार से उसकी परीक्षा लेते हैं। साधक को इसके लिये तैयार रहना चाहिये तथा गुरु के प्रयोजन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। उसे अनेक कठिनाइयों से गुजरना होगा ताकि उसकी शारीरिक क्षमता, मानसिक दृढ़ता एवं वैचारिक स्पष्टता का निर्धारण हो सके। इस प्रकार के मूल्यांकन पर ही यह निर्भर करेगा कि उसके लिये उच्चतर साधना निर्धारित की जाये

अथवा नहीं। गुरु सच्चे एवं निष्कपट साधक की सहायता मानसिक शक्ति के माध्यम से भी करते हैं।

शिष्य को साधना के प्रति एकाग्र एवं लगनशील होना चाहिये। उसे अभ्यास के नियमों का, चाहे वे भोजन-शयन से सम्बन्धित ही क्यों न हों, कड़ाई से पालन करना चाहिये। गुरु जानते हैं कि कौन-सी साधना हमारे लिये उपयुक्त है। अभ्यास अनुकूल न मालूम पड़े तब भी यह विश्वास दृढ़ बना रहना चाहिये।

प्रारम्भ में गुरु द्वारा प्रदत्त साधना अति सरल और महत्त्वहीन मालूम पड़ सकती है। साधक यह सोचकर उसे अस्वीकार कर सकता है कि गुरु उस पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। उदाहरण के लिये, गुरु शिष्य को यह निर्देश दे सकते है कि उसे दस मिनट आसन, दस मिनट प्राणायाम तथा दस मिनट जप करना चाहिये एवं आधा घंटा कुण्डलिनी योग पर कोई पुस्तक पढ़नी चाहिये। शिष्य को इस बात के लिये आश्चर्य हो सकता है कि उसे और कठिन साधना क्यों नहीं दी जाती, विशेषकर इसलिये कि वह उनका अभ्यास करने में सक्षम है। साधक में उच्च श्रेणी के आसनों को करने की क्षमता हो सकती है तथा वह एक घंटे से अधिक समय तक उनका अभ्यास कर सकता है। किन्तु प्रारम्भ में अति सरल साधना देकर गुरु उसकी प्रथम परीक्षा ले रहे हैं।

जब आप एक साधक के रूप में गुरु के पास जायें तो सीखने की सर्वप्रथम बात यह है कि आप सब कुछ भूल जाइये। पूर्व की सभी जानकारी तथा ज्ञान को निर्मूल करना एवं एक नौसिखिया के रूप में नये सिरे से प्रारम्भ करना अति आवश्यक है। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि गुरु द्वारा प्रदत्त साधना अति सरल और साधारण है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आप अपनी बुद्धि का अधिक उपयोग किये बिना गुरु के निर्देशों का अनुकरण करें। गुरु आप से यही अपेक्षा रखते हैं।

शिष्य को अपनी प्रगति का मूल्यांकन कदापि नहीं करना चाहिये। वह कहाँ तक पहुँचा है, इसका निर्णय करना उसका कार्य नहीं है। यह कार्य पूर्णत: गुरु पर छोड़ देना चाहिये। अपनी प्रगति का मूल्यांकन करने के प्रयास के क्रम में शिष्य के मन में उलझन पैदा हो सकती है तथा उसकी इच्छाशक्ति दुर्बल हो सकती है।

गुरु-साधक सम्बन्ध में गुरु शिक्षक या निर्देशक होते हैं। शिष्य को गुरु द्वारा निर्धारित नियमों का अनुपालन कड़ाई से करना चाहिये। अन्त में

साधना द्वारा शिष्य साफ मन, सही विचार, पर्याप्त आत्मविश्वास और क्षमता प्राप्त कर लेता है। अपनी न्यूनाधिक प्रगति का ख्याल किये बगैर शिष्य को गुरु के प्रति अपनी भक्ति और नम्रता बनाए रखनी चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि गुरु के बिना वह तनिक भी प्रगति नहीं कर सकता।

संन्यासी शिष्य

प्रत्येक युग में कुछ ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने उच्चतर स्थिति एवं आदर्शों की अनुभूति प्राप्त करने हेतु स्थापित सांसारिक मान्यताओं तथा शर्तों की सीमा से बाहर आकर एक भिन्न रास्ता अपनाया है। उन्होंने भौतिक सुविधाओं की सीमाओं तथा उनसे प्राप्त सुखों की क्षणभंगुरता को अनुभव कर लिया है। वे परित्याग के भाव से जीवन को अनुभव करने की इच्छा के प्रति सजग हो गये हैं। वे समझने लगे हैं कि बाह्य एवं आन्तरिक अनुबन्धों या शर्तों का परित्याग आवश्यक है ताकि आत्मा अपने को प्रकट करने के लिये मुक्त हो सके। परित्याग का यह दृष्टिकोण उच्चतर सजगता से उत्पन्न होता है। जीवन के इसी मोड़ पर कोई साधक संन्यास ग्रहण करता है।

संन्यास सिर्फ अपना वस्त्र त्याग कर गेरू धारण करने, सिर मुड़ाने या नाम बदलने का धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं है। इसका महत्त्व अधिक गहरा और गहन है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छा, अहंकार, स्वार्थी प्रयोजन, ढोंग, पाखण्ड एवं सीमित प्रकृति का त्याग करता है। संन्यासी शिष्य इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयास करता है।

उचित समय आने पर उसे गुरु मिल जाते हैं। वह गुरु के आश्रम में उनके प्रत्यक्ष संरक्षण एवं मार्गदर्शन में निवास करता है। जब तक संन्यासी एक ऐसी अवस्था में स्थित नहीं हो जाता जहाँ से उसे कुछ भी विचलित न कर सके, तब तक गुरु उसे ऐसे वातावरण में रहने की सलाह देते हैं जो आध्यात्मिक विकास में सहायक हो। संन्यासी शिष्य इस बात के प्रति पूर्ण सजग रहता है कि मन कभी भी भ्रम या भटकाव पैदा कर सकता है। यह उसे आध्यात्मिक आनन्द की अत्यधिक ऊँचाई तक पहुँचा सकता है तथा तीव्र गति से नीचे भी गिरा सकता है। अत: संन्यासी आश्रम में रहकर कार्य करता है। वहाँ वह सभी कठिनाइयों तथा बाधाओं को अपने आध्यात्मिक प्रशिक्षण के अंग के रूप में स्वीकार करता है।

संन्यास एक धार्मिक व्यवस्था नहीं है। यह एक ऐसा जीवन दर्शन या आदर्श है जिसे कुछ लोग अपने आपके प्रति उच्चतर समझदारी प्राप्त करने

एवं अपनी वास्तविक प्रकृति में निहित परमानन्द का अनुभव करने में सक्षम होने के लिये अपनाते हैं। आश्रम में विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं सामाजिक स्तरों के लोग एक साथ रहते हैं। वे समबुद्धि एवं समस्वरता के साथ समान आदर्शों का अनुकरण करते हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि संन्यास सिर्फ एक आन्तरिक भाव है तो व्यक्ति समाज में रहते हुए भी इसके आदर्शों का पालन कर सकता है। यह तर्क कितना गलत है, इसका अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है, जो इस दिशा में प्रयत्नशील है। समाज में रहने वाला व्यक्ति जीवन की प्रतिबद्धताओं में बुरी तरह उलझा रहता है। यह एक जाल में फँसने के समान है। बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता है। जाल से निकलने का वह जितना ही प्रयास करता है उसमें उतना ही अधिक फँसता चला जाता है।

इनके अतिरिक्त व्यक्ति की कुछ स्वभावगत सीमाएँ हैं। उस पर सभी दिशाओं से अनेक मनस्तापों या विपदाओं का आक्रमण होता है। वह उन्हें नियंत्रित करने की कोशिश करता है। किन्तु माया की प्रबल शक्ति एवं अपनी कमजोर इच्छाशक्ति के कारण वह अपने प्रयासों में प्राय: विफल हो जाता है। अत: अपने व्यक्तित्व तथा मानसिक भटकाव को सुस्थिर एवं दृढ़ बनाने के लिये एक संन्यासी को कुछ समय तक गुरु के संरक्षण में रहना चाहिये। वास्तव में संन्यासी स्वर्ग से नहीं उतरता। वह समाज से ही आता है। उसकी विपदाएँ या वेदनाएँ अन्य लोगों जैसी ही होती हैं। लेकिन उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। एक संन्यासी पूर्णता प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित होता है। वह आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करने वाली वृत्तियों को नियंत्रित करना चाहता है। जीवन की सामान्य प्रतिकृति से ही उसका उद्भव हुआ है, किन्तु संन्यास मार्ग अपनाकर वह उच्चतर जीवन की खोज कर रहा है।

आश्रम वैसा स्थान नहीं है जहाँ संन्यासी आलसी की तरह बैठकर सिर्फ ईश्वर या ब्रह्म के विषय में चर्चा किया करते हैं। वे सुबह से शाम तक निरन्तर कार्यरत रहते हैं। वे सभी प्रकार के कार्य करते हैं, किन्तु उनके कार्य करने का तरीका भिन्न होता है। यह भिन्नता कार्य के प्रति उनके भाव से सम्बद्ध है। वे स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण या स्वार्थी प्रयोजन से कार्य नहीं करते। वे किसी प्रकार के पुरस्कार की अपेक्षा नहीं रखते। संन्यासी शिष्य में ऐसी सजगता या भाव दृढ़ हो जाने पर वह कहीं भी सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

संन्यासी शिष्य अपने को गुरु को समर्पित कर देते हैं। ऐसा करते समय वे अपनी सीमित क्षमता तथा प्रेम, घृणा, लोभ एवं ईर्ष्या से सम्बन्धित अपनी दूषित अवधारणाओं के प्रति पूर्ण सजग रहते हैं। वास्तव में संन्यासी शिष्य में गृहस्थ शिष्य के समान दृढ़ विश्वास और भक्ति होती है। गुरु द्वारा प्रदत्त साधना के प्रति वे साधक शिष्य की तरह कठोर अनुशासन एवं नियमितता का पालन करते हैं। पुन: वे गुरु को अपनी इच्छा, आकांक्षा, अहंकार एवं आत्मा अर्पित करते हैं। यह पूर्ण आत्मसमर्पण तान्त्रिक शिष्य के जैसा होता है। गुरु संन्यासियों के साथ सभी स्तरों पर निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते हैं। जटिल एवं संकटपूर्ण परिस्थितियों में उन्हें सदैव गुरु का मार्गदर्शन मिलता है। जब संन्यासियों के व्यक्तित्व में एक सीमा तक स्थिरता आ जाती है तो गुरु उनकी क्षमता के अनुसार उन्हें अन्य स्थानों पर कार्य करने के लिये भेज देते हैं।

एक संन्यासी का जीवन सदा के लिये निष्ठापूर्वक गुरु-सेवा हेतु समर्पित होता है। इस निष्ठा एवं समर्पण द्वारा ही वह सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है।

तान्त्रिक शिष्य

सम्पूर्ण गुरु-शिष्य परम्परा में गुरु एवं तान्त्रिक शिष्य के बीच का सम्बन्ध सर्वाधिक पूर्णता प्रदान करने वाला है। इस श्रेणी में आने वाले शिष्य अपने पूर्व जन्मों की साधना द्वारा अत्यधिक ऊँचाई तक अपनी चेतना का विकास कर चुके होते हैं। गुरु ऐसे शिष्यों की खोज में रहते हैं और उन्हें पाते ही अविलम्ब अपने संरक्षण में ले लेते हैं। किन्तु शिष्यत्व के इस स्तर तक पहुँचने की आशा लाखों में कोई एक व्यक्ति ही कर सकता है।

तान्त्रिक शिष्य और गुरु एक पूर्ण वृत्त का निर्माण करते हैं। गुरु के निर्देश में उनके बीच का सम्बन्ध कोई भी रूप ले सकता है। उनके बीच पिता-पुत्र, शत्रु-मित्र, भक्त-भगवान, पति-पत्नी या साथ-साथ खेल-कूद करने वाले दो बच्चों जैसा सम्बन्ध हो सकता है। यह एक सम्पूर्ण सम्बन्ध होता है, इसके बाहर कुछ नहीं बचता।

शिष्य गुरु के साथ या उनसे बहुत दूर रह सकता है। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह गुरु को अपना शरीर, मन एवं आत्मा का पूर्ण समर्पण करता है। उसका प्रत्येक कार्य गुरु-इच्छा से संचालित होता है। 'आपकी इच्छा क्रियान्वित होगी' – यह तान्त्रिक शिष्य का निर्देशक सिद्धान्त होता है।

ऐसे शिष्य को गुरु बिरले ही मौखिक निर्देश देते हैं। गुरु संप्रेषित करते हैं; शिष्य ग्रहण करता है और क्रियान्वित करता है। द्वैतभाव का सर्वथा अन्त हो जाता है। गुरु और शिष्य एक-दूसरे में समा जाते हैं। शर्तरहित सम्पूर्ण समर्पण होने के बाद ही ऐसा हो सकता है।

इस स्थिति की प्राप्ति हेतु एक मूल्य चुकाना पड़ता है। वह है अहंकार का विसर्जन। तान्त्रिक शिष्य की योग्यता प्राप्त करने के लिये आपको अपनी सनक, स्वभावगत विशेषता, व्यक्तित्व का ख्याल तथा मन-मस्तिष्क से जुड़ी वासनाओं-आकांक्षाओं को गुरु की इच्छा के आगे समर्पित करना होगा। हम सभी यह जानते हैं कि अहंकार का निरुक्रमण करना कितना कठिन है। बौद्धिक स्तर पर हम सभी बातें समझ सकते हैं। हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि अहंकार एक बाधा है और इसे निर्मूल करना ही होगा। किन्तु व्यवहार में हम बार-बार असफल होते हैं। अहंकार अनेक एवं विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। इसका स्वरूप प्राय: इतना सूक्ष्म होता है कि हम भी नहीं समझ पाते कि यह अहंकार ही है जो हमारे मन के साथ खतरनाक खेल खेल रहा है। यही कारण है कि तान्त्रिक शिष्य दुष्प्राप्य होते हैं। लाखों में एक ही अहंकार को पूर्णत: नियन्त्रित कर सकते हैं। गुरु ऐसे शिष्यों का विशेष रूप से वरण करते हैं।

गुरु ऐसे शिष्यों को बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपते हैं। शिष्य की न अपनी इच्छा होती है और न अपना मन। वह सिर्फ एक उद्देश्य से जीवन धारण करता है– गुरु की आज्ञा का पालन करना। उसकी सारी शक्ति एवं मानसिक तरंगें इसी उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में निर्देशित होती हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध बहुत जटिल होता है। गुरु और शिष्य के बीच प्रत्येक क्षण पूर्ण एकता या सामंजस्य का होना आवश्यक है। शिष्य के लिये कोई भी कार्य तुच्छ, बहुत खतरनाक या दुस्साहसपूर्ण नहीं है– यदि गुरु ने उसे सम्पादित करने का आदेश दिया है।

सम्पूर्ण समर्पण की बाह्य अभिव्यक्ति के कारण गुरु-शिष्य के बीच का यह विशेष प्रकार का सम्बन्ध पर्याप्त उपहास का विषय रहा है। बाहर के दर्शक को लगता है कि गुरु एक निरंकुश स्वामी है तथा शिष्य उनका व्यक्तिगत दास। किन्तु ऐसा मूल्यांकन अति सीमित समझदारी का परिणाम है। उनके मन की एकता की गहराई को दर्शक कदापि नहीं जान सकता। वह इस बात का अनुमान भी नहीं लगा सकता कि सूक्ष्म या कारण स्तर पर

उनके बीच क्या हो रहा है और आप यह विश्वास करें कि पूर्ण नीरवता की स्थिति में भी बहुत कुछ हो रहा है। गुरु एक भी शब्द न बोलें; किन्तु शिष्य का उनके साथ अविरल संवाद चल रहा है। गुरु के अनेक लम्बे प्रवचनों से जितना ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है उतना शिष्य सिर्फ उनके स्वरूप या एक तीव्र दृष्टि से या उनके पास स्थिरतापूर्वक बैठकर ही प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक क्षेत्र एवं आयाम में गुरु शिष्य को चेतावनी तथा निर्देश देते हैं और अधिकाधिक ऊँचाई प्राप्त करने के लिये उसे फुसलाते, प्रलोभन देते एवं उसकी खुशामद करते हैं।

परम्परागत तान्त्रिक साधना के अन्तर्गत अघोर साधना, कपाली साधना, कुमारी साधना, लता साधना एवं श्मशान साधना आती है। इन साधनाओं के अभ्यास के लिये पर्याप्त इच्छाशक्ति एवं आत्मनियन्त्रण की आवश्यकता होती है। एक सामान्य साधक के लिये उन्हें सम्पादित करना सम्भव नहीं है। गुरु के मार्गदर्शन के बिना उनका अभ्यास नहीं करना चाहिये। ये अभ्यास अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं तथा चित्त का विस्फोट कर सकते हैं। यदि गुरु साधना के सभी पहलुओं का पर्यवेक्षण करने हेतु उपस्थित न हों तो कठिन समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। गुरु तान्त्रिक शिष्य को ऐसी साधना देते हैं जिससे अचेतन मन का विस्फोट एवं चित्त का विस्तार हो सके। इन अभ्यासों के क्रम में शिष्य सबल वासनाओं एवं भावनाओं को पहचानने तथा अनुभव करने में सक्षम होता है। अन्यथा ये अचेतन मन में छिपी रहती हैं। इन अभ्यासों द्वारा शिष्य इन सबल शक्तियों को नियन्त्रित करना सीखता है। यदि इन्हें नियन्त्रित कर ठीक से काम में न लाया जाये तो ये आजीवन यन्त्रणा का कारण बन सकती हैं।

तान्त्रिक शिष्य गुरु के मन-वचन-कर्म के पूर्णत: अनुकूल होता है। वह उनकी प्रत्येक आवश्यकता के प्रति सजग एवं सावधान रहता है चाहे उसकी अभिव्यक्ति मौखिक रूप से हो या मानसिक स्तर पर। वह गुरु के विचारों का अनुमान लगाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में सक्षम होता है। किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह किसी पुरस्कार या मान्यता की अपेक्षा किये बगैर सब कुछ करता है। पुरस्कार की अपेक्षा का अर्थ यह होगा कि शिष्य के मन में अभी भी इच्छाएँ छिपी हुई हैं। यह इस बात का संकेत है कि उसमें आकांक्षा एवं अहंकार की प्रधानता है। सच्चा तान्त्रिक शिष्य सिर्फ कार्य करता है; अच्छे बुरे परिणामों के बारे में वह नहीं सोचता। गुरु का

माध्यम बनने के लिये शिष्य को एक पालतू कुत्ते या आज्ञाकारी सेवक का भाव विकसित करना होगा।

तान्त्रिक शिष्य गुरु के किसी कार्य को प्रश्नसूचक मन से नहीं देखता। गुरु के प्रत्येक निर्णय में उसका पूर्ण विश्वास होता है। वह दृढ़तापूर्वक यह मानता है कि गुरु उसके साथ विश्वासघात नहीं करेंगे। अत: व्यक्ति को तान्त्रिक गुरु का चयन बहुत सावधानी से करना चाहिये। इस सम्बन्ध में भावनाओं के ज्वार में बहना या अविवेकपूर्ण निर्णय लेना उचित नहीं है। इससे बाद में पछताना ही पड़ता है। प्रारम्भ में ही ठोस एवं साफ ढंग से सोचना चाहिये। यदि एक बार किसी को गुरु मान लिया तो यह निर्णय पूर्ण और अन्तिम होना चाहिये। तब सन्देह के लिये कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। सभी प्रश्न एवं बौद्धिक तर्क समाप्त हो जाना चाहिये।

जब शिष्य सम्पूर्ण समर्पण करता है, तो उसमें गुरु की शक्ति प्रवाहित होने लगती है। उनके बीच अविरत संचार की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण धारणा है। इस धारणा पर ही शताब्दियों से गुरु-शिष्य सम्बन्ध विकसित हुआ है। गुरु मुख्य शक्ति उत्पादक गृह के समान है। शिष्य वाहिका या तार के समान है जो विद्युत शक्ति को विभिन्न केन्द्रों तक पहुँचाता है। मुख्य बात यह है कि शिष्य स्वयं को एक सुचालक के रूप में तैयार करे। अन्यथा यदि गुरु से शिष्य की ओर बहुत अधिक शक्ति प्रवाहित होगी तो फ्यूज उड़ जायगा और यदि फ्यूज नहीं रहेगा है तो तार पिघल जायगा। इस प्रकार अनेक शिष्य सिर्फ इसलिये विनष्ट हो गये कि वे शक्ति को नहीं संभाल पाये। यही कारण है कि शिष्य द्वारा गुरु को सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक है। यदि शिष्य चेतन स्तर पर गुरु के निर्देशों का अनुकरण करने के लिये तैयार नहीं है तो अतीन्द्रिय स्तर पर ऐसा करना कैसे सम्भव है?

गुरु शिष्य को विभिन्न प्रकार के अनुभवों एवं परिस्थितियों के प्रभाव में डालते हैं। उनमें से कुछ वीभत्स, कुछ खतरनाक तथा कुछ विषयी एवं सुखदायक होते हैं। इस प्रकार वे धीरे-धीरे शिष्य के मन की गहराइयों में उतरते हैं तथा उसके चेतन, अवचेतन स्तरों को खोलते हैं। शिष्य के सामने मन के गहन रहस्यों का उद्‌घाटन होता है। प्रत्येक अनुभव के साथ वह नई शक्ति, मजबूत इच्छाशक्ति एवं दृढ़ संकल्प प्राप्त करता है। अन्त में वे ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ शिष्य क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, भय, वासना आदि से

अभिभूत नहीं होता है। वह उनका सामना तथा उन पर विजय प्राप्त कर चुका होता है। इसके बाद ही शिष्य स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकता है।

इस प्रकार सारांश में हम पाते हैं कि गुरु शिष्य को उच्चतर एवं अधिकतर स्वतन्त्रता की ओर ले जाते हैं जहाँ वह सीमाओं एवं मान्यताओं से रहित होकर मुक्त या अप्रतिबन्धित मन से कार्य कर सके। एक बार जब शिष्य चेतना की इस अवस्था में स्थित हो जाता है तब गुरु उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की अनुमति दे देते हैं। गुरु का उद्देश्य शिष्य की स्वतन्त्रता या व्यक्तित्व को बाधित करना कदापि नहीं होता। उनका उद्देश्य तो अपने शरीर, मन, भावना एवं चेतना के प्रति शिष्य की समझदारी एवं सजगता को विकसित कर देना है ताकि उनके सही रूप में वह उनका अनुभव कर सके।

तान्त्रिक गुरु द्वारा शरीर त्याग के बाद भी उनके तथा शिष्य के बीच पूर्ण संचार सम्बन्ध स्थापित रहता है। वास्तव में इस मुख्य कारण से ही गुरु तान्त्रिक शिष्यों को प्रशिक्षित करते हैं ताकि आध्यात्मिक शक्ति का हस्तान्तरण जारी रह सके। यदि शिष्य शक्ति ग्रहण करने के योग्य होता है तो इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता कि गुरु भौतिक शरीर में हैं या नहीं। वह गुरु का माध्यम या विस्तार होता है। गुरु अपने देहान्त के बाद भी उसके माध्यम से कार्य करने में सक्षम होते हैं।

तन्त्रिक गुरु और शिष्य की परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही है। यह दावा किया जा सकता है कि यह उतनी ही पुरानी है जितनी कि मानव सभ्यता। इसका प्रसंग हमें प्राचीनतम ग्रन्थों– वेदों में मिलता है। वास्तव में शिव एवं उनकी पत्नी पार्वती के बीच के सम्बन्ध को प्रथम तान्त्रिक गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के रूप में लिया जाता है। शिव ने उनके सामने रहस्योद्घाटन किया तथा उन्हें परम गोपनीय बनाए रखने की चेतावनी दी। उनका उद्देश्य इस ज्ञान को अज्ञानियों तथा मूर्खों के हाथों में जाने से बचाना था जो इसका दुरुपयोग कर सकते हैं। इस चेतावनी के बाद भी हम पाते हैं कि आज तान्त्रिक परम्परा अनेक अनधिकारी एवं अयोग्य लोगों के हाथों में चली गयी है। उन्होंने इसे अभिचार, व्यभिचार एवं यौन स्वच्छन्दता में परिवर्तित कर दिया है। इस कारण तन्त्र के बारे में घोर गलतफहमी पैदा हो गई है। मनुष्य को इस महत्त्वपूर्ण विद्या के दुरुपयोग का मूल्य चुकाना होगा। यदि हम इस विद्या को इसके उचित एवं वास्तविक रूप में पुनर्जीवित करने में सक्षम हो जाएँ तो हमें अपनी अनेक समस्याओं का उत्तर मिल जाएगा। भारत में अभी भी अनेक ज्ञानी पुरुष और महिलाएँ हैं जिन्होंने इस ज्ञान

को सुरक्षित एवं कायम रखा है। उन्होंने इसे प्राय: परम गोपनीय रूप से तथा अनावश्यक प्रचार के कोलाहल से दूर रखा है।

एक तान्त्रिक शिष्य विकसित साधक होता है। गुरु उसे अन्तिम रूप देते हैं। एक व्यक्ति एक खोखले बांस की बांसुरी बनाता है तथा उससे मधुर संगीत उत्पन्न करता है। इसी प्रकार गुरु अहंकार रहित शिष्य को दुर्लभ या असाधारण आभूषण का रूप देते हैं। वह जहाँ भी जाता है, चमकता-झिलमिलाता रहता है।

कपटी शिष्य

किसी गुरु का एक शिष्य था। वह बहुत दिनों से गुरु के प्रति अपने विश्वास, निष्कपटता एवं चिरस्थायी भक्ति का दावा किया करता था। एक दिन गुरु ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने शिष्य से कहा, "मेरे साथ चलो, मुझे कुछ कार्य करना है।"

अत: गुरु और शिष्य एक साथ रवाना हुए। शिष्य यह जानने हेतु उत्सुक था कि गुरु उसे कहाँ ले जा रहे हैं। किन्तु उसने प्रतीक्षा करने का निर्णय किया। सर्वप्रथम वे एक वेश्या के घर में गए। पहले तो शिष्य घबरा गया। किन्तु बाद में उसने अपने आप से कहा, "ठीक है, यदि मेरे गुरु एक स्त्री के पास जाना चाहते हैं, तो यदि मैं भी वैसा ही करूँ तो इसमें क्या हानि है?" वेश्या के घर में गुरु ने शराब की माँग की और पीना प्रारम्भ कर दिया। शिष्य ने भी वैसा ही किया और थोड़ी ही देर में दोनों आनन्द में खो गए। शिष्य अपने कार्य को यह सोचकर उचित ठहराता रहा कि मैं तो सिर्फ अपने गुरु का अनुकरण कर रहा हूँ। क्या एक शिष्य का यह कर्त्तव्य नहीं है?

तदुपरान्त दोनों आश्रम की ओर वापस लौटे। रास्ते में एक रेलवे प्रांगण था। वहाँ गुरु ने अपने नंगे हाथों से उस तार को स्पर्श किया जिससे उच्च विद्युत धारा प्रवाहित हो रही थी। गुरु प्रतीक्षा करने लगे कि शिष्य भी वैसा ही करेगा। किन्तु शिष्य, जो अब तक गुरु के सभी कार्यों का अनुकरण कर रहा था, भयभीत होकर पीछे हट गया। उसने कहा, "आपके लिये तार को छूना ठीक है। आप सिद्ध पुरुष हैं। आपका कुछ नहीं बिगड़ेगा। किन्तु यदि मैं ऐसा करूँ तो मेरी मृत्यु निश्चित है।" उस शिष्य ने गुरु के उन सभी कार्यों का अनुकरण किया, जिनसे उसकी इन्द्रियाँ उत्तेजित हुईं। किन्तु वह उनके एक अन्य कार्य से रोषपूर्वक पीछे हट गया जो उसके "खाओ, पीओ, मौज करो" के जीवन-दर्शन के अनुकूल नहीं था।

यह कपटी शिष्य का सिर्फ एक साधारण उदाहरण है। गुरु में उसका विश्वास बनावटी होता है। उसका आत्मप्रेम गुरु के प्रति प्रदर्शित उसके प्रेम से बहुत अधिक होता है। उसकी अभिप्रेरणा एवं समर्पण तब तक बना रहता है जब तक कि परिस्थितियाँ उसके अनुकूल होती हैं।

कपटी शिष्य गुरु की सेवा प्राय: संन्यासी या तान्त्रिक शिष्य के रूप में करता है। उसकी इन्द्रिय अभिमुख एवं मनमौजी प्रकृति के लिये साधक का जीवन अति कठोर और अनुशासित होता है। साधना का अभ्यास करने के लिये व्यक्ति को चार या पाँच बजे प्रात:काल उठना होता है। कपटी शिष्य उस समय संसार के प्रति बेखबर होता है। वह सिर्फ स्वयं ही ऐसे अनुशासनों की अवहेलना नहीं करता, बल्कि दूसरों को भी उनकी व्यर्थता समझाने की कोशिश करता है। वह तर्क देता है कि ये अभ्यास सिर्फ शरीर के प्रति सजगता उत्पन्न करते एवं बढ़ाते हैं। अत: वे हमारे अन्दर आत्ममोही प्रवृत्तियाँ मजबूत करते हैं। वह कहता है, "शरीर तो अन्त में नष्ट हो जाएगा, यह क्षणभंगुर है। अत: इस पर क्यों समय नष्ट किया जाए। हमें सिर्फ आत्मचिन्तन करना चाहिये।" अन्तरात्मा पर चिन्तन के बहाने उसे कुछ घंटे अधिक सोने के आनन्द का अवसर मिल जाता है।

तान्त्रिक शिष्य होने का ढोंग करना कपटी शिष्य की बहिर्मुखी इन्द्रियों एवं आसक्त प्रकृति के लिये एक अच्छा छद्म आवरण हो जाता है। क्या ज्ञानी महापुरुषों ने यह घोषणा नहीं की है कि मांस, मदिरा एवं मैथुन उच्चतर अवस्थाओं की प्राप्ति के साधन हैं तथा उनका इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उपयोग किया जाना चाहिये? ऐसे ही अनेक प्रश्न इस प्रकार के शिष्यों के अति अनुकूल होते हैं। चूँकि कपटी शिष्य तन्त्र शास्त्र द्वारा अनुमोदित विद्या का अनुकरण कर रहा है, अत: वह अपने कार्य को उचित ठहराता है। यह एक ऐसा दर्शन है जिसे बहुत आसानी से अतिभोग का बहाना बनाया जा सकता है।

ऐसे ही कपटी शिष्य तन्त्र विज्ञान को लोगों के सामने गलत ढंग से प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लापरवाह एवं उत्तरदायित्वहीन लोगों के कारण ही तन्त्र जैसा मूल्यवान् विज्ञान निन्दित, दोषित एवं दूषित हुआ है। तन्त्र एक सर्वसमाहित एवं सुव्यवस्थित विज्ञान है। यद्यपि इसमें मैथुन को स्वीकार किया गया है, किन्तु यह तन्त्र का आधार नहीं है। कोई साधक साधना हेतु मैथुन के उपयोग के योग्य तभी समझा जाता है जब वह अनेक शर्तों को पूरा करता है। पूर्ण वैराग्य या वासना रहित अनासक्ति उनमें से एक है।

कभी-कभी कपटी शिष्य जीवन के कुछ वर्षों को आराम से गुजारने के लिये संन्यासी बन जाता है। इसके कई कारण हो सकते हैं– घर का वातावरण असह्य हो सकता है, या सरकार उसे फौज में भर्ती करना चाहती है, या उसकी प्रेमिका उसे छोड़कर दूसरे के साथ चली गयी है, या वह बिल्कुल निकम्मा है, आदि। ऐसी स्थिति में उसके लिये एक आश्रम से बेहतर स्थान और कहाँ हो सकता है। वह सोचता है कि मित्र भी उसके बारे में कहेंगे कि "उसके अन्दर आध्यात्मिक जागरण हो रहा था, यही उसकी परेशानी का कारण था।" इस प्रकार वह आदरणीय भी बन जाता है। किन्तु जब उसे लगता है कि आश्रम जीवन आसान और आरामदेह नहीं है तब किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अपनी कमजोरियों को समझने की अपेक्षा वह अपने परिवेश में दोष देखने लगता है। वह सभी गुरुओं, आश्रमों एवं आध्यात्मिक जीवन की घोर निन्दा करने लगता है। वह शीघ्र ही आश्रम छोड़ने का निर्णय ले लेता है। वास्तव में ऐसा शिष्य आश्रम में कदापि नहीं टिक सकता।

कपटी शिष्य अपने को प्राय: एक विद्वान् एवं प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में पेश करता है। वह सभी को सलाह देते रहता है, उन्हें भी जो नहीं चाहते। वह किसी प्रकार का अनादर या नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकता। संकट की घड़ी में उसका व्यक्तित्व चकनाचूर हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक सटीक कहानी है।

एक व्यक्ति ने एक तोता खरीदा तथा उसे 'राम, राम, राम', कहने का प्रशिक्षण दिया। कुछ ही दिनों मे वह इस कार्य में कुशल हो गया। दिन भर वह 'राम, राम, राम' चीखते रहता था। एक दिन उसके मालिक ने उसे एक पिंजरे में बन्द कर धूप में रख दिया। एक लावारिस बिल्ली तोते को खाने के लिये पिंजरे पर झपटी। तोता भयभीत होकर चीखने लगा। किन्तु भय के कारण वह 'राम, राम, राम' कहना भूल गया एवं अपनी मूल भाषा में बोलने लगा। कपटी शिष्य के साथ भी ऐसा ही होता है। उसमें निष्कपटता की कमी होती है। अत: माया से साधारण मुकाबला होते ही उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है, इच्छाशक्ति कमजोर हो जाती है तथा गुरु में विश्वास समाप्त हो जाता है। उसे विचलित करने के लिये माया के प्रत्यक्ष आक्रमण की आवश्यकता नहीं होती।

एक अन्य प्रकार का भी कपटी शिष्य होता है, जिसे हम चापलूस या पराश्रयी कह सकते हैं। वह गुरु की प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि तथा नाम पर फलता-

फूलता है। वह ऐसे सुप्रसिद्ध गुरु को ढूँढ़ निकालता है जिनके पास बड़ी संस्थाएँ हों। यदि दूसरे लोग उसके गुरु का आदर नहीं करते तो वह अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। उसकी सुरक्षा गुरु के नाम तथा उनकी संस्थाओं की सम्पदा पर निर्भर करती है। वह हर प्रकार के प्रचार को पसन्द करता है। वह चाहता है कि संसार उसके गुरु को स्वीकार करे तथा उनकी जय-जयकार करे। उनकी इसी प्रसिद्धि के आधार पर उसका कमजोर एवं डाँवाडोल विश्वास निर्भर रहता है। वह गुरु के भक्तों एवं शुभचिन्तकों की सहायता पर फलता-फूलता है तथा उनके पते की एक सूची रखता है। इसका उपयोग वह बिना किसी झिझक के अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है। ऐसे शिष्य वैभव एवं प्रतिष्ठा के मोह से ग्रस्त होते हैं, यद्यपि आदर प्राप्त करने लायक उनका कोई कार्य नहीं होता।

मोहग्रस्त प्रवृत्तियों के कारण ऐसे शिष्यों का दृष्टिकोण अवरुद्ध एवं संकीर्ण हो जाता है। वे किसी अन्य गुरु की प्रतिष्ठा एवं प्रज्ञा को न तो स्वीकार करते और न महत्त्व देते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि नाम, प्रतिष्ठा, ज्ञान और विवेक किसी एक व्यक्ति के जन्म सिद्ध अधिकार नहीं होते। वे उनको प्राप्त होते हैं जो उनके योग्य होते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि एक शिष्य को सभी निष्कपट एवं विवेकी लोगों की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। हाँ, उनकी भक्ति एवं समर्पण सिर्फ उनके अपने गुरु के प्रति हो सकता है।

कपटी शिष्य की विशेषताओं पर अनेक पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, किन्तु यह हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो उसके मन के दाव-पेंच की एक झलक प्रस्तुत करना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य आलोचना करना नहीं, बल्कि कुछ उपयोगी संकेत देना है। यदि हमारे अन्दर ये प्रवृत्तियाँ हैं तो हमें इन्हें पहचानना एवं निर्मूल करना चाहिये।

कपटी शिष्य का आध्यात्मिक जीवन बहुत छोटा होता है। गुरु बहुत सावधान होते हैं तथा ऐसे शिष्यों को तुरन्त पहचान जाते हैं। किन्तु वे दयालु स्वभाव के होते हैं। वे ऐसे शिष्यों को विशेष परिस्थितियों में डालते हैं ताकि वे अपनी त्रुटियों को समझें एवं अपना आध्यात्मिक विकास कर सकें। किन्तु इतने पर भी यदि वह अपनी कपट से बाज नहीं आता तो उसे कठोर एवं निर्दय भाग्य के हाथों छोड़ दिया जाता है। ऐसा शिष्य एक कपटी गुरु की छत्र-छाया में ही टिक सकता है, क्योंकि वे एक-दूसरे के पूरक होंगे।

गुरु-आज्ञा पालन

आप किसी भी प्रकार के शिष्य क्यों न हों, गुरु के प्रति आपको विश्वास, भक्ति, समर्पण, अहंकारहीनता, नम्रता, निष्कपटता एवं पूर्ण आज्ञापालन का भाव विकसित करना ही होगा। इस सम्बन्ध में कुछ लोग दूसरों की तुलना में अधिक भाग्यवान होते हैं, चूँकि उनके सहज एवं स्वाभाविक व्यवहार से ही ये गुण प्रकट होते हैं। कुछ लोगों में ये विशेषताएँ निहित होती हैं, किन्तु ये बाह्य आवरण से ढकी होती हैं जो कि रक्षा-कवच का कार्य करता है।

गुरु की उपस्थिति, प्यार एवं प्रेरणा से ऐसे लोगों की असली प्रकृति धीरे-धीरे उनके सामने प्रकट होती है। कुछ अन्य लोगों के लिये इन आदर्शों का पालन करना बहुत कठिन होता है; ये उनके स्वभाव के विपरीत होते हैं। किन्तु उन्हें इन गुणों की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयासरत रहना चाहिये। यदि वे ईमानदारी से प्रयास करेंगे तो गुरु निश्चित रूप से तब तक उनकी सहायता करेंगे जब तक कि वे सफल न हो जाएँ।

शिष्य को हमेशा यह समझना चाहिये कि उन्होंने गुरु का चुनाव उनकी सेवा करने के लिये किया है, इसलिये नहीं कि गुरु को उनकी आवश्यकता है, बल्कि उन्होंने गुरु का चुनाव अपने विकास, विस्तार और बेड़ियों को जो उन्हें बाँधे हैं, फेंक देने के लिये किया है। यदि वे इस प्रकार का विचार रखेंगे तभी गुरु द्वारा दिये गए निर्देशों का पालन कर सकेंगे, चाहे वे निर्देशन कितने भी व्यर्थ दिखे। यदि इस विचार के विपरीत विचार रखेंगे तो उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि उनका विश्वास और भक्ति नष्ट हुई, तो वे एक शिष्य होने का अर्थ पूछना प्रारम्भ कर देंगे और फिर यहीं से भ्रम पैदा होने लगेगा।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध तर्क या सीमित बुद्धि पर आधारित नहीं है। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जो उच्चतर चेतना पर आधारित है। जिसकी यह चेतना समाप्त हो गई है उसे प्रत्येक कार्य व्यर्थ लगेगा। बुद्धि मन को नकारात्मक सन्देहों से ढक लेगी। अस्थिर आस्था से युक्त शिष्य सोचेगा कि धन या पुरस्कार की प्राप्ति के बिना आश्रम में इतना कठिन कार्य करना व्यर्थ है। वह कल्पना करेगा कि यदि अन्यत्र इतना काम किया जाये तो पर्याप्त धन तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। उसके मन में इसी प्रकार के अनेक विचार आयेंगे। आश्रम आने के पूर्व जिस जीवन को उसने अनुपयोगी समझ कर त्याग दिया था वह अब उतना बुरा नहीं, बल्कि मोहक लगने लगेगा।

ये विचार आ सकते हैं और नहीं भी आ सकते हैं। किन्तु यह पूर्णत: शिष्य पर निर्भर रहता है कि वह इनका सामना किस प्रकार करता है। यदि शिष्य निरन्तर भक्ति एवं विश्वास बनाये रखने का प्रयास करेगा तो वह मन की अशांति को झेलने में सक्षम हो जाएगा, अन्यथा उसकी शक्ति बिखर जाएगी एवं इच्छाशक्ति कमजोर हो जाएगी। आश्रम में रहते हुए भी वह अपूर्णता की भावना से ग्रस्त होगा।

गुरु से सम्बन्ध मजबूत करने के लिये पूर्ण आज्ञापालन आवश्यक है। यह बात वैसे साधक एवं गृहस्थ शिष्यों के लिये भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है जो आश्रम में निवास नहीं करते। एक बात स्मरण रखनी चाहिये – गुरु पागल या विक्षिप्त नहीं होते। वे हमारी सीमाओं को हमसे अधिक अच्छी तरह जानते हैं। यदि वे हमें कुछ करने की आज्ञा देते हैं तो हमें निश्चित रूप से यह समझना चाहिये कि उन्होंने पर्याप्त विचार करने के बाद ही ऐसा किया है। यदि वे कोई ऐसा कार्य करने के लिये हम पर जोर डाल रहे हैं जो हमें पसन्द नहीं है, तो इसका कारण यह है कि हमारे व्यक्तित्व में कुछ अवरोध हैं, जिन्हें हटाना हमारे आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है।

इसी कारण प्राय: यह सलाह दी जाती है कि शिष्य को बच्चे के समान निष्कपट एवं विनोदशील होना चाहिये। उसकी आवश्यकताएँ सामान्य, कार्य पवित्र एवं शब्द सुखद तथा प्रमुदित करने वाले होने चाहिये। प्रौढ़ होने पर हम बच्चों का सीधापन या निष्कपट भोलापन खो बैठते हैं। अत: हम प्राकृतिक स्वभाव का सुख एवं आनन्द नहीं उठा पाते। हम मन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को रोक देते हैं। इससे एक बाधा उत्पन्न होती है जो उस शक्ति के मार्ग में रुकावट डालती है जिसे मुक्त करने का हम प्रयास कर रहे हैं। गुरु

चाहते हैं कि शिष्य अपने मन एवं अभिव्यक्ति की इस स्वतन्त्रता को धीरे-धीरे विकसित करे।

गुरु इस बात की परवाह नहीं करते कि शिष्य लिखना-पढ़ना जानता है या नहीं, या वह धनी है या गरीब। ये सभी बाह्य प्रदर्शन या आवरण हैं। वे सिर्फ उसके आत्मविकास में गहरी रुचि लेते हैं तथा उससे यही अपेक्षा रखते हैं। इस हेतु शिष्य को मन की मुक्त अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधा नहीं डालनी चाहिये या हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। समर्पण आदमी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पूर्ण आत्मसमर्पण होने पर शिष्य के विचार गुरु के साथ एकाकार हो जाते हैं। यदि शिष्य अवज्ञाकारी, दुराग्रही तथा अपने ढंग के विशिष्ट व्यक्तित्व वाला हो तो गुरु चाहकर भी कुछ नहीं कर सकते। यह एक निश्चित आध्यात्मिक नियम है।

शिष्य द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण के बाद उसका मन गुरु के मन से मिल जाता है। तब न केवल सचेतन अवस्था में, बल्कि ध्यानावस्था में भी उनका मार्गदर्शन मिलने लगता है। गुरु के प्रति पूर्ण एवं अटल आज्ञापालन द्वारा वह अपने चेतन, अवचेतन एवं अचेतन मन को उनका निर्देश ग्रहण करने हेतु प्रशिक्षित करता है। ध्यान की उच्चतर अवस्था में अपनी अनुभूतियों पर शिष्य का नियन्त्रण नहीं होता। उस समय उसे गुरु के मार्गदर्शन की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। किन्तु उस 'मनरहित अवस्था' में उनके निर्देशों के प्रति ग्रहणशील होने के लिये शिष्य को उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना होगा। शिष्य को निश्चित रूप से यह याद रखना चाहिये कि यदि वह सचेतन अवस्था में गुरु-आज्ञा का पालन नहीं कर सकता तो अचेतन अवस्था में कदापि ऐसा नहीं कर सकेगा।

आत्मसमर्पण एवं आज्ञापालन का उद्देश्य सभी स्तरों पर गुरु का सक्षम माध्यम बनना है। मुख्यत: इसी कारण से आज्ञापालन पर इतना अधिक बल दिया जाता है। ऐसा इसलिये नहीं किया जाता कि गुरु एक निरंकुश स्वामी तथा शिष्य उनका दास है। पूर्ण आज्ञापालक शिष्य को ही गुरु आध्यात्मिक शक्ति का हस्तान्तरण कर सकते तथा अपने कार्यों का माध्यम बना सकते हैं।

गुरु के प्रति नकारात्मकता

जब शिष्य के मन में गुरु के प्रति नकारात्मक भाव आने लगते हैं तो यह उसके लिये संकट की घड़ी होती है। नकारात्मकता तब पैदा होती है जब विश्वास टूटता है तथा सन्देह एवं शंकाएँ पनपती हैं। विश्वास ही शिष्य की सम्पत्ति होती है; यही उसका जीवन-तत्त्व है। जिस प्रकार एक धनी व्यक्ति के लिये धन तथा एक वैज्ञानिक के लिये बुद्धि महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार विश्वास एक शिष्य के सम्पूर्ण जीवन का आधार होता है। विश्वास समाप्त हो जाने पर आध्यात्मिक जीवन खतरे में पड़ जाता है तथा शिष्य दीन-हीन हो जाता है। एक बार विश्वास नष्ट हो जाने पर फिर से उसे प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। अत: शिष्य को अपने विश्वास की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार एक कंजूस व्यक्ति अपने धन की रक्षा करता है।

गुरु के कुछ कार्यों से शिष्य के मन में यदा-कदा नकारात्मक विचार उत्पन्न हो सकते हैं। उनके किसी वचन या कर्म के प्रति उसकी प्रतिक्रिया तीखी हो सकती है। बहुधा शिष्य का भ्रमित मन गुरु में दोष आरोपित करता है। किन्तु यदि गुरु में दोष हो तब भी शिष्य का यह कर्त्तव्य और उत्तरदायित्त्व है कि वह परिस्थितियों से ऊपर उठे। एक बार सन्देह का बादल छँट जाने पर शिष्य निश्चित रूप से यह अनुभव करेगा कि उसकी नकारात्मकता उसके भ्रमित मन की उपज थी।

यदि शिष्य ने अपने आपको गुरु को समर्पित कर दिया है तो उसे अनेक बातों की अनदेखी करनी होगी तथा अन्य अनेक बातों को स्वीकार करना होगा। शिष्य का यही गुण उसकी शक्ति है तथा इसी में उसका आध्यात्मिक विकास निहित है। जब शिष्य ने गुरु का चयन किया तो उसने उनमें कुछ विशेषताएँ देखकर ही ऐसा किया होगा। उसे अन्य बातों की

अवहेलना करते हुए उस प्रथम भाव को अपने मार्गदर्शक के रूप में बनाये रखना चाहिये।

यदि शिष्य अपनी समझदारी तथा इच्छाशक्ति द्वारा अपना विश्वास पुनर्जीवित न कर सके तो उसे गुरु के पास जाकर अपना भ्रम दूर करना चाहिये। गुरु ऐसी अनेक बातों का स्पष्टीकरण करेंगे जिन्हें शिष्य स्वयं नहीं समझ सकता। इस प्रकार अनेक जटिलताएँ या भ्रांतियाँ दूर हो सकती हैं।

तथापि यदि इतने पर भी शिष्य के सन्देह दूर न हों तो उसे गुरु से सलाह लेनी चाहिये कि वह क्या करे। इस स्थिति में एक ईमानदार एवं निष्कपट गुरु यह अनुभव कर लेंगे कि अब वे उस शिष्य का आध्यात्मिक मार्गदर्शन नहीं कर सकेंगे। वे उसे दूसरा गुरु ढूँढ़ने की सलाह दे सकते हैं। कुछ मामलों में वे शिष्य को यह स्पष्ट सलाह भी दे सकते हैं कि कौन उसके सही गुरु हो सकते हैं।

इस स्थिति में यह महत्त्वपूर्ण है कि शिष्यों के अन्दर कोई प्रतिक्रिया न हो, किन्तु प्राय: उनके अन्दर घोर प्रतिक्रिया होती है। वे मानने लगते हैं कि गुरु की कोई आवश्यकता ही नहीं है। शिष्य को इस प्रकार के जाल में नहीं फँसना चाहिये। उसे शान्तिपूर्वक बैठकर परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। उसे यह अनुभव होना चाहिये कि उसका आध्यात्मिक जीवन विषम संकट में है। यदि वह अपना विश्वास पूर्णत: खो बैठता है तो उसके आध्यात्मिक जीवन के पुनर्जीवित होने की कोई सम्भावना नहीं है।

यदि शिष्य के मन में नकारात्मक विचार आयें तो उसके लिये यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि यह या तो गुरु का दाँव-पेंच है या उसके अपने मन की माया। यदि उसका विश्वास अटल है तो वह इस माया पर विजय पा सकता है। कभी-कभी शिष्य की परीक्षा लेने के लिये गुरु भी अनेक परिस्थितियाँ पैदा कर सकते हैं। उनका अभिनय इतना प्रामाणिक लगता है कि सबसे सच्चा शिष्य भी भ्रम में पड़ सकता है। वे शिष्य के साथ हर प्रकार का व्यवहार करते हैं ताकि वह अपनी सीमाओं को समझ कर उन पर विजय प्राप्त कर सके। वे शिष्य के प्रति प्रेमवश ही ऐसा करते हैं। उनका लक्ष्य तो सिर्फ यह है कि उसका आध्यात्मिक विकास हो।

किन्तु गुरु के उद्देश्यों की शुद्धता के बावजूद शिष्य को प्राय: उनके कार्यों के प्रति गलतफहमी हो जाती है तथा वह नकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उसका मन कटुता से भर जाता है तथा वह नकारात्मक

प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उसका मन विद्वेष से भर जाता है तथा वह गुरु को अन्यायी एवं निर्दय समझने लगता है। वह गुरु के प्यार को नहीं समझ सकता है। यह वास्तव में उसके लिये दुर्भाग्यपूर्ण है। शिष्य के लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए कि गुरु उसके प्रति दयालु हैं या कठोर, सुखदायी हैं या दु:खदायी, सतर्क हैं या उदासीन। उनके प्रति उसका विश्वास एवं प्रेम हर परिस्थिति में निरापद बना रहना चाहिये, क्योंकि वह निश्चित रूप से जानता है कि मात्र गुरु ही उसके वास्तविक मित्र एवं मार्ग-दर्शक हैं।

शिष्य को पूर्ण विश्वास के साथ आत्मा एवं हृदय खोलकर गुरु के सामने रख देना चाहिये। विश्वास सिर्फ एक धारणा या विचार नहीं है। यह एक अति प्रभावशाली शक्ति है। दृढ़ विश्वास से युक्त व्यक्ति जीवन की किसी भी बाधा पर विजय प्राप्त कर सकता है। विश्वास के बल पर चमत्कारपूर्ण कार्य हो सकते हैं।

एक उत्साही एवं जिज्ञासु शिष्य के लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए कि गुरु कैसी परिस्थितियाँ पैदा करते हैं। उसके द्वारा किसी प्रकार की नकारात्मकता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिये। पूर्ण विश्वास से युक्त शिष्य के आध्यात्मिक विकास के मार्ग में कोई भी बाधा रुकावट नहीं डाल सकती। किन्तु यदि वह नकारात्मकता के चक्कर में पड़ा रहेगा तो उसे अवनति के दलदल से कोई नहीं निकाल पाएगा। आध्यात्मिक विकास हेतु प्रयास करने से उसे कोई लाभ नहीं मिलेगा, वह क्रमश: नीचे ही धँसता चला जायेगा। हानि सिर्फ उसकी होगी; अन्य कोई भी इससे प्रभावित नहीं होगा।

शिष्य का अहंकार

शिष्य का अहंकार गुरु एवं उसके बीच की प्रमुख बाधा है। अहंकार के कारण ही आध्यात्मिक मार्ग पर वह बार-बार लड़खड़ाता है तथा अपनी भक्ति, विश्वास, नम्रता एवं एकाग्र समर्पण का भाव खो बैठता है। यह अज्ञान का मूल कारण है। यह मनुष्य पर छायी हुई माया या जाल है। यदि शिष्य इसे नियन्त्रित नहीं कर सकता तो यह कैंसर के समान फैल जाता है तथा उसे परास्त कर देता है। आध्यात्मिक जीवन में अहंकार के लिये कोई स्थान नहीं है।

सांसारिक जीवन में हम दूसरों के प्रभावों का विरोध करने के लिये अहंकार का उपयोग करते हैं। वास्तव में इसके बिना हमारा जीना कठिन हो जायेगा। अपने दैनिक जीवन में हमारी मुलाकात ऐसे अनेक लोगों से होती है जिनकी रुचि सिर्फ अपनी प्रगति में होती है। अपने लाभ के लिये दूसरों का शोषण करने में वे तनिक भी नहीं हिचकते। ऐसे लोगों का मुकाबला करने के लिये हम अपने अहंकार का उपयोग करते हैं। अपने व्यक्तित्व बोध के कारण ही हम ऐसी प्रतिक्रिया करते हैं। यदि हममें अहंकार नहीं होगा तो हम इस बात पर ध्यान नहीं देंगे कि कोई व्यक्ति बेईमान है तथा उसने हमें धोखा दिया। ऐसी बातों को हम सहजता से स्वीकार कर लेंगे। सांसारिक अन्त:क्रियाओं के सन्दर्भ में इस प्रकार का व्यवहार करने वाला अहंकाररहित व्यक्ति पिस जायेगा, नष्ट हो जायेगा।

व्यक्ति का अहंकार ब्रेक का कार्य करता है। मोटरकार के ब्रेक का उपयोग उसे नियन्त्रित करने तथा दुर्घटना रोकने के लिये किया जाता है। किन्तु यदि चालक ब्रेक के ऊपर से अपना पैर नहीं हटायेगा तो गाड़ी चलेगी ही नहीं। अत: आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि इस

अहंकार रूपी ब्रेक का यथासम्भव कम-से-कम उपयोग किया जाये। दूसरों से पारस्परिक व्यवहार में शिष्य को अपने अहंकार को दबाना चाहिये तथा अपने अन्दर जो कुछ घटित हो रहा है उसे साक्षी-भाव से देखना चाहिये। इस प्रकार वह अहंकार के क्रिया-कलापों से अवगत होगा तथा स्वयं को बिना गम्भीर नुकसान पहुँचाये उसका मुकाबला करने में सक्षम होगा।

तथापि गुरु से अपने सम्बन्ध के प्रसंग में शिष्य को अपने अहंकार का पूर्ण उन्मूलन करना ही होगा। गुरु के सामने अहंकार का कोई स्थान नहीं है। उस व्यक्ति के सामने अहंकार के उपयोग का क्या अर्थ हो सकता है जिसकी रुचि सिर्फ आपकी आध्यात्मिक उन्नति में है? गुरु का लक्ष्य घटिया एवं घृणित प्रयोजनों से प्रेरित नहीं होता। वे तो सदैव शिष्य का शुभ ही चाहते हैं। शिष्य के मन में गुरु के उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी हो सकती है। किन्तु यह उसका अपना दोष है, गुरु का नहीं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सन्दर्भ में शिष्य द्वारा अहंकार का उपयोग होने से यह सम्बन्ध गंभीर खतरे में पड़ जायेगा। गुरु का सामना करने के लिये अहंकार का उपयोग वैसी ही भूल है जैसे कि रस्सी को साँप समझकर घबराना।

गुरु-शिष्य के व्यक्तित्व की इस विसंगति से पूर्णत: परिचित होते हैं तथा समय-समय पर उसका अहंकार व्यवच्छेदन करते रहते हैं। जिस प्रकार एक शल्य-चिकित्सक कैंसर के अर्बुद (ट्यूमर) को काटकर निकालते हैं उसी प्रकार गुरु भी शिष्य के अहंकार की शल्य-चिकित्सा करते हैं। इस चिकित्सा की सफलता गुरु तथा शिष्य दोनों पर निर्भर रहती है। इस हेतु यह आवश्यक है कि गुरु अति कुशल अहंकार चिकित्सक हो एवं शिष्य पुन: अपनी शक्ति तथा विश्वास प्राप्त करने में सक्षम हो।

श्रेष्ठता का भाव एक अन्य खतरा है, जिसका सामना प्रत्येक शिष्य को करना पड़ता है। गुरु के कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन करने से उसके मन में यह भाव विकसित हो सकता है। बहुधा शिष्य उद्धत् और दम्भी हो जाता है तथा सोचने लगता है कि उसकी सफलता उसके अपने प्रयासों का परिणाम है। वह यह भूल जाता है कि गुरु के मार्गदर्शन के कारण ही उसकी चेतना विकसित हुई है तथा वह सकारात्मक रूप से एवं सफलतापूर्वक कार्य करने में सक्षम हुआ है। कभी-कभी तो शिष्य यह भी सोच सकता है कि वह गुरु से महान् है। यदि वह इसी प्रकार सोचता रहता है तो शीघ्र ही अहंकार द्वारा पिसा जाता है तथा माया का शिकार हो जाता है।

अहंकार आदमी का एक अति सूक्ष्म तत्त्व है। यह किस प्रकार अपना जाल फैलाता है इसे समझना कठिन या प्राय: असम्भव है। इसका सामना करने के लिये शिष्य को हमेशा बहुत सतर्क रहना चाहिये। असावधान होते ही यह उसे दबोच लेगा। उसे सदैव अपने मन को साक्षी-भाव से देखते रहना चाहिये। शवपेटी वाहक का जैसा अनासक्त भाव शवपेटियों के प्रति होता है उसी भाव से एक शिष्य को भी अपनी प्रतिक्रियाओं, अभिप्रेरणाओं तथा परिस्थितियों का मूल्यांकन करते रहना चाहिये।

अहंकार आश्चर्यजनक परिस्थितियों में प्रकट हो सकता है। इसका एक रूप परित्याग भी हो सकता है। संन्यासी बनने के लिये भौतिक सुखों का त्याग करना तथा पुन: आध्यात्मिक जीवन के प्रति आसक्ति, स्नायविक असन्तुलन एवं स्थायी धारणाओं से युक्त दृष्टिकोण विकसित कर लेना अर्थहीन है। इसीलिये प्राय: कहा जाता है कि वास्तविक परित्याग अन्दर से उत्पन्न होता है। अन्त में तो साधक को परित्याग का भी परित्याग करना होता है।

परम्परागत संन्यास समारोह में शिष्य मन्त्रोच्चारण करता है तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूपों में स्थित अहंकार के परित्याग का व्रत लेता है। अहंकार व्यक्तित्व का बीज है। यह गुरु तथा शिष्य को एक-दूसरे से अलग करता है।

आओ मेरी कुटिया में

धीरे बन्धु, धीरे-धीरे,
आओ मेरे निर्जन घर में।
नहीं कहीं पथ, नहीं उजाला,
भीतर बाहर, काला काला।
युग युग का है दोष समाया,
आओ मेरे निर्जन घर में।
चलो अंधेरे, तीरे तीरे,
चलो चलो तुम दिन और राती,
तूफान, बवंडर, पतझड़, आँधी।
तुमने आँचल पकड़ लिया है,
सत्य जगाओ धीरे-धीरे,
आओ मेरे निर्जन घर में।

पथ में गड्ढे बहुत पड़ेंगे,
बाधाएँ अगनित पड़ेंगी,
काले अँधियारे ने तुमको,
घेर लिया है सभी ओर से
धीरे बन्धु धीरे-धीरे,
आओ मेरे निर्जन घर में।

पाप पुरातन चले गये सब,
निर्भय हो उन्मुक्त हृदय से,
बनो फूल मानवता के तुम,
ज्योति पसारो पंखुड़ियों के,
जिन्हें जरूरत हो उन सबको,
पर धीरे बन्धु धीरे-धीरे।

– स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

समर्पण

गुरु के साथ तादात्म्य स्थापित करने हेतु शिष्य को स्वयं को उनके प्रति पूर्णरूपेण समर्पित करना होगा। जब आप अपने आपको पूर्णत: समर्पित करते हैं तो आप गुरु में पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। सम्पूर्ण समर्पण में ही आध्यात्मिक जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान निहित है। तब आपके लिये किसी आसन, प्राणायाम या क्रियायोग के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती। चूँकि आपका तो अस्तित्व ही समाप्त हो गया है, अत: अभ्यास करेगा कौन?

ऐसा समर्पण कैसे सम्भव होता है? कोई साधक समर्पण के लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकता है? वास्तव में समर्पण की कोई विधि, कोई पद्धति नहीं होती। समर्पण के मार्ग पर समर्पण ही एकमात्र विधि है। अन्य मार्गों पर चलने की अनेक विधियाँ तथा तकनीकें हैं। अपनी प्रगति हेतु आपको इन विधियों एवं तकनीकों को अपनाना पड़ता है। आप इन पद्धतियों द्वारा अपनी शक्ति को परिचालित एवं संतुलित करने का पर्याप्त प्रयास करते हैं, किन्तु समर्पण के मार्ग पर किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। यह या तो स्वत: स्फूर्त होता है, या फिर एकदम नहीं होता।

ज्यों ही आप समर्पण की कोई तकनीक अपनाते हैं, यह समर्पण नहीं रह जाता, क्योंकि तब आप एक आवरण, एक धोखा निर्मित कर लेते हैं और जिस क्षण आप एक कपट रच लेते हैं, आप अनुभव से अलग हो जाते हैं। आप समर्पण की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से लीन नहीं हो पाते। तकनीकों का उपयोग करने से आपका एक भिन्न व्यक्तित्व कायम रहता है, किन्तु सम्पूर्ण समर्पण की स्थिति में आपका व्यक्तित्व पूर्णत: नष्ट हो जाता है। जैसे ही आप स्वयं से प्रश्न करते हैं कि मैं कैसे समर्पण करूँ, आप समर्पण के

उद्देश्य को ही अर्थहीन बना देते हैं। आप अपने आप से यह प्रश्न कैसे कर सकते हैं कि मैं कैसे प्रेम करूँ? या तो प्रेम होगा या नहीं होगा। आप स्वयं को प्रेम करने का प्रशिक्षण नहीं दे सकते। यह एक नैसर्गिक, निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। प्रेम का अर्थ है पूर्णत: खुला, सर्वथा सुभेद्य होना। सच्चे प्रेम में ऐसी कोई भी सुरक्षा व्यवस्था नहीं होती जिससे आप चिपके रहें। आपको प्रेम के लिये सर्वस्व न्योछावर कर देना पड़ेगा।

समर्पण के साथ भी यही बात है। प्रेम और समर्पण में गहरा सम्बन्ध है। वे साथ-साथ चलते हैं; उनमें सह-अस्तित्व होता है। जहाँ प्रेम है, वहाँ समर्पण है। हम सोचते हैं कि हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। हम अपने मित्रों, माता-पिता, पति या पत्नी से प्रेम करते हैं। किन्तु क्या वहाँ पूर्ण समर्पण है? जिस व्यक्ति के प्रति आपने स्वयं को समर्पित कर दिया है, क्या उसके सामने आपका अस्तित्व पूर्णत: समाप्त हो गया है? यदि नहीं, तो आपका प्रेम शर्तों एवं सीमाओं में युक्त है, अत: यह प्रेम हो ही नहीं सकता।

गुरु के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में भी शिष्य प्राय: धोखे में रहता है। वह सोचता है कि मैं गुरु से प्रेम करता हूँ तथा उनके प्रति पूर्णतया समर्पित हूँ, किन्तु शर्तें एवं सीमाएँ बनी रहती हैं। उसका प्रेम एक तकनीक होता है तथा समर्पण एक दिखावा। सम्पूर्ण समर्पण की स्थिति में उसके अपने मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। गुरु से सम्बन्ध के प्रसंग में उसके 'मैं-पन' का लोप हो जाता है। वह पूर्णत: खुला, सुभेद्य और निष्कपट बन जाता है। गुरु के समक्ष उसकी अपनी कोई रुचि, पसन्द या विकल्प नहीं रह जाता है। वह एक सेवक, एक दास बन जाता है, उसका सम्पूर्ण अस्तित्व गुरु को ही अर्पित होता है।

ऐसा होने पर ही शिष्य के जीवन में गुरु की वास्तविक कृपा की वर्षा होने लगती है, क्योंकि उसने अपने को पूर्णरूपेण रिक्त कर लिया है, ग्रहणशील बन गया है और अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया है। अब उसके पास कुछ नहीं है। वह एक बच्चे के समान समस्त आवरण एवं सीमाओं से रहित हो गया है। जब गुरु ऐसे शिष्य में शक्ति का सम्प्रेषण करते हैं तो उसके जीवन को पूर्ण रूप से रूपान्तरित कर देते हैं।

अत: समर्पण करना श्रेयष्कर है, किन्तु यह आसान नहीं है। यह संसार का सर्वाधिक कठिन कार्य है। आसन, प्राणायाम, जप, क्रियायोग, आदि सहज हैं, क्योंकि उनकी निश्चित विधियाँ हैं। आप कोई भी विधि अपनाने

के लिये स्वयं को आसानी से प्रशिक्षित कर सकते हैं, किन्तु समर्पण के लिये कोई विधि, तकनीक या प्रशिक्षण नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि शिष्य द्वारा गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण के मार्ग में कौन-सी बाधा है? यह अवरोध क्या है? और यह इतना दु:साध्य क्यों है?

हम में से प्रत्येक, चाहे हम कोई भी क्यों न हो, अहंकार के साथ और अहंकार में केन्द्रित रहते हैं। हम 'मैं-पन' के भाव से युक्त होकर अपनी जीवन-यात्रा जारी रखते हैं। यह एक प्रतिरक्षा कवच के समान है, जिसका उपयोग हम अपनी सुरक्षा के लिये करते हैं। व्यक्तित्व की पहचान के भाव के बिना हम स्वयं को निराशाजनक एवं दयनीय रूप से खोया हुआ अनुभव करते हैं।

पहचान का यह भाव आपके दिन-प्रतिदिन के सांसारिक जीवन में प्रासंगिक हो सकता है, किन्तु गुरु से सम्बन्ध एवं आपके आध्यात्मिक जीवन के प्रसंग में यह सबसे बड़ा अवरोध है। आपके तथा सम्पूर्ण समर्पण के बीच की बाधा यह अहंकार ही है। आपका अहंकार आपको समर्पण करने से रोकता है। आपके अन्दर का अहंकार मरना नहीं चाहता और समर्पण के साथ ही वह पूर्णत: विकलांग हो जायेगा। अत: सम्पूर्ण समर्पण के खतरों के सम्बन्ध में वह आपको सदैव स्वत: सलाह देता रहेगा। और चूँकि आप 'मैं-पन' के भाव से अत्यधिक मदहोश और पूर्णत: मोहित रहते हैं, अत: आपका अहंकार आपको पराभूत करने में सफल हो जाता है। आप उसके सामने समर्पण कर देते हैं। अत: गुरु के प्रति समर्पण तथा आपके अपने अहंकार के प्रति समर्पण के भावों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है।

किन्तु यदि आप अपने अन्दर की इस प्रतिरक्षा व्यवस्था के प्रति सजग एवं अहंकार के क्रिया-कलापों के प्रति सचेत हो सकें तो यह स्वत: विघटित और विखंडित होने लगेगा, क्योंकि ज्योंही आप किसी समस्या पर अपनी सजगता को केन्द्रित करते हैं, उसका अपने आप समाधान होने लगता है। सतत् सजगता के द्वारा आप में अन्तर्निहित अहंकार क्रमश: अधिक दुर्बल होता जाता है और यदि आप इस बात के प्रति बहुत सतर्क रहें कि अहंकार को सशक्त होने का कोई अवसर न मिले तो एक दिन आप अनुभव करेंगे कि आप अस्तित्वहीन हो गये हैं। जैसे ही आप अनुभव करेंगे कि 'मैं नहीं हूँ', आप पूर्णत: समर्पित हो जायेंगे। समर्पण तभी होता है जब आप अहंकार के क्षेत्र का अतिक्रमण कर जाते हैं।

जब आप स्वयं को गुरु को समर्पित करते हैं तो आप एक घाटी, एक शून्य स्थान, अगाध गर्त्त या वितल खाई के समान हो जाते हैं। आप गहराई प्राप्त करते हैं, ऊँचाई नहीं। इस समर्पण का अनुभव अनेक प्रकार से हो सकता है। गुरु आप के अन्दर प्रकट होने लगते हैं; उनकी शक्ति आप में प्रवाहित होने लगती है। गुरु की शक्ति तो निरन्तर प्रवाहित हो रही है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये आपको एक गर्भ, एक छात्र बनना होगा। आपको नीचे उतरना होगा, झुकना होगा। यदि आप उनसे ऊपर रहेंगे तो प्रवाहित होती हुई यह शक्ति आप तक नहीं पहुँच सकेगी। आप इसे प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अत: गुरु के सम्मुख नतमस्तक होइये।

गुरु के प्रति सामान्य समर्पण से भी शक्ति प्रवाहित होने लगती है। अचानक आप उस शक्ति के वाहन बन जाते हैं। हमने ऐसी सैकड़ों कहानियाँ सुनी हैं कि किस प्रकार मात्र एक स्पर्श या दृष्टि से अनेक लोगों को आत्म-ज्ञान प्राप्त हुआ। यह सम्भव है और इतिहास में ऐसा अनगिनत अवसरों पर हुआ है। आपकी आँखों में गुरु की एक दृष्टि पड़ने से भी आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व रूपान्तरित हो सकता है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि आपकी आँखें रिक्त हों, वे दुराग्रहों एवं जटिलताओं से भरी हुई न हों। गुरु की दृष्टि को आत्मसात् करने के लिये आपको रिक्त होना पड़ेगा।

गुरु के सान्निध्य में रहना ही शायद वह एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा शिष्य अपने अहंकार के सूक्ष्म क्रिया-कलापों के प्रति सजग हो सकता है। जीवन की अन्य समस्त परिस्थितियों में अहंकार और अधिक सशक्त होता है। हम नुकसान, घाटा, दु:ख या दुर्दशा को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, हम इन कष्टों को स्वीकार करना भी नहीं चाहते, क्योंकि हम किसी के समक्ष समर्पण करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते। हम दूसरों के द्वारा अपना शोषण, दुरुपयोग या कुप्रयोग किये जाने के भय से आतंकित रहते हैं।

किन्तु यदि आप गुरु के साथ रह रहे हैं तो वे निरन्तर आपको समर्पण के लिये तैयार करते हैं। यह उनका कार्य, उनका उत्तरदायित्व है। वे आपके चेतन एवं अवचेतन मन को, अहंकार की शक्ति बढ़ाये बिना, कार्य करने का प्रशिक्षण देते हैं। वे ऐसी परिस्थितियों एवं घटनाओं का निर्माण करते हैं जिससे शिष्य यह समझने में सक्षम होता है कि किस प्रकार उसका

अहंकार उस पर पूर्णत: हावी हो रहा है। धीरे-धीरे, समय आने पर, शिष्य अपने तथा गुरु के बीच स्थित अहंकार के इस अवरोध के प्रति अधिक सजग हो जाता है।

शिष्य कभी-कभी, थोड़े समय के लिये, अपने अहंकार को वशीभूत करने में सक्षम होता है तथा गुरु के प्रति सामान्य समर्पण का अनुभव करता है। उस समय गुरु के प्रति उसका विश्वास और प्रेम जाग्रत हो जाता है। वह अनुभव करता है कि इस समर्पण के द्वारा उसने कुछ ऐसा प्राप्त किया है जो अविश्वसनीय, आशातीत और अज्ञात है। यह कोई ऐसी बड़ी शक्ति है जिसकी कल्पना उसने स्वप्न में भी न की थी। वह सम्पूर्ण समर्पण के लिये तैयार होता है। किन्तु गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण की अनुभूति प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य गुरु-आश्रम में निवास करे तथा उन्हें, उसके अहंकार के प्रति आवश्यक व्यवहार करने की अनुमति दे।

शिष्य यह सोचकर प्राय: आशंकित रहता है कि कहीं गुरु उसका शोषण न करें। उसे भय होता है कि यदि वह स्वयं को पूर्ण रूप से गुरु को समर्पित कर देता है तो उसका क्या होगा। क्या गुरु उससे लाभ उठायेंगे, उसके साथ दुर्व्यवहार करेंगे, या उसका दुरुपयोग करेंगे? समर्पण की इच्छा रखने वाले शिष्य के मन में इन सन्देहों के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिये। ये असत्य तो हैं ही, साथ ही ये गुरु के प्रति उसके विचारों और कार्यों को पूर्णत: दिग्भ्रमित कर देंगे।

शिष्य को यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण समर्पण में उसका ही लाभ निहित है। यदि गुरु उसका शोषण भी करना चाहें तो प्राकृतिक नियम समर्पित शिष्य की सुरक्षा करते हैं। शिष्य का शोषण करने वाले तथा उसे धोखा देने वाले गुरु के कर्म उन पर ही प्रतिघात करेंगे और शिष्य पूर्णत: अक्षत या सुरक्षित रह जायेगा। इसके अतिरिक्त, कोई भी गुरु एक सच्चे एवं लगनशील शिष्य को कदापि नहीं ठगेगा और न उसका शोषण ही करेगा।

सम्प्रेषण

सम्प्रेषण गुरु-शिष्य सम्बन्ध का आधार है। गुरु इस पद्धति से शिष्य को शिक्षा देते हैं। सामान्य जीवन में हम शब्दों पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। शब्दों के बिना हम किसी से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकते। शिक्षक छात्र को भौतिक रूप से या पुस्तकों तथा पाठ्यक्रमों के माध्यम से शिक्षा देते हैं। इसे औपचारिक शिक्षा कहते हैं। अन्धे, बहरे एवं गूँगे लोगों के लिये शिक्षण एक समस्या बन जाती है। ऐसा इस कारण है कि ज्ञान प्रदान करने के लिये हमारी शिक्षा पद्धति को ज्ञानेन्द्रियों पर बहुत अधिक निर्भर करना पड़ता है।

तथापि गुरु एवं शिष्य के बीच सजगता का एक अन्य प्रभाग भी होता है। सजगता का यह आयाम मनुष्य में स्थित ज्ञान के किसी बाह्य माध्यम की तुलना में अधिक व्यापक होता है। यह समय और स्थान की सीमा के परे होता है। एक-दूसरे से हजारों मील दूर रहने पर भी गुरु और शिष्य आपस में संचार स्थापित कर सकते हैं। समान आवृत्ति में सुर मिलाते ही उनके बीच सन्देशों का आवागमन प्रारम्भ हो जाता है। यदि आपने कभी टैलेक्स मशीन देखी है तो आप मेरे कहने का तात्पर्य समझ सकते हैं।

सामान्यत: हम इन्द्रियों के माध्यम से समझते हैं। मस्तिष्क सूचनाओं को ग्रहण करता है। वह कुछ सूचनाओं को संचित करता है तथा कुछ को निकाल बाहर करता है। तथापि जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं वह हमारे पूर्व के विचारों तथा समझने की विधियों से प्रभावित होता है। दूसरे शब्दों में, यह ज्ञान हमारे बोध के स्तर तथा बुद्धि की क्षमता के सापेक्ष होता है। यदि बुद्धि मन्द होती है तो प्राप्त ज्ञान भी अस्पष्ट और धुंधला होता है।

सम्प्रेषण की पद्धति में शिष्य को बुद्धि को लाँघना पड़ता है। उसे शुद्ध चेतना के स्तर पर रहना होता है। उस स्तर पर तर्क या विवेचन का कोई स्थान

नहीं होता। उस स्थिति में एक-जोड़-एक का दो होना आवश्यक नहीं है। शिष्य का मन खुला एवं ग्रहणशील होता है। उसका मस्तिष्क इन्द्रियों तथा किताबी ज्ञान से प्रतिबन्धित नहीं होता। पुस्तक में जो लिखा हुआ है वह पूर्णत: सही हो सकता है, किन्तु शिष्य उस ज्ञान के पार जा चुका होता है। उसने अपने मन को अप्रतिबन्धित या स्वतन्त्र कर दिया है। एक-जोड़-एक दो के बराबर हो सकता है, किन्तु वह इसे सिर्फ इसलिये स्वीकार नहीं करेगा कि पुस्तकों में ऐसा लिखा है। व्यक्तिगत अनुभूति के बाद ही वह इसे स्वीकार करेगा।

जब शिष्य का मन अप्रतिबन्धित तथा उसकी उच्चतर चेतना मुक्त हो जाती है तब उसकी प्रज्ञा कार्य करने लगती है। प्रज्ञा ज्ञान की सर्वोच्च श्रेणी में आती है। प्रज्ञा ही कला, विज्ञान, संगीत आदि सभी क्षेत्रों में प्रतिभाओं की जननी होती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रज्ञा तथा संप्रेषण के माध्यम से प्राप्त ज्ञान अत्यधिक सही होता है।

आध्यात्मिक जीवन में भी शिष्य तब पूर्णता प्राप्त करता है जब उसकी प्रज्ञात्मक क्षमता प्रकट होने लगती है। इस स्थिति में ही गुरु उसे उच्चतर ज्ञान सम्प्रेषित करने में सक्षम होते हैं। शिष्य की इस अवस्था में वे उसका उपयोग दूर-दूर तक अपना संदेश पहुँचाने के माध्यम के रूप में करते हैं।

किन्तु इस अवस्था की प्राप्ति के लिये शिष्य को गुरु के बहुत निकट रहना पड़ता है। उसे अपनी चेतना को गुरु की चेतना के स्तर तक उठाने का प्रयास करना चाहिये। उसे अपने मस्तिष्क को रिक्त कर देना चाहिये ताकि निर्देशों को ग्रहण किया जा सके। उसे गुरु का सुचालक बनना है।

जिस प्रकार विद्युत-शक्ति-गृह से विभिन्न स्थानों तक विद्युत की आपूर्ति की जाती है उसी प्रकार गुरु भी शक्ति का विशाल भंडार होते हैं तथा अपने शिष्यों तक शक्ति का संप्रेषण करते हैं। यदि शिष्य एक उत्तम माध्यम या सुचालक है तो वह सहजता से गुरु से प्राप्त शक्ति का भार वहन कर लेगा। किन्तु यदि वह कुचालक है या उसकी शक्ति-वाहिका में अवरोध है या वह कमजोर है, तो अतिभार के कारण शक्ति का प्रवाह भंग हो जायेगा। जिस प्रकार वोल्टेज के बहुत ऊँचा हो जाने पर संगलक (फ्यूज) उड़ जाता है या संगलक के न रहने पर टेलीविजन खराब हो जाता है, उसी प्रकार शक्ति ग्रहण करने में अक्षम शिष्य निकम्मा हो जाता है।

जब शिष्य पूर्णरूप से विकसित नहीं होता तो गुरु उसके मन तथा भावना को एक क्रमबद्ध शिक्षण पद्धति द्वारा तैयार करते हैं, किन्तु यदि वह

पूर्णरूपेण विकसित होता है तो उसे कुछ भी पढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। तब उनके बीच आन्तरिक संचार सहज रूप से स्थापित होने लगता है। शिष्य का मन ज्यों ही गुरु के अनुकूल होता है, उसकी ओर शक्ति का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है।

सम्प्रेषण के लिये शिष्य में किसी प्रकार की शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक रुकावट नहीं होनी चाहिये। गुरु तथा शिष्य, दोनों की चेतना को समान स्तर पर कार्य करना चाहिये। शारीरिक रूप से उनके दो शरीर हैं, किन्तु आध्यात्मिक रूप से वे अभिन्न हैं। उनके सम्बन्धों में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है। गुरु के प्रति शिष्य का समर्पण-भाव उसके अहंकार पर पूर्णत: छा जाता है। यही कारण है कि समर्पण शिष्य के जीवन में अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक समर्पित शिष्य चेतना के उच्चतर स्तर पर गुरु से संचार स्थापित कर सकता है तथा इस प्रकार उनका ज्ञान, प्रबोधन एवं अनुग्रह प्राप्त करता है।

संप्रेषण की अवधारणा ब्रह्माण्डीय चेतना के सिद्धान्त पर आधारित है। हर एक व्यक्ति के पास उसकी अपनी चेतना है, जिसे व्यक्तिगत चेतना कहते हैं। व्यक्तिगत चेतना ब्रह्माण्डीय चेतना से पूर्णरूपेण जुड़ी हुई है तथा उसका एक अंग है। वैयक्तिकता का विचार सिर्फ अहंकार के कारण कायम है। अहंकार के हटते ही ब्रह्माण्डीय चेतना क्रियाशील हो जाती है। चूँकि हम सभी ब्रह्माण्डीय चेतना के ही अंग हैं, अत: हम एक-दूसरे से एक अदृश्य धागे से जुड़े हुए हैं। अत: मैं आप तक तथा आप दूसरे व्यक्ति तक बिना किसी कठिनाई के सम्प्रेषण कर सकते हैं।

किन्तु अविद्या, अज्ञान, अहंकार और कर्म के कारण हम व्यक्तित्व के भाव से बँधे हुए हैं। अत: हम उस उच्च स्तर पर कार्य करने में सक्षम नहीं हैं।

गुरु ने ब्रह्माण्डीय चेतना विकसित कर ली है। वे उन नियमों से बँधे हुए नहीं हैं जो व्यक्तिगत चेतना को संचालित करते हैं। चूँकि ब्रह्माण्डीय चेतना प्रत्येक व्यक्तिगत चेतना से किसी भी समय या स्थान पर मिल सकती है, अत: गुरु अपने विचार कहीं भी सम्प्रेषित करने में सक्षम होते हैं।

इस बात को आपको अच्छी तरह समझना है। आध्यात्मिक रूप से सम्बद्ध दो व्यक्तियों की चेतना समान होती है, अत: वे सदैव पारस्परिक संवाद कर सकते हैं। स्वयं को गुरु को समर्पित करने वाला शिष्य ब्रह्माण्डीय चेतना का अंग बन जाता है। अत: गुरु और शिष्य एकाकार हो जाते हैं। उनकी चेतनाएँ

संयुक्त हो जाती हैं, उनमें तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यह सम्प्रेषण का विषय नहीं होता। इस स्थिति में तो पूर्ण संवाद एवं अन्तर्मिलन स्थापित हो जाता है।

शिष्य प्राय: व्यक्तिगत चेतना के दलदल में फँसा रहता है। समय-समय पर गुरु उसे सतर्क करने के लिये सन्देश भेजते हैं, किन्तु इसका उस पर कोई असर नहीं होता। कभी-कभी, किसी विशेष क्षण में, शिष्य की सजगता ऊँची हो जाती है तथा वह गुरु के सम्प्रेषण के प्रति ग्रहणशील हो जाता है। किन्तु सजगता के घटते ही ग्रहणशीलता मन्द पड़ जाती है तथा शिष्य अपनी व्यक्तिगत चेतना से संचालित होने लगता है। अत: यह स्वाभाविक ही है कि गुरु ऐसे शिष्य पर अधिक निर्भर नहीं रह सकते जिसकी चेतना की स्थिति निरन्तर अस्थिर हो।

यही कारण है कि गुरु वैसे शिष्य के चयन में बहुत सावधानी बरतते हैं जो उनका माध्यम बनने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति सुचालक नहीं हो सकता। अत: गुरु के विचारों को कार्यरूप देने वाला शिष्य ही उन्हें ग्रहण करने योग्य है।

जब कोई व्यक्ति शिष्य बनता है तो गुरु से इस प्रकार का सम्बन्ध अवश्य स्थापित हो जाना चाहिये। गुरु के साथ सम्पर्क की यह अत्यधिक शक्तिशाली पद्धति है। आध्यात्मिक जीवन का सम्बन्ध केवल शिक्षण से नहीं है। एक शिष्य के जीवन में ऐसा समय आना चाहिये जब सभी प्रश्न और सन्देह समाप्त हो जाएँ। उसे गुरु के साथ अपना सम्बन्ध सम्प्रेषण तथा सम्पर्क के आधार पर विकसित करना चाहिये।

गुरु प्रवचन एवं सत्संग दे सकते हैं या नहीं भी दे सकते हैं। वे शिष्य से विरले ही मिल सकते हैं, किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु और शिष्य क्रमश: प्रेषक और ग्राही के रूप में कार्य करें। उनके बीच का यही सम्बन्ध वास्तविक है।

ऐसा होने पर गुरु द्वारा भौतिक शरीर त्यागने के बाद भी शिष्य उनसे संचार स्थापित करने में सक्षम होता है। वह उनसे उसी सहजता से संलाप कर सकता है जैसे कि वे भौतिक स्तर पर उपस्थित हों। वह उनसे आदेश एवं निर्देश ग्रहण कर सकता है तथा उनके लक्ष्य को आगे बढ़ाने वाला माध्यम बन सकता है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही प्रत्येक शिष्य को स्वयं को तैयार करना चाहिये। यह उच्चतम श्रेणी का शिष्यत्व है।

गुरु-कृपा

गुरु-कृपा एक ऐसी चीज है जिसे समझना सर्वाधिक कठिन है तथा उसकी विवेचना करना तो उससे भी मुश्किल है। यह मात्र उन्हीं लोगों के लिये एक वास्तविकता है जो इसके प्रति ग्रहणशील हैं। भारत में शिष्य के जीवन में गुरु-कृपा के महत्त्व पर जोर देने के लिये प्राय: एक मुहावरे का प्रयोग होता है, 'गुरु-कृपा ही केवलम्'। इसका अर्थ यह है कि गुरु-कृपा ही शिष्य को मुक्त कर सकती है।

एक शिष्य, जिज्ञासु या साधक को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि एक बार योग की किसी भी पद्धति–कर्म योग, ज्ञान योग, हठ योग या भक्ति योग में दीक्षित हो जाने के बाद उसका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सबसे कठिन कार्य अपने मन पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। इस मार्ग पर मन सबसे बड़ी बाधा है जिसका सामना प्राय: सभी शिष्यों को करना पड़ता है। मन के उपद्रवों का मुकाबला करने में उन्हें कुछ समय के लिये सफलता मिल सकती है, किन्तु देर-सबेर वे अधिक शक्ति के साथ पुन: उनके सामने आ जाते हैं। ऐसा होने पर सर्वाधिक सजग एवं सतर्क शिष्य भी असन्तुलित होकर अपना नियन्त्रण खो सकता है। ऐसा जिज्ञासु, जिसका लक्ष्य अभी भी अनिश्चित है, पूर्णत: चकनाचूर हो सकता है।

मन के स्वरूप, विशेषकर उसके नकारात्मक पहलुओं, जैसे, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, वासना आदि को नियन्त्रित करना प्राय: असम्भव है। वे सभी दिशाओं से मन पर हमला करते हैं। मनुष्य के लिये यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि वह उनके असली रूपों को नहीं पहचान सकता तथा उनका शिकार हो जाता है। यह एक बड़ी बाधा है। आध्यात्मिक प्रगति हेतु व्यक्ति को उस पर विजय प्राप्त करने का उपाय ढूँढ़ना ही होगा। उससे कोई भी निरापद नहीं

है। कभी-न-कभी हम सभी उसकी पकड़ में आ जाते हैं। सबसे सच्चा एवं समर्पित शिष्य भी मन को उद्वेलित करने वाले आँधी-तूफ़ानों से प्रभावित हो जाता है।

कभी-कभी हम मन के आक्रमणों को थोड़े समय के लिये टालने में सक्षम हो जाते हैं, किन्तु यदि परिस्थिति का सतर्कतापूर्वक विश्लेषण किया जाये तो हम पायेंगे कि हम सिर्फ अपने मानसिक आघातों को किसी प्रकार दबाने में सफल हुए हैं। वास्तव में वे मन के पीछे कहीं छुपे रहते हैं। एक छोटी-सी चिंगारी भी उन्हें फिर से प्रज्वलित करने के लिये पर्याप्त होती है। यदि हम इन अभ्याघातों को बार-बार दबाते रहे हैं तो वे शारीरिक बीमारियों के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

अत: समस्या यह है कि हम मन का मुकाबला कैसे करें? गुरु-कृपा ही हमें मन की दासता से मुक्त कर सकती है। गुरु ही हमें शक्ति और धैर्य दे सकते हैं, जिनके बल पर हम अपने मन के आघातों-प्रतिघातों का मुकाबला कर सकते हैं। उनकी कृपा ही कठिनतम परीक्षाओं में हमारी सहायता करती है। इसके बिना हम पिस जायेंगे या टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। उनकी सहायता से ही हम एक बार पुन: सिर उठाकर आध्यात्मिक मार्ग पर चल सकते हैं।

किन्तु गुरु की कृपा बहुत सहजता से प्राप्त नहीं होती। इसे प्राप्त करने के लिये हमें पूर्ण निष्कपट एवं समर्पित होना होगा। हमें शरीर, मन और आत्मा से उनका हो जाना होगा। ऐसा होने पर जब भी हमारे बाह्य एवं आन्तरिक जीवन में कठिनाइयाँ आयेंगी तो वे हमारी सहायता हेतु प्रस्तुत होंगे, अन्यथा नहीं। गुरु अपनी कृपा कदापि प्रदान नहीं करेंगे यदि हम उसे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

गुरु की कृपा प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य का अपना मन नहीं हो। गुरु सोचते हैं और शिष्य कार्य करता है। वह गुरु के विचारों की विवेचना नहीं करता। वह उन्हें अपना ही विचार मानकर स्वीकार करता है। ऐसा ही शिष्य गुरु की वास्तविक कृपा प्राप्त कर सकता है।

गुरु की कृपा की प्राप्ति के अयोग्य होने के बावजूद कुछ कठिनाइयों में वे कभी-कभी हमारी सहायता करते हैं ताकि थोड़ी मात्रा में वे दूर हो सकें। यह भी उनकी कृपा ही है, किन्तु पूर्ण कृपा नहीं। उनकी पूर्ण कृपा तो वह है जो व्यक्ति के रूप में हमारे विकास को रोकने वाले बन्धनों से हमें मुक्त

करती है। हमें उसी कृपा की आकांक्षा करनी चाहिये तथा उसे ग्रहण करने हेतु स्वयं को तैयार करना चाहिये। किन्तु वह कृपा तो सिर्फ उसे मिलती है जो आकांक्षारहित होता है।

हम प्राय: गुरु के पास अनेक इच्छाओं-आकांक्षाओं से युक्त होकर जाते हैं। इनमें से कुछ तो स्पष्ट होती हैं और कुछ गुप्त। वे स्थूल या राजसिक हो सकती हैं, जैसे, धन, नाम, यश, उत्तम स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता की प्राप्ति। या वे अधिक सूक्ष्म या सात्त्विक भी हो सकती है, जैसे, आत्मज्ञान, साधना में प्रगति, मानसिक शक्तियों एवं सिद्धियों की प्राप्ति। ये इच्छाएँ-आकांक्षाएँ कैसी भी क्यों न हों, हमें उन्हें निर्मूल करने हेतु निश्चित रूप से प्रयास करना चाहिये। तभी गुरु हमें बाँह पकड़कर उठाएँगे तथा आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर साथ ले चलेंगे।

प्राय: गुरु शिष्य पर अनुग्रह की वर्षा करते हैं, किन्तु शिष्य के पास वैसी आँखें नहीं होतीं कि वह उसे देख सके। गुरु की कृपा अनेक रूपों में प्रकट हो सकती है। यह मधुर एवं प्रिय या कठोर एवं अप्रिय हो सकती है। अधिकतर शिष्य विश्वास करते हैं कि जब गुरु सदय एवं मधुर शब्दों का उपयोग करते हैं तब वे आशीर्वाद दे रहे होते हैं। अत: जब वे अधिक सुखद एवं आकर्षक मालूम पड़ें तो समझना चाहिये कि वे अधिक कृपा प्रदान कर रहे हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे विचार सत्य हों। कभी-कभी गुरु-कृपा अति अप्रिय हो सकती है।

गुरु उस बढ़ई के समान होते हैं जो एक लकड़ी के टुकड़े को निर्दयतापूर्वक काट-छाँटकर एक निश्चित स्वरूप देता है। कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही बढ़ई के सामने एक स्पष्ट चित्र रहता है कि उसे क्या बनाना है। इसी प्रकार गुरु का लक्ष्य भी स्पष्ट होता है। उसकी पूर्ति के लिये वे शिष्य के अहंकार की काट-छाँट करते हैं। इस कार्य को वे निर्दयतापूर्वक तब तक करते रहते हैं जब तक कि शिष्य वैसा नहीं बन जाता जैसा कि वे उसे बनाना चाहते हैं। बढ़ई लकड़ी को एक उपयोगी, उद्देश्यपूर्ण एवं सुन्दर वस्तु के रूप में परिणत कर देता है। इसी प्रकार गुरु शिष्य को एक मुक्त प्राणी के रूप में परिवर्तित कर देते हैं ताकि वह बहुतों का मार्गदर्शक प्रकाश बन सके। किन्तु यह तभी हो सकता है जब शिष्य लकड़ी के टुकड़े के समान शान्त, मौन एवं अहंकार-रहित हो जाये ताकि गुरु को उसे पूर्ण रूप से बदलने का अवसर मिल सके।

गुरु को समझना आसान बात नहीं है। उनमें हमारे व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश करने तथा हम किस लायक हैं यह निर्णय करने की क्षमता होती है। वे हमारी मजबूतियों एवं कमजोरियों को मापने में सक्षम होते हैं। हमें अपनी सीमाओं से अवगत कराने हेतु वे कठोरतम तरीकों का उपयोग कर सकते हैं। यह भी उनकी कृपा ही है। वास्तव में यदि किसी शिष्य ने इस बात का अनुभव नहीं किया है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह गुरु को नहीं समझ सका है।

गुरु की कृपा समझने तथा प्राप्त करने के लिये शिष्य को सचाई एवं समर्पण का भाव लेकर उनके पास जाना होगा। उसे जो कुछ मिलेगा उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करना होगा तथा गुरु से एकत्व स्थापित करने हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना होगा।

इस विषय पर स्वामी सत्यानन्द जी के विचारों को यहाँ उद्धृत करना उचित मालूम पड़ता है। उन्होंने लिखा है, "शिष्य के जीवन में गुरु-कृपा की यह परम्परा सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित रही है। ऐसा शिष्य विरले ही मिलता है जिसे गुरु-कृपा प्राप्त है। मैं प्राय: आश्चर्य करता हूँ कि मुझे स्वामी शिवानन्द जी ने क्यों चुना। मैं सोचता हूँ कि इसका सिर्फ एक कारण हो सकता है, मैं जब तक उनके सान्निध्य में रहा, एक भी क्षण या विषय ऐसा नहीं था जब या जिस पर उनके साथ मेरा पूर्ण तादात्म्य न रहा हो। मैं सर्वदा उत्साहपूर्वक उनका अनुकरण करता था। मैं उनके प्रत्येक शब्द तथा अभिव्यक्ति पर ध्यान देता था। मैं उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि का अवलोकन करता था। उनका साधारण कार्य भी मेरे लिये एक भाष्य था। अनेक अवसरों पर मैं बिल्कुल ठीक-ठीक जान जाता था कि वे क्या सोच रहे हैं। कुछ अन्य अवसरों पर मैं यह भविष्यवाणी कर सकता था कि वे क्या करने जा रहे हैं। गुरु के क्रियाशील होने के पूर्व ही शिष्य को उनके विचारों को समझ लेना चाहिये। गुरु और शिष्य के बीच इस प्रकार का एकत्व स्थापित होना ही चाहिये। ऐसा होने पर उनकी कृपा स्वत: प्रवाहित होने लगती है।

अत: वर्षों पूर्व मैं एक निष्कर्ष पर पहुँचा– "अपने गुरु के साथ एकत्व स्थापित करो, उनके साथ एकाकार हो जाओ, वैसे ही जैसे चीनी दूध में घुलती है। वे पूर्णत: एक हो जाते हैं, उनका भिन्न अस्तित्व समाप्त हो जाता है। दूध चीनीमय एवं चीनी दूधमय हो जाती है। वे एक-दूसरे की विशेषताओं को अपना लेते हैं। इस प्रकार का एकत्व स्थापित करना ही होगा। और तब गुरु-कृपा सतत्, निरन्तर उपलब्ध होती रहेगी।"

गुरु–माता, पिता और मित्र

शिष्य प्राय: असमंजस में रहता है कि वह अपने गुरु से किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करे। वह यह जानने के लिये उत्सुक रहता है कि क्या वह गुरु को एक दयालु, करुणामय पिता के रूप में माने जिनके निकट वह प्यार और संरक्षण हेतु जा सके। या वह उनके साथ एक प्रेमी मित्र जैसा व्यवहार करे जिनके साथ वह अपने अन्तरतम् के रहस्यों एवं कष्टों का आदान-प्रदान कर सके।

हम गुरु को प्रेम एवं आनन्द के सार-संग्रह या पुंज के रूप में देखते हैं। हम उनके निकट जाना, उनसे तादात्म्य का अनुभव करना एवं सुखद सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु, जब हम ऐसा करना चाहते हैं तो इस प्रक्रिया में अवरोध का अनुभव करते हैं और अपने विचारों, मनोभावों तथा भावनाओं को सम्प्रेषित करने में असक्षम हो जाते हैं।

सर्वप्रथम हमें यह समझना है कि गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध तर्क पर आधारित नहीं है। वास्तव में यदि आप इस सम्बन्ध का विश्लेषण करने एवं कारण खोजने लगें तो आप अन्तत: इसे पूर्णरूपेण अस्वीकार कर देंगे। इस सम्बन्ध में निहित दर्शन भावात्मक एवं अतिसूक्ष्म है तथा इसका कार्यक्षेत्र असुरक्षित एवं अनिश्चित। यह सम्बन्ध पूर्णत: व्यक्तिगत कारणों एवं प्रयोजनों से विकसित होता है और व्यक्तिगत आधार पर ही स्थित होता है। एक सच्चे शिष्य के लिये गुरु में सम्पूर्ण अनुभवमय जगत् समाहित है। वे पिता, माता, मित्र, सम्बन्धी, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री और ईश्वर भी हैं। वे सूर्य और चन्द्रमा, पुष्प और वृक्ष हैं। संक्षेप में, शिष्य के जीवन में जो कुछ है, गुरु में निहित है।

वास्तविक तथ्य यह है कि गुरु वही हैं जोकि आप उनमें देखते हैं। आपका बोध ही गुरु के बारे में आपके अनुभव का निर्धारण करता है। यदि आप उन्हें असीम, अनन्त, शाश्वत अनुभव के रूप में समझते हैं तो आपके लिये वे

वैसे ही हैं। किन्तु यदि आप उन्हें एक सामान्य आदमी मानते हैं तो आप उनमें अन्तर्निहित देवत्व का दर्शन करने में सदैव विफल होंगे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे एक ईश्वरीय सत्ता नहीं हैं। तथ्य यह है कि आप उसे नहीं देख सकते हैं। एक अन्धे व्यक्ति के लिये सूर्य का कभी कोई अस्तित्व नहीं है।

गुरु एक स्वच्छ दर्पण के समान होते हैं, जिसमें आप अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। वे स्वयं में एक विशुद्ध, उज्ज्वल, देदीप्यमान् आत्मा हैं। किसी स्वच्छ एवं बिम्बरहित वस्तु पर यदि कोई चित्र संकेन्द्रित किया जायेगा तो उस पर उसका प्रतिरूप बन जायेगा। अत: आप गुरु में जो कुछ देखते हैं, वह आपके अपने व्यक्तित्व का ही प्रक्षेपण है।

तथापि उनकी शारीरिक उपस्थिति के कारण हम प्राय: यह निश्चय नहीं कर पाते कि उनके साथ कैसा सम्बन्ध स्थापित करें। इस समस्या के समाधान हेतु पुराणों एवं भारत के अन्य धर्मशास्त्रों में कुछ उदाहरण मिलते हैं, जो कि शिष्य को मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं। तदनुसार वह अपनी भावनाओं और शक्ति को गुरु की ओर प्रवाहित कर सकता है और अन्तत: एक दृष्टि प्राप्त कर सकता है।

भक्ति गुरु-शिष्य सम्बन्ध का आधार है। यही अन्तर्निहित मूल सिद्धान्त है। भक्ति के बिना आप गुरु के साथ पूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं। इस भक्ति को उत्पन्न करने एवं यथार्थ रूप देने के लिये शिष्य शास्त्रों द्वारा निरूपित चार भावों में से किसी एक का उपयोग कर सकता है। ये भाव हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध भावनाओं और मनोभावों से जुड़े होते हैं, इसलिये उन्हें अभिव्यक्त करना आसान है।

सर्वप्रथम दास्यभाव आता है। दास का अर्थ होता है सेवक। अत: शिष्य एक निष्ठावान, आज्ञाकारी सेवक है और गुरु उसके स्वामी। समर्पित सेवक का एकमात्र उद्देश्य होता है अपने स्वामी द्वारा दिये गये कार्य को पूर्णता से सम्पादित करना। इसी प्रकार शिष्य भी गुरु के कार्य के प्रति अपने को समर्पित करता है। शिष्य के लिये कोई भी कार्य बहुत दुष्कर नहीं है। वह इस बात का ख्याल नहीं करता कि उसकी सेवा के बदले गुरु दयालुतापूर्ण और प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं या कठोर व्यवहार और भर्त्सना करते हैं। सेवा करना उसका कर्त्तव्य है; वह सिर्फ इतना ही जानता है और इसी बात के लिये सतर्क रहता है। इस भाव का सर्वोत्तम उदाहरण प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण में राम और उनके सर्वाधिक विश्वस्त सहायक हनुमान के सम्बन्धों में मिलता है। सेवक

शिष्य गुरु के प्रयोजन या निर्णय पर सन्देह नहीं करता। वह सब कुछ गुरु पर छोड़कर सिर्फ आज्ञापालन करता है।

द्वितीय है वात्सल्य भाव, अर्थात् पिता-पुत्र या पिता-पुत्री के बीच का भाव। हम जन्म से ही अपनी पारिवारिक भावनाओं से मजबूती से जुड़े होते हैं। ये हमारे अन्दर स्वाभाविक रूप से उभरती हैं और इसलिये इस वात्सल्य भाव के अधिक विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु भारत में माता-पिता एवं बच्चों के बीच प्रचलित यह भाव पश्चिमी देशों से बहुत भिन्न है। भारत में पिता ज्ञान, विवेक और अनुभव के प्रतीक माने जाते हैं और पुत्र उन्हें उचित सम्मान, प्रेम और निष्ठा प्रदान करता है। पिता के शब्द पवित्र माने जाते हैं और बच्चे उनके प्रति अपने प्रेम और समर्पण के प्रमाणस्वरूप उनकी इच्छाओं का विरोध नहीं करते। इस सम्बन्ध में सर्वोत्तम उदाहरण के लिये एक बार पुन: हमें रामायण के पृष्ठों को ही उलटना पड़ेगा। भारत में राजा दशरथ और उनके पुत्र राम का सम्बन्ध आदर्श और अनुकरणीय माना जाता है। राम राजगद्दी के वैध उत्तराधिकारी थे, किन्तु पिता ने अन्यायपूर्वक उन्हें बारह वर्षों का वनवास दे दिया और इस प्रकार राज्य से वंचित कर दिया। लेकिन राम ने पिता की अवज्ञा नहीं की। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, "राज्य क्या है, मैं तो आपके लिये अपना जीवन भी न्योछावर कर सकता हूँ।"

तीसरा है, ईश्वर भाव। यह भक्त और भगवान के सम्बन्ध को उजागर करता है। गुरु अगम्य ईश्वरत्व के द्योतक हैं और शिष्य है उनका विनम्र भक्त। एक भक्त के रूप में शिष्य स्वयं को गुरु-चरणों में न्योछावर कर देता और उनका प्रेम एवं संरक्षण चाहता है। वह एक भक्त की भूमिका अपना लेता है, और गुरु के प्रति भक्तियोग का अभ्यास करता है। शिष्य एक लोकोत्तर सत्ता के रूप में गुरु का पूजन करता है और अन्तत: स्वयं को उनमें लीन कर देता है। श्री रामकृष्ण परमहंस और माँ काली के सम्बन्ध में यही स्थिति देखी गयी थी। रामकृष्ण माँ काली से अपनी देवी माता के रूप में प्रेम करते थे। वे उनकी मूर्ति को स्नान करवाते, उनके सामने नृत्य करते, अगरबत्ती जलाते, उन्हें भोजन प्रदान करते और उनके सामने एक छोटे बच्चे की तरह फूट-फूट कर रोते थे। अन्तत: वे अपने क्षणभंगुर अस्तित्व के प्रति अपनी सजगता का अतिक्रमण करने में सफल हो गये और माँ के साथ एकाकार हो गये।

चौथा है, माधुर्य भाव या सखा भाव। यह दो मित्रों के बीच का भाव है जिनमें पारस्परिक प्रेम और आसक्ति के कारण एकत्व स्थापित हो जाता है।

राधा और कृष्ण, अर्जुन और कृष्ण तथा कृष्ण और गोपियाँ इसी भाव से आपस में बँधे हुए हैं। कृष्ण और गोपियाँ छोटे बच्चों की तरह क्रीड़ा करते थे, किन्तु वे एक-दूसरे में पूर्णत: तल्लीन थे। राधा अपने जीवन में सिर्फ एक बार, बचपन में कृष्ण से मिली, किन्तु उसकी चेतना पर उस मिलन की स्मृति की इतनी गहरी छाप पड़ी कि वह उन्हें कभी भूल न सकी। भारत में आज भी उनके चिरन्तन एकत्व की धारणा पूर्ववत् मान्य बनी हुई है। हम राधा के बिना कृष्ण की कल्पना स्वप्न में भी नहीं कर सकते।

गुरु से सम्बन्ध स्थापित करने हेतु शिष्य अपने लिये इनमें से किसी एक भाव का चयन कर लेता हैं। ऐसा वह अपनी आवश्यकता एवं व्यक्तित्व के अनुसार करता है तथा इसे यथासंभव उच्चतम अवस्था तक विकसित करता है। यदि वह एक मित्र की आवश्यकता महसूस करता है तो उसे गुरु को अपना मित्र मानना चाहिये। और यदि वह पितृसुलभ प्रेम से वंचित रहा है, तो गुरु उसके माता-पिता हो सकते हैं। यदि शिष्य स्वयं को पूर्णरूपेण गुरु को समर्पित करना चाहता है, तो वह अपने को उनका दास मान सकता है।

यह सब कुछ आपकी अपनी मूल आवश्यकता पर तथा इस बात पर निर्भर रहता है कि आपके व्यक्तित्व का कौन-सा क्षेत्र सर्वाधिक सशक्त है तथा सहजता से अभिव्यक्त हो सकता है। तथापि इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि आप अपने लिये किस भाव का चयन करते हैं। मुख्य बात यह है कि यह स्वत: प्रस्फुटित हो एवं आपके व्यक्तित्व तथा भावनाओं को स्वाभाविक अभिव्यक्ति का मार्ग प्रदान करे।

ये भाव संन्यासी शिष्य को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के शिष्यों के लिये प्रासंगिक हैं। संन्यासी के लिये गुरु सदैव सर्वव्यापी सत्ता का द्योतक है। उसके लिये गुरु परम सत्य का प्रतिरूप है, जिसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिये वह सतत् प्रयत्नशील है।

इस प्रकार शिष्य गुरु से अपने सम्बन्ध को सशक्त बनाने के लिये किसी विशेष भाव का उपयोग एक उपकरण के रूप में करता है। उसके द्वारा अपनाया गया यह भाव उसके सांसारिक व्यक्तित्व से मेल खाता है और इसलिये वह इसे सहजता से समझ सकता और प्रकट कर सकता है। यद्यपि शिष्य किसी एक भाव का उपयोग एक उपकरण के रूप में करता है, उसे गुरु से किसी बात की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये तथा सावधानीपूर्वक निष्काम भाव बनाये रखना चाहिये।

गुरु आपके इच्छानुसार आपके साथ व्यवहार करें या न करें, किन्तु उनके प्रति आपका प्रेम, भक्ति एवं नि:स्वार्थ भाव तनिक भी प्रभावित नहीं होना चाहिये। एक बच्चा आजीवन अपनी माँ को प्यार करता है, चाहे वह उसके प्रति कैसा भी व्यवहार करे, क्योंकि उससे उसका बन्धन बाह्य सम्बन्ध से अधिक गहरा है। इसी प्रकार शिष्य भी गुरु के प्रति अपना सद्भाव बनाये रखने का प्रयास करता है। इस प्रसंग में वह अपने तथा गुरु के बीच की किसी बाह्य अन्त: क्रिया से प्रभावित नहीं होता। कभी-कभी गुरु के प्रति एक निश्चित भाव अपनाते समय शिष्य उन्हें अपनी जटिलताएँ तथा स्नायुरोग हस्तांतरित करने की ओर भी प्रवृत्त होता है। यदि कठोर माता-पिता से मिले कष्टों के कारण वह असुरक्षित हो गया है तो वह गुरु से अपने सम्बन्ध में भी असुरक्षा का अनुभव करता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। शिष्य ने गुरु से इस हेतु सम्पर्क स्थापित किया है कि वह अपनी निम्न एवं नकारात्मक गुणों का अतिक्रमण कर सके, न कि उनमें डूबा रहे। अत: शिष्य को इस बिन्दु पर सदैव सतर्क रहना चाहिये।

गुरु एक ऐसे व्यक्ति के प्रतीक हैं जिनकी ओर आप अपनी भावनाओं को निर्देशित कर सकते हैं ताकि वे उच्चतर एवं सकारात्मक अनुभवों की ओर प्रवाहित हो सकें। उद्देश्य है आपको अपनी सीमाओं से मुक्त करना, न कि बन्धन में डालना। गुरु अभिव्यक्ति की सीमाओं से परे हैं। यदि सीमा या अवरोध कहीं है तो वह आपके अन्दर है और आपको गुरु के प्रति अपने निष्काम प्रेम की सहायता से इसे निर्मूल करने का प्रयास करना है।

अपने ध्यान के अभ्यासों में भी आप गुरु का वैसा चित्र विकसित कर सकते हैं जैसा कि आप उन्हें देखना चाहते हैं–पिता, मित्र, स्वामी या ईश्वर के रूप में। आप ध्यानावस्था में उनसे बातें कर सकते हैं। आप कल्पना कर सकते हैं तथा अपने मन में उनसे अपने इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। गुरु आपकी चेतना के प्रतीक हो जाते हैं। वे आपकी सजगता को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए महत्तर एवं अधिक भव्य ऊँचाई तक पहुँचाते हैं।

हम में से प्रत्येक व्यक्ति के भीतर भावनाएँ हैं। यदि उनका रचनात्मक उपयोग न किया जाये तो अन्तत: वे नष्ट होने लगती हैं तथा निराशा और विषाद का कारण बन जाती हैं। किन्तु यदि आप इन भावनाओं को उपर्युक्त विधि से गुरु की ओर निर्देशित करें तो इसका तात्पर्य यह होगा कि आप अपनी शक्ति को उच्चतर अनुभव की ओर प्रवाहित और रूपान्तरित कर रहे हैं तथा ऊर्ध्वगामी बना रहे हैं। और वह है गुरु के साथ एकत्व का अनुभव।

दीक्षा

आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से ही कोई शिष्य विभिन्न आध्यात्मिक गुरुओं के पास जाता है। वह उनके प्रबोधन एवं ज्ञानपूर्ण बातों को उत्सुकतापूर्वक सुनता है। जिनके व्यक्तित्व एवं शिक्षण से वह सर्वाधिक प्रभावित होता है उन्हें शीघ्र ही अपना गुरु मान लेता है। तदुपरान्त वह उनकी शरण में जाता है और इस प्रकार उनका आध्यात्मिक सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। शिष्य गुरु के सामने आध्यात्मिक जीवन की खोज के सम्बन्ध में अपनी इच्छा एवं लगन अभिव्यक्त करता है। गुरु उस भावी शिष्य के जीवन की परिस्थिति, आन्तरिक प्रकृति एवं आध्यात्मिक योग्यता का मूल्यांकन करते हैं। उपयुक्त समय आने पर शिष्य उनसे दीक्षा हेतु निवेदन करता है।

दीक्षा द्वारा गुरु शिष्य को औपचारिक रूप से स्वीकार करते हैं। जब तक शिष्य गुरु से दीक्षा प्राप्त नहीं करता तब तक अपनी साधना में प्रगति नहीं कर सकता। सभी प्राचीन धर्मशास्त्रों में शिष्य के जीवन में दीक्षा के महत्त्व पर अत्यधिक बल दिया गया है।

दीक्षा शब्द दो मूल शब्दों के योग से बना है। एक मूल शब्द है 'दीक्ष', जिसका अर्थ होता है 'समर्पित करना'। दूसरा मूल शब्द है 'दक्ष', जिसका तात्पर्य होता है, 'बढ़ना, सबल होना, फैलना'। यौगिक दृष्टि से दीक्षा के दो अर्थ होते हैं–'प्रदान करना' एवं 'प्राप्त करना'। वास्तव में व्यक्तिगत अनुभूति ही आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि सम्प्रेषित करने एवं उसे ग्रहण करने की शक्ति देती है। भारत में दीक्षा कहने से आध्यात्मिक दीक्षा ही समझी जाती है।

यदि आप प्राचीन धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि गुरु द्वारा दीक्षा की परम्परा बहुत पुरानी है। इस बात पर बार-बार जोर दिया गया है कि गुरु द्वारा आध्यात्मिक अभ्यासों की दीक्षा के बिना साधक या शिष्य का

आध्यात्मिक जीवन अपूर्ण है। यहाँ तक कहा जाता है कि दीक्षा के बिना उसकी साधना से अपेक्षित फल की प्राप्ति नहीं होगी। गुरु के मार्गदर्शन के बिना आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासुओं को जिन स्तरों का सामना करना पड़ता है, उसकी भी विस्तार से चर्चा की गयी है।

दीक्षा को गुरु एवं शिष्य के बीच पारस्परिक समर्पण या बन्धन के प्रकाश में समझना होगा। शिष्य गुरु को अपना विश्वास एवं भक्ति अर्पित करता है। इसके बदले में गुरु उसका आध्यात्मिक मार्गदर्शक होने का उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं। वे उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर या बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। दीक्षा सिर्फ एक कर्मकाण्ड नहीं है, यद्यपि इसके चारों ओर एक विशेष या शुभ अवसर का वातावरण होता है। बाह्य अनुष्ठान एक साधन है, साध्य नहीं। इसके द्वारा एक परिवर्तित वातावरण उत्पन्न होता है तथा शक्तिशाली अभ्यास निर्धारित किये जाते हैं। ये अभ्यास नव-दीक्षित साधकों को प्रतीकों के पीछे छुपे सत्य का दर्शन स्वयं करने का अवसर देते हैं। गुरु सुनिश्चित रूप से सत्य का उद्घाटन नहीं करते, नवदीक्षित साधक को स्वयं इसका अन्वेषण करना पड़ता है। गुरु सिर्फ सत्य की दिशा में यात्रा प्रारम्भ करने हेतु उसे अभिप्रेरित करते हैं।

दीक्षा के समय गुरु शिष्य को अपनी आध्यात्मिक शक्ति हस्तान्तरित करते हैं और इस प्रकार उसे अपने आध्यात्मिक जीवन की महत्तर ऊँचाइयाँ प्राप्त करने हेतु प्रेरणा देते हैं। अति विकसित गुरु के लिये तो यह भी आवश्यक नहीं है कि वे साधक को प्रत्यक्ष एवं औपचारिक रूप से दीक्षा दें। वे अपनी मानसिक शक्तियों के माध्यम से दीक्षा संप्रेषित करने में सक्षम होते हैं।

दीक्षा गुरु एवं शिष्य के बीच एक आध्यात्मिक एवं शक्तियुक्त संचार है। यद्यपि यह एक बाह्य घटना है, किन्तु यह भौतिक नियमों से बँधी हुई नहीं है। यह अनुष्ठान के काल या स्थान की सीमा के परे है। यह एक गतिमान प्रक्रिया है, जिसमें आपका सम्पूर्ण अस्तित्व समाहित है। यह साधक की क्षमता एवं इच्छाशक्ति को जागृत करती है ताकि वह स्वयं के लिये निर्धारित साधना का अभ्यास करते हुए अपनी सारी अन्तर्निहित शक्तियों को प्रकट कर सके।

इस प्रकार दीक्षा सिर्फ उन्हीं लोगों के लिये नहीं है जो आध्यात्मिक मार्ग पर बहुत आगे बढ़े हुए हैं। यह सभी लोगों के लिये है, चाहे वे आध्यात्मिक दृष्टि से कमजोर हों या मजबूत। इसका उद्देश्य अपने आध्यात्मिक जीवन में हमें सक्रिय एवं पूर्ण बनाना है।

दीक्षा आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ है। सर्वप्रथम एक औपचारिक अनुष्ठान होता है। तदुपरान्त समय के साथ सजगता के उच्चतर एवं महत्तर स्वरूपों का आविर्भाव होता है। दीक्षा के साथ ही अति तीव्र आन्तरिक जीवन तथा एक सम्पूर्ण घटनाक्रम का प्रारम्भ होता है। इससे आपका आन्तरिक जीवन पूर्णत: परिवर्तित हो जायेगा। दीक्षा चेतना का विकास करती है तथा पूर्व में जो अचेतन था उससे आपका परिचय कराती है।

दीक्षा कई प्रकार की होती है। सबसे सामान्य दीक्षा होती है मन्त्र-दीक्षा। गुरु शिष्य की चेतना की गहराई में एक बीज डालते हैं। यह अन्त:शक्ति बन जाता है, अंकुरित एवं विकसित होता है तथा फूलता-फलता है। इससे साधक का आन्तरिक जीवन प्रकाशमान हो जाता है। मन्त्र साधना कलियुग में सबसे महत्त्वपूर्ण साधना मानी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के लिये एक मन्त्र की आकांक्षा होनी चाहिये। एक स्तर पर मन्त्र सिर्फ ध्वनि है, किन्तु उच्चतम स्तर पर यह ब्रह्माण्डीय ध्वनि की शक्ति से प्रकम्पित होता है।

मन्त्र पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। एक शिष्य को व्यक्तिगत मन्त्र का चयन करने के लिये दीक्षा के समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। एक साधक को मन्त्र-दीक्षा तो सिर्फ वैसे गुरु से ही लेनी चाहिये जिन्हें मन्त्र-सिद्धि प्राप्त हो। उन्हें मन्त्र की अनुभूति प्राप्त होती है तथा वे शिष्य में उसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं।

मन्त्र ध्वनियों का एवं यन्त्र स्वरूपों का मण्डल होते हैं। इन्हें अपने गुरु से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करना चाहिये। मन्त्र और यन्त्र ध्यान के साधन हैं, अत: वे चित्त से सम्बद्ध होते हैं। सांसारिक स्तर के पसन्द-नापसन्द होने के विचार के आधार पर उनका चयन नहीं किया जाता। गुरु अपनी प्रज्ञा एवं अतीन्द्रिय शक्ति द्वारा शिष्य के चित्त की सही प्रकृति को समझने में सक्षम होते हैं। इसी आधार पर वे उसके लिये मन्त्र एवं यन्त्र का चयन करते हैं।

अन्य औपचारिक दीक्षाएँ–जैसे संन्यास एवं कर्म संन्यास– साधना के स्वाभाविक परिणाम के रूप में दी जाती हैं। कर्म संन्यास की दीक्षा वैसे गृहस्थों को दी जाती है जो अपने जीवन की प्रतिकृति में एक उच्चतर जीवन-स्तर शामिल करना चाहते हैं। इस दीक्षा से विवाह, बच्चे एवं भौतिक सम्पदा, जिज्ञासु व्यक्ति तथा उच्चतर ज्ञान की खोज के प्रति उसके समर्पण, के बीच बाधक के रूप में खड़े नहीं होते, बल्कि वह जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का उपयोग अपनी साधना के एक अंग के रूप में करता है। सांसारिक जीवन

में वह पूर्ण रूप से भाग लेता है। किन्तु साथ-ही-साथ आत्मसाक्षात्कार को वह अपना लक्ष्य मानता है तथा उसे दृढ़ता से अपने मन में बैठाये रहता है। कर्मसंन्यास प्रवृत्ति का मार्ग है। इस दीक्षा में शिष्य को एक आध्यात्मिक नाम दिया जाता है। उसे एक गेरू वस्त्र भी दिया है, जिसे वह साधना के समय अपने समर्पण के एक प्रतीक के रूप में धारण करता है।

संन्यास दीक्षा वैसे लोगों को दी जाती है जो महत्तम सत्य की खोज हेतु अपना जीवन अर्पित करने का निर्णय लेते हैं। यह गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का मार्ग है। संन्यास निवृत्ति का मार्ग है। इसमें शिष्य अपनी सारी इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं आसक्तियों का परित्याग करता है। वह गुरु-सेवा के प्रति स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित करता है। तदुपरान्त गुरु शिष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का अनावरण करते हैं। आश्रम में लम्बे समय तक प्रशिक्षण देने के बाद वे उसे दूर-दूर के क्षेत्रों तक अपने उपदेशों का प्रचार करने हेतु भेजते हैं। अपनी व्यक्तिगत साधना तथा गुरु के प्रति समर्पण से संन्यासी का विकास होता है। अन्त में वह एक मार्गदर्शक प्रकाश के रूप में दूसरों की सेवा करता है।

इस दीक्षा में शिष्य अपने सिर का मुण्डन कराता है। गुरु उसे एक नया नाम एवं दो गेरू वस्त्र देते हैं। उसका भौतिक शरीर पूर्ववत रहता है, किन्तु संन्यास दीक्षा शिष्य के पूर्व के व्यक्तित्व की मृत्यु एवं एक नये आध्यात्मिक प्राणी के जन्म का प्रतीक बन जाती है। दूसरे शब्दों में, उसी भौतिक शरीर में संन्यासी का जन्म होता है। भारत में संन्यास दीक्षा के अधिक परम्परागत समारोहों में शिष्य गुरु की सहायता से स्वयं अपना अन्तिम संस्कार करता है। इस प्रकार वह उन सभी बन्धनों को तोड़ डालता है, जिनके कारण वह अब तक संसार के चंगुल में फँसा हुआ था। एक नवजात संन्यासी के रूप में वह स्वयं एक प्रतिज्ञा करता है कि अपने जीवन में अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्रथम एवं सर्वोत्तम स्थान प्रदान करेगा।

आध्यात्मिक मार्ग पर शिष्य जैसे-जैसे प्रगति करता है, उसे अधिक उन्नत अभ्यासों– क्रियायोग, लययोग, राजयोग, कुण्डलिनी योग– में दीक्षा मिल सकती है। वास्तव में यदि शिष्य ने स्वयं को गुरु को समर्पित कर दिया है तो वे स्वयं उसकी साधना के सही स्वरूप का निर्धारण करते हैं। जब अधिक परिष्कृत रूप में दीक्षा दी जाती है तो औपचारिकताओं की आवश्यकता नहीं होती। गुरु सहजता से दीक्षा सम्प्रेषित कर देते हैं, किन्तु इस प्रकार की दीक्षा

उसी शिष्य को दी जा सकती है जिसने अतीन्द्रिय स्तर पर गुरु से सशक्त सम्पर्क स्थापित कर लिया है। सामान्य शिष्य को दी जाने वाली दीक्षा प्राय: मौखिक एवं कर्मकाण्डी होती है।

प्रत्येक दीक्षा के साथ गुरु एवं शिष्य के बीच का सम्बन्ध अधिक मजबूत और दृढ़ होता है। शिष्य अपना जीवन एवं आध्यात्मिक उपलब्धि गुरु चरणों में अर्पित करता है। वह अच्छी तरह समझता है कि गुरु ही ईश्वरीय अनुभूति का माध्यम हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध में दीक्षा की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। धर्मशास्त्रों में इस बात पर बार-बार बल दिया गया है कि दीक्षा के बिना साधक की साधना सफल नहीं होगी या उससे अपेक्षित परिणाम नहीं मिलेगा। दीक्षा एक उत्कृष्ट विस्फोटक के समान है। इसकी आवश्यकता आपको उस अनन्त अन्तरिक्ष में उछालने के लिये होती है जो आपके एवं आपकी आत्मा के बीच व्याप्त है।

गुरु एक ही होना चाहिये

नैरन्तर्य आध्यात्मिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। इससे व्यक्तित्व में स्थिरता आती है तथा इसी आधार पर आगे का विकास निर्भर रहता है। सभी सम्बद्ध पहलुओं में नैरन्तर्य बना रहना चाहिये। साधक या शिष्य को एक मन्त्र, एक साधना और एक ही गुरु से सदैव जुड़ा रहना चाहिये।

दैनिक जीवन के सम्बन्धों में हम प्राय: अस्थायित्व पाते हैं। मानव स्वभाव ही ऐसा है कि हम अपने सम्बन्धों तथा भौतिक सम्पदाओं से शीघ्र ही ऊब जाते हैं। ऐसा हर जगह हो रहा है। जब परिस्थितियाँ अनुकूल या आकर्षक नहीं मालूम पड़तीं तो हम परिवर्तन के लिये बेचैन हो जाते हैं। हम बेहतर परिस्थिति की खोज करने लगते हैं। हम पति, पत्नी, आवास, मोटर कार, नौकरी एवं पेशा बदलने लगते हैं। मनुष्य असन्तुष्ट इच्छाओं से प्रेरित होकर नये अनुभवों की कामना करने लगता है। किन्तु यह प्यास कभी नहीं बुझती, क्रमश: बढ़ती ही जाती है।

यह स्वेच्छाचारी मन आध्यात्मिक जीवन में भी शान्त नहीं रह सकता। अनेक शिष्य एक गुरु को स्वीकार करते हैं, कुछ समय तक उनके साथ रहते हैं और जब परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं मालूम पड़तीं तो उन्हें त्याग देते हैं। इससे आध्यात्मिक जीवन में अस्थिरता आती है। शिष्य के लिये यह समझना आवश्यक है कि आध्यात्मिक विकास हेतु गुरु का चयन अन्तिम और स्थायी रूप से होना चाहिये। मन की सनक को सन्तुष्ट करने के लिये बार-बार गुरु बदलना कदापि उचित नहीं है। इससे स्थिति और भी जटिल और उलझनपूर्ण हो जाती है। यदि शिष्य एक गुरु में दोष देखता है, तो वह दूसरे गुरु में भी वैसा ही करेगा। अन्ततोगत्वा वह निराश और निरुत्साह हो जाता है तथा उसका आध्यात्मिक जीवन पूर्णत: नष्ट हो जाता है।

व्यक्ति को सभी ज्ञानी पुरुषों के शिक्षण से अवश्य प्रेरणा लेनी चाहिये। उनकी वाणी से हमें सान्त्वना मिलती है, किन्तु परम्परानुसार गुरु एक ही होना चाहिये। शिष्य स्वयं को गुरु को समर्पित करता है। एक बार सम्बन्ध हो जाने के बाद शिष्य गुरु से सभी स्तरों पर एकत्व स्थापित करने हेतु निरन्तर प्रयास करता है। अत: यदि किसी शिष्य के अनेक गुरु होंगे तो वह स्वयं को कितने लोगों को समर्पित करेगा? यदि शिष्य बार-बार गुरु बदलेगा तो उसके तथा गुरु के बीच गहरा सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हो सकेगा? अत: यह स्पष्ट है कि इस स्थिति में सम्बन्ध सतही या छिछला होगा और वैसा ही बना रहेगा। इन परिस्थितियों में शिष्य अपने आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा कैसे कर सकता है? गुरु-शिष्य सम्बन्ध में बनावटीपन या दिखावे के लिये कोई स्थान नहीं है। गुरु सदा के लिये एक ही होना चाहिये। और शिष्य का समर्पण सम्पूर्ण तथा अन्तिम होना चाहिये।

गुरु-दक्षिणा

भारत आध्यात्मिक संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। यहाँ दक्षिणा की परम्परा युगों से चली आ रही है तथा सदैव साधु, संन्यासी एवं महात्माओं की देख-रेख एवं सेवा की जाती रही है। लोगों ने एक प्राचीन विद्या एवं ज्ञान की सुरक्षा तथा भावी पीढ़ियों की सांस्कृतिक समृद्धि के लिये ऐसा करना आवश्यक समझा।

ये साधु-संन्यासी वैसे लोग हैं जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन की शक्ति सत्य की खोज में समर्पित कर दी है। ऐसा उन्होंने सिर्फ अपने विकास के लिये नहीं किया है, उन्होंने तो इस ज्ञान को सम्पूर्ण मानव समाज तक पहुँचाने का प्रयास किया है। इस हेतु उन्होंने सुखद एवं आरामदेह जीवन को त्याग कर दयनीय गरीबी में रहना स्वीकार किया है। उन्होंने परिवार, धन, सम्पत्ति, उपलब्धि, विलासिता एवं सुख-चैन का परित्याग कर दिया है, जिनके बिना सामान्य व्यक्ति का जीना असम्भव है। उनका लक्ष्य सामान्य जीवन के भोग-विलास से परे हैं। उन्होंने तो ज्ञान का प्रकाश फैलाने तथा उसे मानव समाज तक पहुँचाने के लिये ही जीवन धारण किया है।

इस आन्तरिक अनुभूति की प्राप्ति हेतु उन्होंने सदैव भौतिक सुख-सुविधाओं का परित्याग किया है। उन्होंने भिखारियों की तरह, कभी-कभी अनेक दिनों तक भूखे रहकर, जीवन बिताया है। क्योंकि उनके पास खाद्य पदार्थ खरीदने हेतु पैसे नहीं होते, किन्तु ऐसी परिस्थितियों का सामना करने हेतु वे सर्वदा तैयार रहे हैं, क्योंकि उनके मन में आत्मसाक्षात्कार का लक्ष्य दृढ़तापूर्वक बैठ गया है।

ईश्वर अनुभूति की उच्च अवस्था की प्राप्ति हेतु साधु-संन्यासियों का उन कर्त्तव्यों से मुक्त रहना आवश्यक है जिससे सामान्य व्यक्ति बँधा होता

है। उनका शरीर, मन, विचार एवं सारी शक्तियाँ पूर्णत: उसी लक्ष्य की ओर निर्देशित होनी चाहिये। यदि वे रोजगार, रुपया-पैसा, धन-सम्पत्ति एवं कर जैसे सांसारिक क्रिया-कलापों की चिन्ता करेंगे तो उनकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का अपव्यय होगा। ऐसी स्थिति में उनके लिये सामान्य लोगों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन करना सम्भव नहीं है।

यदि गुरु लोगों के आध्यात्मिक विकास हेतु पथ-प्रदर्शन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं तो ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि दूसरे लोग उनकी जरूरतों का ख्याल रखें। वास्तव में भारत में आदिकाल से ही आध्यात्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध गुरुजन इस महान् एवं नि:स्वार्थ कार्य के प्रति अपने को समर्पित करते रहे हैं। इस देश के लोगों ने ऐसे कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिये ही गुरु-दक्षिणा की परम्परा चलायी।

गुरु के शिष्यों ने उनके भोजन, वस्त्र एवं अन्य अनेक प्रकार से आर्थिक सहायता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया, ताकि उनका कार्य निर्बाध गति से जारी रहे।

गुरु-दक्षिणा की प्रथा आज भी कायम है। शिष्य अपने उपार्जन या सम्पत्ति से प्राप्त सर्वोत्तम वस्तु गुरु को अर्पित करता है। यह उनकी आध्यात्मिक शक्ति के प्रति उसकी भक्ति की प्रतिबद्धता का एक रूप है। दक्षिणा गुरु और शिष्य को एक-दूसरे के निकट लाती है तथा उनके बीच धीरे-धीरे अधिक गहरा सम्बन्ध स्थापित होता जाता है। शिष्य एक ऐसे पुत्र का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेता है जो अपने पिता की देख-रेख करता है तथा उनकी प्रत्येक आवश्यकता का ख्याल रखता है।

शिष्य को यह अनुभव करना चाहिये कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे गुरु के लिये प्राप्त करने में उसे तनिक भी हिचकिचाहट होगी। गुरु ने धनी-गरीब, सुखी-दु:खी, सबल-निर्बल, सभी की आध्यात्मिक उन्नति हेतु अपेक्षारहित होकर स्वयं को अर्पित कर दिया है। अत: वे सर्वोत्तम वस्तुओं को प्राप्त करने के पात्र हैं। ऐसी महान् आत्मा की सेवा करने से किसी को भी नहीं हिचकना चाहिये।

शिष्य बहुधा गुरु को अपनी भौतिक सम्पदा का कोई अंश देना नहीं चाहता। ऐसा वह अपनी सीमित समझदारी के कारण करता है। वह तर्क देता है कि यदि गुरु वास्तव में आध्यात्मिक हैं तो उन्हें भौतिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को

अन्न, वस्त्र एवं रुपये-पैसे की आवश्यकता होती है। शरीर को कायम रखने तथा दिन-प्रतिदिन की जरूरतों को पूरा करने के लिये यह आवश्यक है। वास्तव में साधु-महात्माओं ने कभी भी ऐसा नहीं कहा है कि धन का उपयोग सर्वथा त्याज्य है। हाँ, उन्होंने इस बात पर अवश्य बल दिया है कि हमें भौतिक सम्पत्ति के प्रति अपनी आसक्ति, तल्लीनता तथा असीम इच्छाओं का परित्याग करना चाहिये। साधु के लिये धन एक उपयोगी वस्तु के समान है। वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु धन के लिये लालायित नहीं रहते। अन्यथा वे स्वयं सब प्रकार की भौतिक सम्पत्ति का परित्याग क्यों करते हैं?

यह एक अति नूतन विचार मालूम पड़ता है कि आध्यात्मिक जीवन बिताने वाले व्यक्ति को धन की आवश्यकता नहीं होती। दान-दक्षिणा की प्रथा तो ईसाइयों, यहूदियों तथा मुसलमानों के बीच भी प्रचलित रही है। उनके यहाँ जब भी आध्यात्मिक सेवा हेतु समर्पित महात्माओं एवं उनका अनुकरण करने के लिये लालायित वैसे लोगों के बीच सम्पर्क होता है जो अभी भौतिक लाभ के लिये सांसारिक क्रिया-कलापों में उलझे हुए हैं तो वे सदिच्छापूर्वक दक्षिणा देते हैं।

गुरु को धन-सम्पत्ति दान स्वरूप देने वाला शिष्य पर्याप्त एवं पूर्ण मात्रा में प्राप्त करने लगता है। उसका व्यक्तित्व पूर्ण हो जाता है तथा वह इस सम्पूर्णता का अनुभव करने लगता है। उसके अन्दर असन्तोष का कोई भाव नहीं रहता, बल्कि वह अनुभव करने लगता है कि वह उन सब चीजों से लबालब भरा हुआ है जिनके लिये कभी वह लालायित रहा करता था। इस प्रकार जब कोई शिष्य गुरु को कुछ देता है तो वास्तव में वह प्राप्त करता है, अपने को भरता या पूर्ण करता है और यदि वह नि:स्वार्थ भाव से गुरु को दान दे रहा है तो अपने को आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठा रहा है।

भारत में शिष्यगण गुरु की सेवा हेतु अपने सभी साधनों का उपयोग करते हैं। वास्तव में वे गुरु-चरणों में अपना सर्वस्व तक न्योछावर कर देते हैं। वे इस बात के प्रति आश्वस्त रहते हैं कि वे जो कुछ दे रहे हैं एक सुपात्र के हाथों में जा रहा है। वे यह भी जानते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध व्यक्ति के लिये धन-सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि का कोई महत्त्व नहीं होता। वे उनका उपयोग सिर्फ एक उद्देश्य से करते हैं–सम्पूर्ण मानव समाज में ज्ञान और विवेक का प्रसार। भौतिक सम्पदा के उपयोग का इससे अधिक उत्तम तरीका और क्या हो सकता है?

आप कब तक वस्त्र, भवन एवं मोटर गाड़ी पर अपने धन का अपव्यय करते रहेंगे तथा लाड़-प्यार एवं भोग-विलास का आनन्द लूटते रहेंगे? आप गहनतर निष्क्रियता एवं आत्मसन्तोष से अपने को अधिकाधिक मदोन्मत्त कर रहे हैं। बेहतर यह होगा कि आपके पास जो कुछ भी प्रचुर मात्रा में हो वह आप गुरु को प्रदान करें ताकि वे उसका उपयोग महान् कार्यों के लिये कर सकें। ऐसा करने के उपरान्त आप पायेंगे कि जितना आपने उन्हें दिया उससे बहुत अधिक आप प्राप्त कर रहे हैं।

आपने धन-सम्पत्ति, भवन, मोटर कार एवं अन्य सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में एकत्र कर ली हैं, किन्तु इनसे आपका असन्तोष दूर न हो सका। वास्तव में आप पाते हैं कि अन्ततोगत्वा इनसे आपका कष्ट बढ़ा ही है। आपकी भौतिक उपलब्धि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, आपकी इच्छा भी क्रमशः बढ़ती ही जाती है। प्रत्येक नयी उपलब्धि आपके अहंकार को और अधिक सुदृढ़ करती है। तथापि आपके पीछे एक भय छुपा हुआ है कि कहीं सब कुछ खो न जाए, चोरी न चला जाए या नष्ट न हो जाए। अच्छा यह होगा कि आप यह समझ लें एवं स्वीकार कर लें कि एक दिन आपको अन्य लोगों की तरह ही सब कुछ पीछे छोड़ना पड़ेगा। अतः शिष्य जब अपनी सम्पत्ति, जिससे वह प्रेम करता है, गुरु को दान स्वरूप अर्पित करता है तब वह वास्तव में अपना अहंकार ही प्रदान करता है।

गुरु के समक्ष आप एक भिखारी के समान हैं। आपके पास पर्याप्त धन, यश, प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा हो सकती है, किन्तु यदि आपने अपनी आत्मा को नहीं जगाया है तो आप वास्तव में दरिद्र हैं। गुरु सिर्फ आपकी आध्यात्मिक सम्पदा का ध्यान रखते हैं। यदि आपके पास उसका अभाव है तो आपकी भौतिक सम्पत्ति उनके लिये जितनी आवश्यक है उससे बहुत अधिक आवश्यक आपके लिये उनकी आध्यात्मिक सम्पत्ति है।

जब हम किसी को कुछ देते हैं तो सामान्य अपेक्षा यह रहती है कि आपको हमारी दयालुता एवं उदारता के लिये कृतज्ञ होना चाहिये। गुरु के साथ ठीक इसके विपरीत बात होती है। आपको यह स्मरण रखना चाहिये कि सच्चे गुरु पूर्ण आत्मनिर्भर होते हैं। वे दयनीय गरीबी तथा अपार समृद्धि के बीच समान सहजता से रह सकते हैं। वास्तव में उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। वे किसी वीरान स्थान या जंगल में अपनी आत्मा में निरन्तर तल्लीन होकर रह सकते हैं। चूँकि उन्हें अपने अस्तित्व के केन्द्र का पता चल गया

है, अत: उनके लिये कोई बाह्य संतुष्टि आवश्यक नहीं है। उनके लिये तो वे उपहार भी आवश्यक नहीं हैं, जो हम उन्हें अर्पित करते हैं। गुरु को दान देना एक विनम्र कार्य होना चाहिये, अहंकार का प्रदर्शन नहीं।

गुरु हमारे बीच सिर्फ इसलिये रहे हैं कि हमें उनकी आवश्यकता है। यह हम पर उनकी अनुकम्पा एवं प्रेम ही है कि वे हमें शिक्षा देते हैं। वे ऐसा इसलिये नहीं करते कि धनी होने के लिये उन्हें दान या उपहार चाहिये। वास्तव में संसार में रहते हुए भी वे शहरी जीवन के हलचल से बहुत दूर, एकान्त में रहना पसन्द करते हैं।

अधिकांश आश्रम एकान्त एवं अनन्वेषित वातावरण में स्थित होते हैं। उनका निर्माण इस प्रकार होता है कि वहाँ का जीवन स्वभावत: ही कठिन होता है। प्राय: आश्रम तक अच्छी सड़क नहीं जाती। वहाँ दूरभाष, दूरदर्शन, विद्युत-आपूर्ति एवं गर्म पानी की व्यवस्था नहीं होती तथा भोजन सादा एवं अपर्याप्त होता है। सभी अच्छे आश्रमों का निर्माण सर्वाधिक कठोर एवं आडम्बरहीन वातावरण में होता है। ऐसा होने से साधक को अपने आध्यात्मिक प्रशिक्षण के एक अंग के रूप में निरन्तर कठिन संघर्ष करना पड़ता है।

गुरु की कुटिया अति साधारण होती है। यदि उनके पास पर्याप्त सम्पत्ति हो तब भी उनका जीवन आडम्बरविहीन होता है। वास्तव में प्राय: सभी साधक गुरु को सुख-साधन एवं प्रीतिकर वस्तुएँ अर्पित करना चाहते हैं, किन्तु यदि वे सामग्रियाँ उनकी व्यक्तिगत सुविधा के लिये होती हैं तो वे उन्हें अस्वीकार कर देते हैं। गुरु केवल उन्हीं चीजों को स्वीकार करते हैं जिनका उपयोग वे उन लोगों के लिये कर सकें जिन्होंने अपना जीवन आध्यात्मिक उन्नति हेतु समर्पित कर दिया है।

बहुधा गुरु को अपनी अनिच्छा के बावजूद आश्रम का निर्माण करना पड़ता है, चूँकि उनके पास हजारों लोग आध्यात्मिक शरण एवं मार्गदर्शन हेतु आते रहते हैं। उन्हें उनके लिये भोजन, वस्त्र एवं आवास की व्यवस्था करनी पड़ती है और इस प्रकार एक आश्रम का निर्माण होता है।

गुरु अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिये आश्रम का निर्माण नहीं करते और न इसलिये ही कि उन्हें रहने के लिये एक स्थान चाहिये। आश्रम का निर्माण तो आपके लिये किया जाता है, ताकि आपको गुरु के सान्निध्य में रहने एवं उनके ज्ञान का उपयोग करने का सुअवसर मिल सके। यदि

गुरु अपना सन्देश फैलाने के लिये दूर-दूर तक यात्रा करते हैं तो ऐसा वे आपके प्रति प्रेम एवं करुणा के वशीभूत होकर ही करते हैं। उन्हें विदेशों की यात्रा करने एवं वहाँ की संस्कृति के बारे में जानकारी प्राप्त करने की कोई इच्छा नहीं होती। वे ऐसा सिर्फ इसलिये करते हैं कि आपको इसकी आवश्यकता है। उनके मार्गदर्शन के बिना आपको कदापि रास्ता नहीं मिलेगा। आप भटक गये हैं तथा आपको किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो आपको सही मार्ग पर वापस ला सके। आपके दु:ख-दर्द के कारण ही आपके जीवन में उनका अवतरण होता है, उनकी भ्रमण की इच्छापूर्ति हेतु नहीं। वे शीघ्र ही अपनी कुटिया में वापस जाकर एकान्तवास शुरू कर सकते हैं।

मुंगेर स्थित आश्रम स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी का मुख्यालय है। यह बहुत सामान्य ढंग से शुरू हुआ। प्रारम्भ में स्वामीजी ने अपने रहने के लिये एक छोटी-सी कुटिया का निर्माण किया था। उन्होंने किसी बड़ी या बेहतर संस्था की आवश्यकता महसूस नहीं की। किन्तु ज्यों-ज्यों लोग बड़ी संख्या में उनके निवास स्थान पर एकत्र होने लगे, स्वामीजी को उन्हें शरण देने के लिये भवनों का निर्माण करना पड़ा। क्रमश: अधिकाधिक लोग आने लगे एवं स्थान का विस्तार होता गया। यहाँ 750 व्यक्ति रह सकते हैं, किन्तु अभी भी स्थान का अभाव बना हुआ है। स्वामीजी स्वयं इतने बड़े पैमाने पर आश्रम का विस्तार नहीं चाहते थे, किन्तु लोगों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें ऐसा करना पड़ा। आजकल जीवन के कष्टों से परेशान होकर बड़ी संख्या में लोग आश्रम में आते हैं। यहाँ आश्रम आकर उन्हें अपार सांत्वना मिलती है।

यदि कभी गुरु गरीबी की स्थिति में पहुँच जाते हैं तब भी उनके अन्दर प्रेम, करुणा एवं शान्ति बनी रहती है, किन्तु उनका जन्म तो कुछ निश्चित उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिये होता है। इसी हेतु उन्हें संसार में रहना पड़ता हैं अत: समाज एवं शिष्यों का यह कर्त्तव्य एवं दायित्व है कि वे गुरु की अपेक्षाओं के अनुसार उनकी सहायता करें। किसी भी महान् कार्य की सराहना होनी ही चाहिये, उसे कदापि बाधित नहीं होना चाहिये। आज संसार में ऐसे कितने लोग हैं जो खड़े होकर ईमानदारी से यह घोषित कर सकते हैं कि वे मानव के उत्थान के लिये सही अर्थों में प्रतिबद्ध हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐसे लोग बहुत कम हैं। अत: जब भी हम ऐसे महापुरुष के सम्पर्क में

आयें तो उनकी सेवा का सुअवसर प्राप्त होने के उपलक्ष्य में अपने को धन्य समझना चाहिये।

इस सम्बन्ध में भारतीयों का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है। वे कभी भी किसी साधु, महात्मा या संन्यासी को खाली हाथ वापस नहीं लौटाते हैं। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वे बहुत गरीब हैं। उनके पास जो कुछ होता है, वही अर्पित करते हैं। यही कारण है कि गुरुओं ने सर्वदा भारत में ही जन्म लिया है। यहाँ के लोगों की आध्यात्मिकता के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ है। पश्चिमी देशों की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। यद्यपि वहाँ के लोग बहुत समृद्ध हैं तथा उनके पास अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक सम्पत्ति है, किन्तु गुरु को दान देने में जो तत्त्व एवं आनन्द निहित है उसे वे नहीं समझ सकते।

भारत में गुरु के लिये एक विशेष दिवस मनाया जाता है। गुरु ने तो अपना सम्पूर्ण जीवन दूसरों की सेवा हेतु समर्पित कर दिया है। यह दिवस उनके प्रति शिष्यों की कृतज्ञता का प्रतीक है। यह समारोह आषाढ़ पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। उस दिन हजारों लोग गुरु के आश्रम में अपना सर्वस्व न्योछावर करने एकत्र होते हैं। वे जो कुछ देते हैं उसे मापते या गिनते नहीं। वे इस बात पर विचार ही नहीं करते कि यदि वे गुरु को अपनी भौतिक सम्पदा अर्पित कर देते हैं तो उनके पास क्या बच जायेगा। वे तो सिर्फ खुले एवं प्रेमपूर्ण हृदय से दान देते हैं।

गुरु को दिया जाने वाला कोई भी दान बहुत अधिक नहीं है। चूँकि उन्होंने नि:स्वार्थ भाव से आपकी सेवा करने का व्रत लिया है, अत: वास्तव में वे आपके सर्वस्व के अधिकारी हैं।

मन्त्र

शिष्य की आध्यात्मिक यात्रा के प्रारम्भ और अधिक उन्नत अवस्थाओं में मन्त्र ही उसके तथा गुरु के बीच सम्पर्क स्थापित करता है। मन्त्र दीक्षा गुरु और शिष्य के बीच के प्रथम महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों में से एक है। मन्त्र प्रदान करके गुरु शिष्य के अचेतन एवं अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। मन के इन्हीं क्षेत्रों में मन्त्र निवास करता, श्वास लेता और एक संभाव्य शक्ति बनता है। गुरु साधक के रहस्यमय व्यक्तित्व को सशक्त बनाने के लिये एक मन्त्र का चयन करते हैं और उसे उसके कान में फुसफुसाते हैं। साधना के निर्देश के साथ-साथ एक माला भी दी जाती है। मन्त्र और साधन की शक्ति की सुरक्षा हेतु उन्हें कड़ाई से गुप्त रखा जाता है।

शिष्य को मन्त्र दीक्षा देने वाले गुरु को मन्त्र सिद्धि की शक्ति प्राप्त रहती है। ऐसे व्यक्ति में मन्त्र सचेतन शक्ति के रूप में स्थित होता है और जो मन्त्र शिष्य उनसे प्राप्त करता है, वह अनुभूति का संकेन्द्रित प्रतीक होता है। इसका नियमित रूप से अभ्यास करने के बाद शिष्य चेतना के उसी स्तर तक ऊपर उठ जाता है और अन्त में निपुण साधक के समक्ष मन्त्र की प्रसुप्त शक्ति प्रकट होती है। अत: एक साधक के लिये स्मरण रखने योग्य सर्वप्रथम बात यह है कि उसे उन्हीं से मन्त्र ग्रहण करना चाहिये जिन्होंने अपने अन्दर मन्त्र के विज्ञान एवं शक्ति की अनुभूति प्राप्त कर ली है। किसी अन्य स्रोत से मन्त्र प्राप्त करना अनुचित है। यह आवश्यक नहीं है कि एक योग शिक्षक इस शक्ति से युक्त हो। सिद्ध एवं परमहंस महात्माओं ने ही मन्त्र विज्ञान पर अधिकार प्राप्त किया है और वे ही साधकों को दीक्षा देने के योग्य हैं।

प्रत्येक व्यक्ति स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से निर्मित है। सामान्य मानवीय आँखों से स्थूल शरीर को देखा जा सकता है, किन्तु सूक्ष्म और

कारण शरीरों को वही देख सकते हैं जिन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त कर ली है। व्यक्ति की आत्मा का निर्माण इन दो शरीरों से ही होता है। सजगता के उस क्षेत्र का उद्घाटन करने के बाद ही कोई साधक अपनी साधना में प्रगति कर सकता है। मन्त्र ही हमारे व्यक्तित्व के इस आयाम का द्वार खोलता है। अत: मन्त्र का चयन हमारे आध्यात्मिक व्यक्तित्व के अनुसार होना चाहिये, न कि हमारे स्थूल व्यक्तित्व के अनुसार।

सामान्य व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक शरीर का अस्तित्व एक भावात्मक बात है। हम इसके अस्तित्व को इसलिये स्वीकार करते हैं कि हमने इसके बारे में अनेक पुस्तकों में पढ़ा है। किन्तु हम इसका मानस-दर्शन करने या इसके सार-तत्त्व को समझने में सक्षम नहीं है। गुरु के लिये यह सूक्ष्म, आध्यात्मिक शरीर एक जीवन्त वास्तविकता है। वे स्थूल या बाह्य रूप के स्तरों को भेदने में सक्षम हैं और वे इसी आधार पर मन्त्र का चयन करते हैं।

साधक को दिया गया मन्त्र उसकी आत्मा को प्रभावित करता है और उस पर एक सकारात्मक छाप छोड़ता है। मन्त्र का अधिक अभ्यास करने से यह छाप या प्रभाव भी अधिक होता है और अन्तत: यह शिष्य की सम्पूर्ण चेतना को रूपान्तरित कर देता है। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व मन्त्र की ध्वनि से प्रतिध्वनित, स्पन्दित एवं अनुकम्पित होने लगता है। हम उसके शरीर के प्रत्येक कोशाणु एवं ऊत्तक में इसकी प्रतिध्वनि सुन सकते हैं, यद्यपि वह सजगतापूर्वक–मौखिक या मानसिक रूप से–मन्त्र की आवृत्ति नहीं कर रहा है।

यही वह क्षण है जब शिष्य के अन्दर में मन्त्र सजीव हो उठता है। इसके बाद ही वह रूप के पीछे छुपे हुए सार तत्त्व को समझने में सक्षम होता है। वह ईश्वरीय ध्वनि सुनने लगता है। इससे हम मन्त्र के महत्त्व तथा उसमें अन्तर्निहित अनन्त शक्ति को समझ सकते हैं।

मन्त्र ही ब्रह्माण्ड के गहन रहस्यों एवं आपके बीच का सम्पर्क सूत्र है। इसका अर्थ पूर्णत: आध्यात्मिक है और यह प्रत्यक्ष रूप से आपके अस्तित्व के अभ्यन्तर से जुड़ा हुआ है। मन्त्र धीरे-धीरे आपको अधिक गहराई में ले जाता है तथा आपके और आपकी आत्मा के बीच जो अनेक स्तर हैं, उन्हें एक-एक कर हटाता है। आप प्याज के सर्वाधिक रसदार एवं स्वादिष्ट भाग को प्राप्त करने के लिये चाकू से उसकी परतों को छीलते हैं। ठीक इसी प्रकार मन्त्र भी एक चाकू के रूप में कार्य करता है। सर्वप्रथम स्थूल शरीर

को पार करने के बाद यह शनैः-शनैः अधिक से अधिक गहराई में उतरता है और आपके अन्दर स्थित या अन्तर्निहित माधुर्य एवं परमानन्द से आपका साक्षात्कार कराता है।

आत्मा से एकता स्थापित करने की इस प्रक्रिया में यद्यपि साधक के पास एक उपकरण होता है, तथापि रास्ता दिखाने के लिये उसे एक माध्यम, एक मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है। यह मार्गदर्शक रास्ते के समस्त अवरोधों को हटाता है एवं साधक की आध्यात्मिक यात्रा को सहज एवं निश्चित बनाता है। अन्यथा शिष्य दलदल में आसानी से डूब जा सकता है, क्योंकि यह यात्रा-मार्ग अनेक एवं अति भ्रामक खाइयों से भरा हुआ है।

गुरु ही मार्गदर्शक की भूमिका ग्रहण करते हैं। इसीलिये मन्त्र को गुरु एवं शिष्य के बीच की कड़ी माना जाता है। संक्षेप में, इसी कारण से साधक को एक ऐसे गुरु से मन्त्र प्राप्त करना चाहिये जो उसकी आत्मा को प्रभावित करने में सक्षम हों ताकि वे भी शिष्य के साथ उसके अन्तिम कदम तक यात्रा कर सकें।

बहुधा यह तर्क किया जाता है कि यदि मन्त्र सिर्फ एक ध्वनि है तो किसी भी ध्वनि की आवृत्ति से इच्छित प्रभाव उत्पन्न होना चाहिये। मन के स्तरों का अतिक्रमण करने के लिये व्यक्ति आसानी से 'कोका-कोला, कोका-कोला' या 'टिक्-टिक्-टिक्-टिक्' की आवृत्ति कर सकता है। इस बात पर मैं जोर देकर कहती हूँ, 'नहीं'। ऐसा निरर्थक तर्क देने वाले लोग अभी भी जीवन के स्थूल सुखों के क्षेत्र में ही हैं और उनमें उनका अतिक्रमण करने की इच्छा का अभाव है। मन्त्र 'कोका-कोला, कोका-कोला' पर ध्यान करने से ब्रह्माण्डीय रहस्यों का उद्घाटन कदापि नहीं हो सकता। अधिक-से-अधिक यह आपको रोबोट जैसे अस्तित्व की अधिक निकम्मेपन स्थिति में ले जा सकता है। यह तर्क कितना मूर्खतापूर्ण है, इसे एक बच्चा भी समझ सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, मन्त्र का सम्बन्ध आपके स्थूल शरीर से नहीं है बल्कि यह तो वह आहार है जो आपके आध्यात्मिक शरीर का पोषण करता है। आप अपने स्थूल, भौतिक शरीर को तुष्ट करने के लिये अन्न खाते एवं कोका-कोला पीते हैं। ठीक इसी प्रकार आप अपनी आत्मा को मन्त्र रूपी भोजन खिलाते हैं ताकि यह विकसित होकर एक जीवन्त अनुभव बन सके।

प्रत्येक ध्वनि की एक आवृत्ति होती है और मैं स्वीकार करती हूँ कि कोका-कोला शब्द की भी एक निश्चित आवृत्ति अवश्य होगी। किन्तु

अपनी चेतना के स्तरों का भेदन करने के लिये आपको बृहत् एवं अनन्त आवृत्तियों की ध्वनियों की आवश्यकता है। मन्त्रों में अति उच्च आवृत्तियाँ उत्पन्न करने की क्षमता है, जो अभेद्य को भी भेद सकती हैं। मन्त्र सामान्य लौकिक शब्द नहीं होते। उनके उच्चारण से उच्च चेतना के क्षेत्र में प्रवेश संभव हो जाता है।

ध्वनि की आवृत्तियों के निर्धारण में ध्वनियों के सही संयोजन एवं शब्दों के समुच्चय की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिये, संगीत एवं शोरगुल की रचना ध्वनियों से होती है। अत: कोई यह तर्क कर सकता है कि समस्त शोरगुल संगीत है, किन्तु हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि संगीत वैसे स्वरों का सुरीलापन है जो समस्वर ध्वनि उत्पन्न करने हेतु आपस में जुड़े होते हैं। कोई शोरगुल जो स्वर संगीत, स्वर माधुर्य या सुरीलापन न उत्पन्न कर सके, संगीत नहीं है। यह सिर्फ शोरगुल है। इसी प्रकार कोई ध्वनि या शब्द जो मन्त्र के लिये आवश्यक आवृत्तियाँ प्राप्त नहीं कर सकते, कोई शब्द जो व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध नहीं हैं, मन्त्र की श्रेणी में नहीं आ सकते।

लोहे की चदरों से कार का निर्माण होता है। तथापि, जब हम लोहे के साधारण चदरों को देखते हैं तो क्षण भर के लिये भी यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारे सामने एक कार खड़ी है। जब लोहे के उन चदरों को जोड़कर एक विशेष ढंग से आपस में सम्बद्ध किया जाता है और अन्य धातुओं के साथ उनका सही संयोजन और समन्वय स्थापित किया जाता है, तभी कार का निर्माण होता है, अन्यथा नहीं। मन्त्रों की रचना भी अक्षरों एवं शब्दों के सही संयोजन से ही होती है।

अत: मन्त्र अनन्त आवृत्तियों से युक्त ध्वनियों के प्रतीक हैं, जिनकी अनुभूति ऋषियों ने ध्यान की गहरी अवस्थाओं में प्राप्त की है। युगों से उन पर प्रयोग और परीक्षण होते रहे हैं। शिष्यों को दासता की बेड़ियों से मुक्त करने के लिये गुरु उन्हें मन्त्र प्रदान करते रहे हैं।

आपके लिये कौन-सा मन्त्र सर्वाधिक उपयुक्त है, यह निश्चित करने के लिये आप किसी गुरु से अवश्य सलाह लें। इसके दो कारण हैं– आपके अन्दर क्रियाशील सूक्ष्म शक्तियों की जानकारी सिर्फ उन्हें ही है, और उन्हें ही मालूम है कि आपकी आध्यात्मिक यात्रा की दिशा क्या होनी चाहिये? यन्त्रों और प्रतीकों के सम्बन्ध में भी यह बात सही है।

यन्त्र एवं मन्त्र उन जीवन्त, आदर्शात्मक प्रभावों के प्रतीक हैं, जो आपके आन्तरिक व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। इन प्रभावों का अतिक्रमण करने के लिये एवं प्रबोधन में सहायक के रूप में आपको इन दो पद्धतियों का उपयोग करना चाहिये।

तथापि जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, गुरु ही मिट्टी-परीक्षण के बाद आपकी चेतना के बाग में मन्त्र और यन्त्र का बीज बोते हैं। बीज के अंकुरित होने एवं विकसित होकर सुगन्धित अनुभवों में पुष्पित होने के लिये यह आवश्यक है कि आप सभी स्तरों पर गुरु के साथ मजबूत सम्बन्ध स्थापित करें। ऐसा होने से वे बीज के विकास के प्रत्येक स्तर पर उसका परीक्षण कर सकेंगे एवं उसके फूलने-फलने के मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाले आसन्न संकटों को दूर कर सकेंगे।

गुरु-सेवा

इस सम्बन्ध में हम एक शिष्य के जीवन में गुरु-सेवा के महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे। आपके दैनिक जीवन एवं आध्यात्मिक साधना में इसकी सार्थकता को स्पष्ट करने के लिये हम इसे पुनर्पारिभाषित करने का प्रयास भी करेंगे। इस अवधारणा को समझने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक शिष्य अपने जीवन में इसके महत्त्व को पूर्णत: समझे। यह बात उस शिष्य के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है जो अपने सामने एक ऊँचा लक्ष्य लेकर इस मार्ग पर चला है।

गुरु-सेवा का अर्थ प्राय: नि:स्वार्थ भाव से उनकी सेवा करने से लगाया जाता है। इसका उद्देश्य मन को स्थूल इच्छाओं से मुक्त कर उसे शुद्ध करना है। गुरु-सेवा की यह व्याख्या आध्यात्मिक जीवन में इसकी प्रासंगिकता को कुछ हद तक उजागर करती है, किन्तु यह इसका अपूर्ण अर्थ है। गुरु-सेवा का अन्तर्निहित महत्त्व एवं प्रभाव अत्यधिक वैज्ञानिक है। यह आपके शरीर के शक्ति-प्रवाह से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है।

अस्तित्व और शक्ति पर्यायवाची हैं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न रूप एवं प्रकार से शक्ति का प्रवाह ही अस्तित्व है। शक्ति कभी भी स्थिर नहीं होती, यह सतत् गतिशील रहती है। यदि इसे सहजता से प्रवाहित न होने दिया जाये तो यह द्वन्द्व उत्पन्न करती है। इसके मार्ग में रुकावट डालने से यह तनाव का कारण बन जाती है। यदि यह सही ढंग से संतुलित, निर्देशित एवं प्रवाहित नहीं होगी तो इसका अपव्यय होगा। इसके परिणामस्वरूप आप जर्जर हो जायेंगे।

आपके अन्दर शक्ति का एक स्रोत है जो स्वयं को प्रकट करने हेतु फूटना चाहता है। इस शक्ति के एक अंश की अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप

ही आप सोचते, अनुभव करते एवं कार्यरत होते हैं, किन्तु आपके भीतर एक सुषुप्त अन्तर्निहित शक्ति है, जो आपके प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया में स्वयं को प्रकट करने लगती है। यह उच्चतर शक्ति है जो आपकी सम्पूर्ण अन्तर्निहित शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

जब यह शक्ति जाग्रत होकर एक स्वरूप लेती है, तब इसकी तुलना एक बाँध की दीवार के टूटने से की जा सकती है, जिसका सारा जल तीव्र वेग से बहता हुआ समुद्र में जा गिरता है। यदि बहाव का मार्ग साफ है तो जल-प्रवाह की शक्ति से कोई गंभीर नुकसान नहीं होगा। किन्तु यदि उस मार्ग में भवन, कारखाने एवं लोगों का समूह होगा तो वे इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से विनष्ट हो जायेंगे। इसी प्रकार जब शक्ति स्वयं को प्रकट करने लगे तो अपने को द्वन्द्व, तनाव एवं गंभीर क्षति से बचाने के लिये उसे सहजता से एवं शान्तिपूर्वक प्रवाहित होने देना चाहिये। यदि आपकी शक्ति सहजतापूर्वक क्रियाशील होगी तो आप परमानन्द का अनुभव करेंगे, किन्तु यदि वह स्वयं में द्वन्द्व एवं विरोधात्मक स्थिति में होगी तो आप अपार कष्ट का अनुभव करेंगे। आपके सभी कष्टों का तात्पर्य यह है कि आपकी शक्ति द्वन्द्वात्मक स्थिति में है। दूसरी तरफ, आपके आनन्द का अर्थ यह है कि आपके अन्दर की ऊर्जा सामंजस्यपूर्ण है।

सर्वप्रथम हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि यह शक्ति किसी भी व्यक्ति में किसी भी समय जाग्रत होकर प्रकट हो सकती है, तथापि यह जागरण एक आकस्मिक प्रक्रिया नहीं है। यह तो धीरे-धीरे एवं अनेक स्तरों से गुजरने वाली प्रक्रिया है। आपके अन्दर जब शक्ति का जागरण होने लगता है तभी आप गुरु की खोज करते हैं या किसी आश्रम में जाते हैं। बीमारी, मानसिक संकट, निराशा, उदासी, वैवाहिक या अन्य सम्बन्धों में विफलता जैसे व्यक्त एवं बाह्य कारण तो सिर्फ बहाना हैं। ये सभी तो आपके अन्दर प्रारम्भ हुई एक आन्तरिक प्रक्रिया की बाह्य अभिव्यक्ति है।

जब आप सर्वप्रथम गुरु या किसी आध्यात्मिक पुरुष के सम्पर्क में आते हैं तो इसी प्रकार की घटनाएँ घटती हैं। आपके अन्दर शक्ति का स्वाभाविक एकत्रीकरण, स्थानान्तरण एवं विस्फोट होता है। हो सकता है कि आप इन घटनाओं के प्रति सजग न हों, किन्तु निस्सन्देह ऐसा हो रहा है। गुरु से यह सम्पर्क इतना शक्तिशाली होता है कि ये घटनाएँ सिर्फ उनकी तस्वीर देखने या उनके द्वारा लिखित पुस्तक पढ़ने से ही घटित हो सकती हैं। यह आवश्यक

नहीं है कि उनके रक्त-मांस से युक्त शरीर से आपका व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित हो। आप अनजाने में ही आत्मिक रूप से स्वप्न या संचार प्रक्रिया द्वारा शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

इस शक्ति का निर्माण एवं अभिव्यक्ति चाहे जैसे भी हो, आप अपने व्यक्तित्व में क्रमिक रूपान्तरण एवं परिवर्तन पायेंगे। तथापि इस सम्बन्ध में सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि यह रूपान्तरण आपके लिये सदैव श्रेष्ठतर या लाभदायक ही नहीं होता। अत: आप भयभीत हो जाते हैं।

आपके व्यक्तित्व की गहराई में जड़ जमाई हुई जटिलताएँ तथा अपराधभाव प्रकट होने लगते हैं। आपके अन्दर अनेक चीजों के प्रति उन्माद एवं मनोविकार उत्पन्न हो जाता है। ऐसा उन चीजों के प्रति भी हो सकता है जिनसे आप पहले आकर्षित होते थे या जिन्हें पसन्द करते थे। यदि आपने अपने व्यक्तित्व के किसी ऐसे अंश का दमन किया है जिसे आप नापसन्द करते थे तो उसका घृणित स्वरूप निश्चित रूप से पुन: प्रकट होगा।

आपके सचेतन विचारों के अलावा आपके व्यक्तित्व का अन्य आयाम भी है जो अवचेतन एवं अचेतन विचारों से सम्बद्ध है। ये विचार प्राय: अनभिव्यक्त या अप्रकट रहते हैं। आपको उनके अस्तित्व के बारे में कोई जानकारी ही नहीं होती। किन्तु जब शक्ति जागृत होने लगती है तब वे प्रकट होने लगते हैं। यदि वे सुखद या समरूप नहीं होते तो आपके जीवन में द्वन्द्व और तनाव उत्पन्न करते हैं। आप सचेतन विचारों का सामना तो कर सकते हैं, किन्तु अचेतन विचारों का विस्फोट होने पर असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं, आप उसे व्यवस्थित करने में सक्षम नहीं हो पाते।

तथापि कुछ ऐसे लोग होते हैं जो इस परिस्थिति का अधिक अच्छी तरह मुकाबला कर सकते हैं, क्योंकि उनका जीवन अधिक समरूप या शान्त रहा है एवं वे जटिलताओं, अवरोधों तथा अपराध-भावों से प्राय: मुक्त रहे हैं। अत: उनका अनुभव सुखद, रचनात्मक, आनन्ददायक एवं आशाजनक होता है। किन्तु विचारों का दमन करने वाले तथा अपराध-भाव से युक्त लोगों का अनुभव इसके ठीक विपरीत होता है।

मैं जो कह रहा हूँ उसे समझने के लिये आपको इस पर अधिक विस्तार से विचार करना होगा। आपको यह समझना है कि आपके अन्दर उत्पन्न शक्ति आपके व्यक्तित्व के सर्वप्रधान पहलू का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। दमन के कारण आपके व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ लम्बे समय के

अन्तराल में अधिकाधिक सशक्त हो जाती हैं। जब आपके अन्दर किसी शक्ति का जागरण होता है तो वह स्वाभाविक रूप से उसी मार्ग की ओर आकृष्ट होती है तथा स्वयं को आपके व्यक्तित्व की उन्हीं विशेषताओं के रूप में प्रकट करती है।

इस स्थिति में आप उद्वेलित हो जाते हैं तथा स्वयं पर अपना नियन्त्रण खो बैठते हैं। आपका व्यक्तित्व आपके हाथों में नहीं होता है। शक्ति उन विचारों के रूप में प्रकट होगी जिनका आपने कठोरतापूर्वक दमन किया है। दूसरे शब्दों में, इसकी अभिव्यक्ति आपके चित्त की सर्वाधिक सशक्त विशेषता के रूप में होगी। यदि आप क्रोध, निराशा, ईर्ष्या, भय, असुरक्षा, वासना एवं अपराध-भाव से ग्रस्त रहे हैं तो आपकी शक्ति इन्हीं दिशाओं में प्रवाहित होने लगेगी। किन्तु यदि जीवन एवं उसकी घटनाओं के प्रति आपका दृष्टिकोण तथा आपका व्यक्तित्व संतुलित है तो शक्ति सकारात्मक रूप में प्रकट होगी। इसका प्रभाव रचनात्मक होगा, न कि विनाशकारी।

एक साधारण उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। विद्युत शक्ति का उत्पादन शक्ति-गृह में होता है। वहाँ से इसे आपके घर की ओर प्रवाहित या निर्देशित किया जाता है। वहाँ पहुँचने पर इसे पुन: विघटित किया जाता है तथा प्रशीतक, दूरदर्शन एवं विद्युत कुप्पिका तक पहुँचाया जाता है। इनमें से प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार ही विद्युत शक्ति ग्रहण करता है। विद्युत कुप्पिका की तुलना में दूरदर्शन को अधिक शक्ति की आवश्यकता होगी। अत: उस सॉकेट की ओर स्वत: अधिक शक्ति का संचार होगा। उस सॉकेट की सुरक्षा हेतु आप अधिक मजबूत संलग्नक एवं बेहतर प्लग का उपयोग करते हैं। यदि विद्युत-शक्ति के प्रवाह में कोई अवरोध होगा तो संलग्नक उड़ जायेगा या दूरदर्शन नष्ट हो जायेगा।

इसी प्रकार आपका शरीर भी एक शक्ति-गृह के समान निरन्तर शक्ति का उत्पादन कर रहा है और यह शक्ति सामने उपलब्ध मार्ग की ओर प्रवाहित होने लगती है। अधिक सशक्त मार्ग अधिक मात्रा में शक्ति ग्रहण करते हैं तथा कमजोर मार्ग को कम मात्रा में शक्ति की आवश्यकता होती है। अत: यह शक्ति रचनात्मक रूप से निर्देशित एवं प्रयुक्त होनी चाहिये। अन्यथा यह आपके व्यक्तित्व में विस्फोट करेगी।

जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है वह इन्हीं परिस्थितियों में उलझा हुआ है। उसके जीवन में दु:ख-तकलीफ एवं सौंदर्य के अभाव का यही कारण

है। सुख एवं सौन्दर्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब यह शक्ति अदमित, निर्बाध, एवं समन्वित होकर एक लय में सहज रूप से प्रवाहित हो। और तब जीवन की हर एक परिस्थिति आनंददायक हो जाती है। तब नौकरी, बच्चे, पति या माता-पिता दु:ख एवं कष्ट का कारण नहीं हो सकते। तब आप पूर्ण संतुलन प्राप्त कर लेते हैं। अन्यथा आप बेचैनी, असन्तोष, आन्तरिक अशान्ति, शारीरिक जर्जरता एवं मानसिक उदासीनता का अनुभव करेंगे। आप अपने वातावरण में घुटन का अनुभव करेंगे। आपकी इच्छा अपनी वर्तमान परिस्थिति से भागकर अन्यत्र आश्रय खोजने की होगी। ऐसी स्थिति में भय एवं चिन्ताएँ बढ़ती हैं तथा आप जीवन का सामना करने में स्वयं को अक्षम पाते हैं। इन्हीं कारणों से विवाह असफल होते हैं, परिवार बिखरते हैं, हत्याएँ, अपराध और बलात्कार होते हैं, आप निराशा का अनुभव करते हैं एवं हतोत्साह हो जाते हैं।

उदाहरण के लिये, आप किसी व्यक्ति की ओर उसकी उन विशेषताओं के कारण आकृष्ट होते हैं, जिन्हें आप पसन्द करते हैं। उस व्यक्तित्व को आप अपनी सम्पत्ति मानते हैं तथा उसका साहचर्य आपको अति सुखद लगता है। ऐसा इस कारण हो सकता है कि आप में उन गुणों का अभाव है तथा आपने सदैव उन्हें प्राप्त करने की इच्छा की है। अत: ऐसे व्यक्ति के साथ रहने में आपको एक प्रकार का सकारात्मक अनुभव होता है। तथापि जब शक्ति जागृत होकर प्रकट होने लगती है तो आप अनेक बातों के प्रति बिल्कुल अनभिज्ञ हो जाते हैं। आपके साथी की जो विशेषताएँ पहले आपको आकृष्ट करती थीं, वही आपके बीच कलह का कारण बन जाती हैं। उसकी संगति मिलने पर आप उदासीनता का अनुभव करने लगते हैं। आप क्रोध, घृणा एवं ईर्ष्या से ग्रस्त हो जाते हैं। आपको अपने आप पर आश्चर्य होता है। आपको आश्चर्य होता है कि यह सब कैसे हुआ।

इन बातों को समझने के लिये आपको अधिक गहराई में जाना होगा। यदि आप शारीरिक एवं मानसिक सीमाओं, दमन तथा जटिलताओं से अपेक्षाकृत मुक्त व्यक्ति हुए होते तो शक्ति के जागरण के परिणामस्वरूप आपका मानसिक स्तर उन्नत हुआ होता। अपने साथी की विशेषताओं के प्रति आपका दृष्टिकोण अधिक सकारात्मक हुआ होता तथा आपने वास्तव में उससे कुछ सीखा होता, किन्तु हुआ इसके विपरीत। यद्यपि आप सदैव यह दावा करते रहे कि आप उसके कुछ गुणों को पसन्द करते हैं, किन्तु यह सिर्फ

अपराध-भाव तथा व्यक्तित्व की जटिलताओं के दमन का परिणाम था। अत: जब आपने शक्ति उत्पन्न की तो वे सभी विरोध या अवरोध सामने आये तथा आपके व्यक्तित्व के एक अंग के रूप में प्रकट हुए।

अत: शक्ति के उत्पन्न होने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या उसकी दिशा, प्रवाह तथा अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करना है। आप निरन्तर नई शक्तियाँ पैदा कर रहे हैं। जीवन का अर्थ ही है–सतत् जीवनी शक्ति पैदा करने की क्षमता। यह एक विराधोभास ही है। आप निरन्तर शक्ति पैदा करते जा रहे हैं, किन्तु आप यह नहीं जानते कि इसका रचनात्मक उपयोग किस प्रकार किया जाए। जब यह शक्ति उत्पन्न नहीं होती तो आप अस्वस्थता का अनुभव करते हैं। किन्तु जब यह उत्पन्न होने लगती है तब आप पुन: स्वयं को अस्वस्थ अनुभव करते हैं। प्रथम, अस्वस्थता का कारण कमजोरी या शक्ति का अभाव है। द्वितीय, अस्वस्थता का कारण उत्पन्न हुई शक्ति है जो आपके लिये भार बन गई है। आप इसे समरूप, संतुलित एवं रचनात्मक बनाने में सक्षम नहीं हैं।

अत: अपनी समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने के लिये हमें एक पद्धति का पता लगाना होगा जिसके द्वारा इस शक्ति को सन्तुलित, सही मार्गों से प्रवाहित तथा रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया जा सके। इसी सन्दर्भ में हमारे जीवन में गुरु एवं गुरु-सेवा की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

जब आप सर्वप्रथम गुरु के सम्पर्क में आते हैं तो आपके शक्ति-चक्र का विघटन तथा पुनर्गठन होता है। ऐसा हो सकता है कि आप लक्षणों को न पहचान सकें, किन्तु रूपान्तरण प्रारम्भ होने लगता है। शक्ति विघटित एवं पुनर्गठित होने लगती है। प्राय: जब आप गुरु से मिलते हैं तब आप भावुक और उदासीन हो जाते हैं। आप अत्यधिक उल्लसित होकर आनन्द से नृत्य करने लगते हैं या आपके अन्दर पूर्णतया नकारात्मक भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं।

गुरु से मिलन विस्फोटक का कार्य करता है। आपके अन्दर जो कुछ भी है, वह तीव्र गति से सतह पर आता है। इस समय आप जो कुछ भी अनुभव करते हैं वह आपके चित्त की संरचना का परिणाम है तथा आपके संस्कारों एवं मूलरूपों से सम्बद्ध है। अनेक बार इन संस्कारों तथा मूलरूपों से आपका परिचय नहीं होता। अत: गुरु से मिलने पर जो अनुभव होते हैं,

उनसे आप आतंकित हो जाते हैं। मैंने अत्यधिक कट्टर एवं कटु स्वभाव वाले व्यक्तियों को गुरु के सामने बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोते हुए देखा है। ऐसे लोग अपनी प्रतिक्रियाओं पर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, क्योंकि ये अपने प्रति उनके विचारों के पूर्णत: विपरीत होती हैं। वे इन्हें नहीं समझ पाते। वास्तव में होता यह है कि जिस जागरण के चलते आप गुरु के पास आये, वह उनके सम्पर्क में आने के बाद नवीन तथा सुदृढ़ बन जाता है। उनकी उपस्थिति शक्ति के जागरण की प्रक्रिया को और अधिक सक्रिय, सुदृढ़ एवं प्रज्वलित करती है। इससे आपका आन्तरिक व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है। गुरु एक दर्पण का कार्य करते हैं। उस दर्पण में आपका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है तथा अनजाने में ही आप अपने स्वरूप को देखने लगते हैं।

गुरु से इस प्रथम सम्पर्क के साथ ही एक आन्तरिक रूपान्तरण प्रारम्भ हो जाता है। सभी चीजें बदलने लगती हैं तथा अधिकतर लोगों के लिए जीवन पुन: पहले जैसा नहीं रह जाता। निश्चित रूप से शक्ति का अधिकाधिक जागरण एवं उत्पादन होने लगता है। इस स्थिति के लिये आपको स्वयं को तैयार करना है। इस स्तर पर पहुँचने पर गुरु-सेवा की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण तथा निर्णायक होती है।

जब आप गुरु-आश्रम में रहकर गुरु-सेवा करते हैं तो वास्तव में अपने शरीर में शक्ति के प्रवाह को सन्तुलित कर रहे हैं तथा उसे उन क्षेत्रों की ओर प्रवाहित कर रहे हैं जहाँ उसका सर्वाधिक लाभ मिल सके। गुरु नि:स्वार्थता के प्रतीक होते हैं। उनका लक्ष्य आदमी की चेतना को अधिकाधिक विकसित करना तथा ऊँचा उठाना है। यह पूर्णतया नि:स्वार्थपूर्ण लक्ष्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही वे आज हमारे बीच हैं। उनके उद्देश्य की पवित्रता तथा उनकी उपस्थिति के कारण ही हम नि:स्वार्थपूर्ण कार्य करने के लिये तत्पर होते हैं। इसके अतिरिक्त, आश्रम का वातावरण ही नि:स्वार्थ सेवा की नींव पर बना हुआ होता है। निहित स्वार्थ से युक्त लोगों के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं होता। ऐसे वातावरण में टिक ही नहीं सकेंगे तथा अपनी ही इच्छा से वहाँ से विदा हो जायेंगे।

अत: आप किसी भी समस्या या कठिनाई के कारण जब भी आश्रम आयें, यह आवश्यक है कि आप तन-मन से गुरु-सेवा में संलग्न हो जायें। गुरु-सेवा आपके शरीर में शक्ति के प्रवाह को सन्तुलित करती तथा उसे आपके अन्दर

के उच्चतर केन्द्रों की ओर निर्देशित करती है। अन्त में ये केन्द्र सक्रिय होकर कार्य करने लगते हैं तथा आप पाते हैं कि आप अधिक रचनात्मक, अन्तर्दर्शी एवं शान्त या समरूप होने लगे हैं। पहले गड़बड़ी यह थी कि आपकी शक्ति जाग्रत तो हो गई थी, किन्तु आपके व्यक्तित्व के कठोर अवरोधों तथा मानसिक अनुबन्धों के कारण उच्चतर केन्द्रों की ओर इसका प्रवाह अवरुद्ध था। इसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप नकारात्मक था।

तथापि जब आप आश्रम में आते हैं और वहाँ गुरु की सेवा करते हैं या उनके लिये कार्य करते हैं तो आप अनजाने में ही शक्ति का मार्ग साफ कर रहे हैं तथा उसे उच्चतर एवं अधिक शक्तिशाली केन्द्रों की ओर बढ़ने का अवसर दे रहे हैं। आश्रम में रहते हुए जब आप कठोर परिश्रम करते हैं तब अपने अन्दर पूर्ण परिवर्तन पाते हैं। आप बेहतर अनुभव करते हैं, आपकी सोच अधिक स्पष्ट और सही हो जाती है। वास्तव में आप एक बार पुन: जीवन को उचित रूप से देख सकते हैं। तदुपरान्त जब आप घर वापस लौटते हैं तो स्वयं को आसानी से एक बार पुन: अपने वातावरण के अनुकूल बनाने में सक्षम होते हैं। अब आप ऐसी अनेक चीजों के बारे में सजग होते हैं जिन्हें आप पहले नहीं समझ पाये थे।

गुरु-सेवा के पीछे नि:स्वार्थ कर्म का सिद्धान्त है। यह कर्म आसक्ति तथा लाभ की भावना से रहित होकर किया जाता है। इसका अभ्यास आपकी शक्ति को सन्तुलित करने में इतना प्रभावकारी क्यों है? उत्तर स्पष्ट है। नि:स्वार्थ प्रयोजन के कारण आपका अहंकार बीच में नहीं आता तथा आप अपने द्वन्द्वों तथा तनावों से प्रत्यक्ष मुकाबला किये बगैर उपमार्ग से होकर निकल जाने में सफल होते हैं। वे अभी भी मौजूद हो सकते हैं, किन्तु अब वे आपको प्रभावित नहीं करते, क्योंकि आपकी शक्ति अन्य दिशाओं में मुड़ गई है।

गुरु-सेवा का अभ्यास आश्रम में ही किया जा सकता है, अपने घर पर नहीं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, आश्रम का वातावरण उच्चतर सजगता के विकास में सहायक होता है और इस प्रकार आपकी शक्ति को अवरोध-रहित होकर प्रवाहित होने का अवसर मिलता है। यदि आप अपने वातावरण में रहते हैं तो पाते हैं कि शक्ति को सन्तुलित करना एक अत्यधिक कठिन कार्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप जहाँ रहते हैं वहाँ की परिस्थिति बुरी या विकृत है। बात सिर्फ इतनी है कि वहाँ के

वातावरण में आप विशेष परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम नहीं हो पाते। कोई भी परिस्थिति या घटना एक नकारात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है। जिन लोगों को आप निकट से जानते हैं, उनके प्रति घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, एवं अन्य नकारात्मक भावों से आप शायद ही ऊपर उठ पाते हैं। किन्तु आश्रम की परिस्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्ति को विकसित करने में लगा हुआ है। वहाँ के वातावरण में कर्मयोग की भावना व्याप्त रहती है तथा आप भी उससे अभिप्रेरित होते हैं। इसके अतिरिक्त, इतने अधिक आध्यात्मिक लोगों से उत्पन्न सकारात्मक तरंग भी आपकी शक्ति को सन्तुलित करने में सहायक होती है।

धीरे-धीरे अन्त में गुरु-सेवा के प्रति यह भाव आपके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है। यह आपकी प्रकृति का अंग बन जाता है तथा इस हेतु आपको तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। आप जीवन की सभी परिस्थितियों का मुकाबला समान सहजता एवं धैर्य से करते हैं। जीवन के उतार-चढ़ाव आपको पराजित या नष्ट नहीं कर पाते। आप उन्हें आसानी से निपटा सकते हैं। तदुपरान्त आप अपने घर वापस जा सकते हैं तथा माता, पुत्री, पति या पुत्र की भूमिका निभा सकते हैं।

शक्ति के जागरण को सही एवं सुव्यवस्थित रूप से संभालना होता है। अति संवेदनशील, भावनात्मक या नकारात्मक होने का कोई कारण नहीं है। उस समय आपके लिये आश्रम आवास, सरल जीवन, उचित आहार, कर्मयोग तथा गुरु की सकारात्मक शक्ति का अत्यधिक महत्त्व होता है। मात्र इसी चिकित्सा द्वारा आप पुन: अपने पैर पर खड़े हो सकते हैं। चिकित्सक, मनोचिकित्सक या दवाई की गोलियाँ आपकी सहायता नहीं कर सकतीं। एक महीना या उससे अधिक समय तक आश्रम में रहकर गुरु-सेवा करने से आपका बहुत कल्याण हो सकता है।

ईश्वर रूप गुरु

धर्मशास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि यदि आपको एक साथ ही गुरु और ईश्वर के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो तो आप निश्चित रूप से पहले गुरु की उपासना करें और तब ईश्वर की, क्योंकि गुरु ही हमें अनुभूति के इस स्तर तक पहुँचाते हैं। वे ही हमें देवत्व की प्रथम झलक दिखाते हैं तथा स्थूल एवं भौतिक अनुभवों के परे, आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय अनुभूतियों के क्षेत्र में हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

ईश्वर के प्रति व्यक्ति की अवधारणा का अन्तर्निहित आधार यह है कि वे अति कृपालु, दयालु, न्यायपूर्ण तथा असीम ज्ञान से युक्त हैं। भक्त या शिष्य गुरु को इसी रूप में देखते हैं। गुरु और शिष्य के बीच अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध वैसा भी हो सकता है जैसा कि भक्त और भगवान के बीच होता है। गुरु स्वामी है, शिष्य एक आज्ञाकारी भृत्य।

तथापि इस बात को सतही रूप में नहीं लेना चाहिये। इस अवधारणा को समझने के लिये हमें अधिक गहराई में जाना होगा। एक आज्ञाकारी सेवक अपने मालिक के प्रति नम्रता, स्वामीभक्ति, सम्मान एवं एकनिष्ठ समर्पण का भाव रखता है। ईश्वर के प्रति भी हमारे भाव ऐसे ही होते हैं। गुरु ईश्वर के सर्वाधिक निकट होते हैं। जब शिष्य गुरु के प्रति इन भावों को व्यक्त करता है तब वह सिर्फ अपने मन का रूपान्तरण कर रहा है ताकि ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित होने पर जो उच्च अनुभूति होती है उसे वह सम्भाल सके।

गुरु को हम जिस भाव से देखते हैं वे उसी रूप में हमारे सामने प्रकट होते हैं। यदि कोई उन्हें झूठा या ठग समझता है तो उसके लिये वे वही हैं। यदि

कोई उन्हें ज्ञानी और श्रेष्ठ समझता है तो वे वैसा ही हो जाते हैं। यदि किसी की भक्ति एवं विश्वास इतना गहरा है कि वह गुरु को ईश्वर मानने लगता है तो गुरु उसके लिये ईश्वर का रूप भी धारण कर सकते हैं। हमें यह समझना है कि गुरु में हम अपने को ही प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। इसीलिये यह कहा जाता है कि जो अपने गुरु को ईश्वर के रूप में देखते हैं, वे बहुत भाग्यवान हैं, क्योंकि वे ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

आज विज्ञान ने अपने आविष्कारों से हमें चकित कर दिया है। पहले ईश्वर के बारे में हमारा ख्याल था कि वे स्वर्ग में रहते हैं तथा मरणशील मनुष्यों के अच्छे-बुरे कर्मों पर निर्णय देते हैं। किन्तु सम्प्रति यह अवधारणा पूर्णत: चकनाचूर हो गई है। आज मनुष्य की अपनी चेतना के विकास पर बल दिया जा रहा है। मान्यता यह है कि इस विकास के परिणामस्वरूप वह देवता नहीं, बल्कि विशिष्ट मनुष्य बनेगा।

इसके अतिरिक्त हमने देखा है कि प्रत्येक युग में अति विकसित एवं प्रबुद्ध आत्मा से युक्त व्यक्तियों का अवतार हुआ है। इन महापुरुषों ने रक्त-मांस से युक्त शरीर धारण कर हमारे बीच जीवन जीया है तथा सामान्य आदमी की तरह जीवन के दु:ख-तकलीफों को झेला है। उन्होंने निस्सन्देह यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक व्यक्ति उनके द्वारा प्राप्त चेतना के अति उच्च स्तर तक पहुँचने में सक्षम है।

वह ईश्वरीय शक्ति हम में से प्रत्येक के अन्दर स्थित है। गुरु ने अपने अन्दर की इस शक्ति को जगा लिया है। अत: आप जो प्राप्त करना चाहते हैं, वे उसके प्रत्यक्ष प्रतिरूप हैं। गुरु एक भौतिक शरीर द्वारा अभिव्यक्त दैवी शक्ति हैं। उस शक्ति की सर्वोच्चता के प्रति हमारी श्रद्धा एवं विश्वास को पुनर्जीवित करने हेतु ही वे हमारे बीच विराजमान रहते हैं। वह शक्ति किसी भी व्यक्ति के माध्यम से कार्य कर सकती है।

आप अपने गुरु को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं या नहीं, यह बिल्कुल आपका व्यक्तिगत मामला है। आप सिर्फ अपनी आस्था एवं विश्वास के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। आप दूसरों से यह अपेक्षा न रखें कि वे आपके अनुभवों से सहमत हों। साथ-ही आपको किसी अन्य व्यक्ति पर अपना विचार लादने का अधिकार भी नहीं है। मेरे गुरु मेरे ईश्वर हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। यह मेरा व्यक्तिगत मामला है। यह सार्वजनिक उपयोग की बात नहीं हो सकती। इसे मैं पूर्णत: अपने तक सीमित रखता हूँ।

इस सम्बन्ध में अन्य किसी प्रकार से सोचना गुरु एवं ईश्वर की अवधारणा का अपमान करना है।

गुरु को देवता-तुल्य बनाने के लिये सार्वजनिक प्रदर्शन करना निरर्थक या हास्यास्पद है। प्रचार एवं सार्वजनिक अभियान को राजनैतिक प्रचार क्षेत्र तक ही सीमित रखना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन सर्कस नहीं है। यह एक गुरु की दूसरे गुरु पर श्रेष्ठता स्थापित करने की लड़ाई भी नहीं है। आप सब प्रकार से अपने गुरु को ईश्वर मानिये। ऐसा मानना आपका अधिकार ही नहीं, विशेषाधिकार भी है। किन्तु इस भाव को कृपया अपने तक ही सीमित रखें।

हर चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती

आज गुरु का अभाव नहीं है। वास्तव में कोई भी व्यक्ति, जिसने थोड़ा-सा योग सीख लिया है तथा कुछ लोगों को अपनी उपलब्धियों के बारे में विश्वास दिलाने में सक्षम है, अपने को गुरु कह रहा है। संसार में गुरुओं, सम्प्रदायों तथा उपासना पद्धतियों की प्रचुरता हो गई है। इनमें से प्रत्येक अपनी पद्धति एवं दर्शन का प्रदर्शन कर रहे हैं। कुछ साहसपूर्वक घोषणा करते हैं कि वे जल पर या हवा में चल सकते हैं। कुछ दावा करते हैं कि वे निर्वाण की प्रत्यक्ष अनुभूति प्रदान कर सकते हैं। कुछ अन्य अपने को तान्त्रिक के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा लोगों को तन्त्र के गुप्त एवं रहस्यमय अभ्यासों को सीखने हेतु प्रलोभन देते हैं। कुछ 'जेन' के वेश में योग सिखाते हैं तो कुछ प्राचीन मिस्री सभ्यता का एक खोया हुआ विज्ञान कहकर योग और तन्त्र की शिक्षा देते हैं।

ऐसी स्थिति में मन भटकता है और सच्चा तथा निष्कपट साधक आसानी से छला तथा बहकाया जा सकता है। वास्तव में निष्कपट एवं विश्वासशील व्यक्ति पीतल की चमक को देख उसे आसानी से सोना समझने की भूल कर सकते हैं। साधक प्राय: उन मिथ्याचारों एवं फन्दों के प्रति असजग रहता है जिनमें कि वह फँस सकता है तथा इस प्रकार उसकी खोज आसानी से दु:स्वप्न में बदल सकती है। अत: आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले किसी जिज्ञासु व्यक्ति को सदैव सावधान रहना चाहिये। ऐसे अनेक लोग हैं जो अपने स्वार्थ के लिये उसका उपयोग करना चाहेंगे तथा उसे अपनी मण्डली में शामिल करना चाहेंगे। वे उसे क्षणिक अनुभवों का प्रलोभन भी देंगे, जो कि अन्ततोगत्वा पूर्णत: अर्थहीन होते हैं।

एक शिष्य अपने व्यक्तिगत प्रयास से ही उन्नति कर सकता है और वही गुरु वास्तविक गुरु हैं जो आपसे पूर्णता की प्राप्ति हेतु प्रयास करने का आग्रह

करते हैं। किसी आश्वासन, शक्ति के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन एवं अलौकिक तथा आश्चर्यजनक कार्य द्वारा आप ज्ञानोदय प्राप्त नहीं कर सकेंगे। वास्तव में यदि आप उनके पीछे दौड़ेंगे तो वे निश्चय ही आपकी प्रगति को अवरुद्ध करेंगे। आप भ्रमित तथा व्याकुल हो जायेंगे।

आप एक बात हमेशा याद रखें कि ज्ञानोदय आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज हम पाते हैं कि कुछ संस्थाएँ कुछ सप्ताहों में ही निर्वाण प्रदान करने का विज्ञापन निकालती हैं। कैसा विचित्र मजाक है यह। गुरु के पद को मूर्खतापूर्ण व्यवहार में बदल दिया गया है। पाखण्डी, कपटी, जादूगर, मिथ्या बुद्धिवादी एवं गँवार लोग गुरु होने का दावा करते हैं और गुरु की खोज में व्याकुल लोग उनका अनुकरण करने लगते हैं।

ऐसे बहुत से गुरु घोषणा करते हैं कि कुछ सौ रुपयों में ही वे कुण्डलिनी जाग्रत करवा सकते हैं। सरल एवं असहाय साधक धोखा खा जाता है तथा स्नायुओं की गुदगुदाहट को ही कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण मान लेता है। इस हिसाब से तो आप निकट भविष्य में ही किसी सुपर बाजार में जाकर कुण्डलिनी के जागरण हेतु एक विशेष प्रकार की गोली खरीद सकेंगे।

कुण्डलिनी का जागरण होने से साधारण व्यक्ति भी अपूर्व बुद्धियुक्त हो जाता है। लोगों का ध्यान सहज ही उसकी ओर चला जाता है। जिस व्यक्ति ने अपनी कुण्डलिनी जाग्रत कर ली है वह भीड़ में भी आसानी से पहचाना जा सकेगा। तब क्या कारण है कि बहुत से लोग, जो कुण्डलिनी जागरण की अनुभूति प्राप्त करने का दावा करते हैं, अभी भी साधारण मनुष्यों की कमजोरियों या सीमाओं से बँधे हैं?

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपने व्यक्तिगत प्रयोजनों के हेतु गुरु होने का दावा करते हैं। कुछ यह यश और प्रसिद्धि चाहते हैं तो कुछ धन की कामना रखते हैं। कुछ अन्य लोगों की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं तथा वे गुरु के वेश में उनकी पूर्ति का प्रयास करते हैं। कुछ लोग वृद्धावस्था में सेवाएँ प्राप्त करने के लिये शिष्य बनाते हैं तो कुछ अन्य के लिये। यह अन्य व्यवसायों की तरह ही एक व्यवसाय है। वास्तव में यह पैसा कमाने एवं अपनी समृद्धि को बढ़ाने का एक उत्तम उपाय हो गया है।

यही कारण है कि भारत में कोई गृहस्थ गुरु की स्थिति कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। एक गृहस्थ, जो पारिवारिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों में लीन है, राग-द्वेष एवं पसन्द-नापसन्द के भावों के ऊपर नहीं उठ सकता। उसके निर्णय एवं

कार्य निश्चित रूप से अपने स्वजन-प्रियजन तथा धन-सम्पत्ति के प्रति उसकी आसक्ति से प्रभावित होंगे। इसका कारण स्पष्ट है। यदि किसी व्यक्ति से आपका भावनात्मक लगाव है तो आप मानवीय कारकों की अवहेलना नहीं कर सकते। आप व्यक्तिगत इच्छाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं से प्रवृत्त एवं प्रेरित होते हैं तथा गुरु के रूप में अपने पद का उपयोग उन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करने लगते हैं। तब ऐसा व्यक्ति दूसरों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन कैसे कर सकता है? उसकी सलाह निश्चित रूप से उसके व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से दूषित होगी।

ये गृहस्थ गुरु महिलाओं को आसानी से अपना लक्ष्य बना लेते हैं। महिलाएँ सरल एवं विश्वासशील होती हैं तथा अति सहजता से गुरु के मधुर एवं कृपापूर्ण शब्दों का शिकार हो जाती हैं। ये गुरु महिलाओं के बीच स्थान पाने का प्रयास करते हैं तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उनका दुरुपयोग करते हैं। धर्मशास्त्रों में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है कि गृहस्थ गुरु महिलाओं को अपना शिष्य नहीं बना सकते और न उन्हें किसी प्रकार की दीक्षा ही दे सकते हैं।

ऐसे अनेक तथाकथित गुरु उपयुक्त साथी खोजकर विवाह कर लेते तथा परिवार बसा लेते हैं। उनकी मान्यताएँ ठोस नींव पर आधारित नहीं होतीं। यद्यपि पहले वे ब्रह्मचर्य की महिमा का गुणगान किया करते थे, किन्तु अब वे अपने सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को पुनर्पारिभाषित कर देते हैं ताकि वे उनकी नवीन जीवन-पद्धति के अनुकूल हो जाये। वे माया का मुकाबला नहीं कर सकते तथा देर-सबेर उनकी कमजोरियों का भण्डाफोड़ हो जाता है।

धर्मान्धता ऐसे लोगों तथा उनके सम्प्रदायों की सामान्य विशेषता होती है। धर्मान्ध गुरु सिर्फ अपने विचारों तथा सिद्धान्तों से ग्रस्त होता है। उसका मस्तिष्क अन्य विचारों के प्रति बन्द रहता है और इसलिये उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। एक धर्मान्ध धर्मान्ध ही रहता है, सिर्फ इसलिये कि वह बदले में कुछ अपेक्षा रखता है। वह सिर्फ अपने विचारों के क्रियान्वयन में रुचि लेता है, चाहे वे हत्या, लूट या बलात्कार से सम्बन्धित हों या दूसरों से जबर्दस्ती अपना दर्शन स्वीकार करवाने से। धर्मान्ध लोग अपने अनुयायियों तथा अन्य लोगों के बीच घृणा उत्पन्न करते हैं।

ऐसा साधक जो स्नायविक गुदगुदाहट तथा क्षणिक अनुभव की खोज में हैं, जिनका कि उसके आध्यात्मिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे गुरु के साहचर्य में आनन्द का अनुभव कर सकता है। किन्तु इस स्थिति में सरल,

सच्चे एवं समर्पित साधक का क्या होगा? यदि वह ऐसे गुरुओं के सम्पर्क में आयेगा तो निश्चित रूप से निराश होगा। ये बातें एक सच्चे एवं निष्कपट साधक के लिये एक चेतावनी हैं। उसे वैसे लोगों के बीच से अपना गुरु चुनने के खतरों से बचना चाहिये जो अपने बेईमान एवं दूषित इशारों को गुरुत्व के आवरण से आच्छादित किये रहते हैं।

वे अपनी सिद्धियों का प्रदर्शन करके गुरु होने का दावा करते हैं। सिर्फ सिद्धियाँ प्राप्त करने से कोई गुरु नहीं बन सकता। योगाभ्यास द्वारा कोई भी सिद्धि प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि आपने अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत किया है, अपने सचेतन, अवचेतन एवं अचेतन मन को नियन्त्रित किया है तथा आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति एवं आत्मानुभूति को विकसित किया है और इन सबका उपयोग सिद्धियों का अतिक्रमण करने एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-हेतु उनका दुरुपयोग करने में नहीं किया है, तभी आप गुरु माने जा सकते हैं। आडम्बरपूर्ण जीवन, प्रचण्ड प्रचार, धर्मान्धता, सिद्धियों एवं अलौकिक शक्तियों के सस्ते प्रदर्शन का आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है। अत: जो इनमें संलग्न रहते हैं उन्हें गुरु नहीं कहा जा सकता।

गुरु वे हैं जिन्हें आध्यात्मिक शक्ति उत्तराधिकार के रूप में गुरु परम्परा से प्राप्त होती है। आध्यात्मिक शक्ति के संरक्षक के रूप में समय-समय पर उनका जन्म होता है। वे गुरु-शिष्य सम्बन्ध द्वारा भावी पीढ़ी को यह शक्ति हस्तांतरित करते हैं। वे शुद्ध हृदय एवं आत्मा से युक्त होते हैं तथा बिना किसी स्वार्थपूर्ण प्रयोजन के अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं। वे सिर्फ प्रेम के वशीभूत होकर अपना कार्य करते हैं; उनके अन्दर सम्पूर्ण मानवता के प्रति विशुद्ध प्रेम का भाव होता है। सिर्फ प्रेम ही ऐसा माध्यम है, जिससे होकर आध्यात्मिक शक्ति का संचार किया जा सकता है। कोई स्वार्थपूर्ण प्रयोजन इस माध्यम को अविलम्ब विनष्ट कर देगा और उसके बाद तो धर्मान्धता, स्वार्थवाद तथा निम्न एवं दूषित प्रयोजनों की प्रधानता हो जाती है।

अत: एक साधक को अपनी आध्यात्मिक यात्रा पर रवाना होने के पूर्व सही स्थिति को अवश्य समझ लेना चाहिये। तदुपरान्त जब वह अपने लिये किसी मार्ग या गुरु का चयन करता है तब वह ठीक-ठीक जानता है कि मैं कहाँ जा रहा हूँ।

गुरु-भूमि भारत

भारत विश्व को क्या प्रदान कर सकता है? यह प्रश्न आजकल बार-बार पूछा जाता है। तकनीकी विकास के इस युग में, जब दुनिया के प्राय: सभी देश शक्ति, सम्पन्नता और सैनिक वर्चस्व की होड़ में लगे हुए हैं, ऐसा लगता है कि भारत की कोई भूमिका नहीं हो सकती। तथापि ऐसे लोगों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ रही है, जिनका मानवता के कष्टों पर फल-फूल रहे वर्तमान संसार से मोह भंग हो रहा है।

वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि अत्यधिक तकनीकी विकास के कारण लोगों की भौतिक उन्नति हुई है। किन्तु वे स्पष्ट रूप से यह भी अनुभव कर रहे हैं कि इस प्रक्रिया में आदमी के आन्तरिक या आध्यात्मिक पहलुओं की पूर्णरूपेण अवहेलना हुई है। भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के बीच का सन्तुलन नष्ट हो गया है। परिणामस्वरूप आज मानव अपने को निराशा के बीहड़ों में फँसा हुआ पा रहा है। भारत का महत्त्व इस बात में निहित है कि वह इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करे।

पश्चिमी देशों में भी समय-समय पर ज्ञानयुक्त आध्यात्मिक पुरुष प्रकट हुए है, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्हें दु:खद एवं निर्दय भाग्य का शिकार होना पड़ा। उन्हें अपनी साधुता के कारण जिन्दा जलाया गया, सूली पर लटकाया गया तथा तरह-तरह की अमानवीय यातनाएँ दी गईं। मरणोपरान्त उनकी महानता का गुणगान क्या उनके प्रति किये गये अन्याय को न्याय में बदल सकता है?

भारत में ईसा मसीह जैसे व्यक्ति की पूजा होती तथा उनके जीवनकाल में ही उनके प्रति ईश्वर जैसा व्यवहार हुआ होता। उन्हें महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, तथा उनके पूर्व और बाद में पैदा हुए सन्तों की तरह सम्मान मिला

होता। भारत की आध्यात्मिक परम्परा बहुरंगी और समृद्ध रही है, क्योंकि यहाँ के लोग प्रबुद्ध एवं ज्ञानी सन्तों को आसानी से पहचान लेते हैं तथा उन्हें उचित सम्मान देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की तरह प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में भी एक केन्द्रीय तत्त्व होता है। यह प्रधान स्वर के समान होता है जिससे अन्य सभी स्वरों को संगत या समस्वर किया जाता है। यह तत्त्व राष्ट्र के जीवन का आधार होता है। इसमें परिवर्तन लाने के प्रयास करने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। कुछ राष्ट्रों में राजनैतिक शक्ति ही केन्द्रीय तत्त्व या जीवनी-शक्ति होती है, किन्तु भारत का केन्द्रीय तत्त्व उसके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण में निहित है।

इतिहास में एक ऐसा युग भी था जबकि योग एक विश्व संस्कृति था। कोलम्बिया के सान अगस्टीन नामक स्थान में खुले आसमान के नीचे एक संग्रहालय है। वहाँ की मूर्ति-श्रेणियों को देखकर पता लगता है कि उस देश की प्राचीन सभ्यता के युग में वहाँ के लोगों को योगासनों का पूर्ण ज्ञान था। स्कैन्डिनेवियन देशों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में वहाँ के लोग योग का अभ्यास करते थे। किन्तु युद्धों, राजनैतिक एवं धार्मिक दुर्घटनाओं तथा कालजन्य विध्वंसों के कारण ये अभ्यास पहले तो गुप्त होते गये और बाद में पूर्णत: नष्ट हो गये।

ऐसा भारत में भी हुआ, किन्तु यहाँ सदैव कुछ ऐसे लोग हुए जिन्होंने इस ज्ञान को सुरक्षित रखा तथा इसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते गये। वे महापुरुष थे, भारत के जाने-अनजाने स्वामी या संन्यासी। भारत के लोग राष्ट्र की आध्यात्मिक उन्नति के सन्दर्भ में इन स्वामियों की भूमिका को आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मानते थे। अत: उन्होंने राजनीति-धार्मिक संकट के दिनों में उनके भोजन-वस्त्र-आवास की पर्याप्त व्यवस्था की। राजनीतिक और धार्मिक स्थायित्व स्थापित होने के बाद वे खुलकर अपने ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने लगे। इन्हीं कारणों से भारत में आज भी आध्यात्मिक शक्ति की एक समृद्ध एवं सशक्त परम्परा विद्यमान है।

किन्तु मनुष्य इस शक्ति का उपयोग करने के लिये अभी भी पूर्णत: तैयार नहीं है। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि यदि भविष्यवाणी के अनुसार द्वितीय ईसा मसीह का अवतार हुआ तो उनकी क्या गति होगी। मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि इतिहास अपने को दुहरायेगा। उनकी शिक्षा

पुन: स्थापित व्यवस्थाओं का खण्डन करेगी। सत्य का कोई भी अनुगामी धर्म के नाम पर प्रचारित ढोंग और पाखण्ड के विरुद्ध अवश्य आवाज बुलन्द करेगा।

अत: जैसा कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ, लोग उनकी शिक्षा को सही रूप से ग्रहण नहीं कर सकेंगे। वही गलतियाँ दुहराई जायेगी। लोग उनका मजाक उड़ायेंगे, उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देंगे तथा अपने ज्ञान के कारण उनकी हत्या की जायेगी और उनकी मृत्यु के बाद वही लोग उनकी पूजा करेंगे। कैसी विडम्बना है यह?

हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम अपने मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करें। हमारे लिये यह जानना भी आवश्यक है कि इस पृथ्वी पर हमारा जन्म क्यों हुआ है। हमें निरन्तर उस मार्ग की खोज जारी रखनी है जिस पर चलकर हम सभी क्षेत्रों में विकास कर सकें। हमें प्रत्येक व्यवस्था को स्वीकार और अस्वीकार करते जाना है जब तक कि सही व्यवस्था नहीं मिल जाती। यदि वर्तमान व्यवस्थाएँ हमारे लिये लाभदायक हैं तो हमें हर प्रकार से उन्हें स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु आज हम अपने चारों तरफ वर्तमान दर्शन की विफलता को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आज सामान्य आदमी अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। जब हम अपने जीवन की त्रुटियों के प्रति सजग होते हैं, जब हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन में पूर्णता, निर्देशन और मार्गदर्शन का अभाव है और जब हमारी चेतना एक उच्चतर स्तर तक विकसित हो जाती है, तभी हम गुरु की खोज में निकल पड़ते हैं। इस क्षेत्र में भारत के साथ अन्य किसी राष्ट्र की तुलना नहीं हो सकती। भारत तो गुरुओं की भूमि ही है।

उपसंहार

मैं पूज्य स्वामीजी के साथ यात्रा पर थी। एक बार एक महिला से मेरी मुलाकात हुई। उन्होंने मुझसे गुरु की खोज से सम्बन्धित अपने एक अनुभव की चर्चा की। वे अन्य लोगों की तरह ही ज्ञानपिपासु थीं। वे कुछ वर्षों से योगाभ्यास कर रही थीं और इसके परिणामस्वरूप उनके अन्दर आन्तरिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। अब वे एक गुरु की आवश्यकता महसूस करने लगीं जो आत्मा के गहन रहस्यों की अनुभूति प्राप्त करने में उनका मार्गदर्शन कर सकें। उनके पास अनेक अनुत्तरित प्रश्न थे। वे बहुत-सी बातों के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहती थीं और जिस प्रश्न पर वे सर्वाधिक सोचा करती थीं वह यह था कि– "मैं अपने गुरु को कैसे पहचान सकती हूँ?" वे प्राय: यह सोचा करती थीं कि शायद उन्हें गुरु कभी भी नहीं मिलेंगे। एक दिन उन्होंने सुना कि उनके शहर में एक भारतीय गुरु आये हुए हैं तथा आध्यात्मिक मार्गदर्शन चाहने वाले लोगों से मुलाकात कर रहे हैं। अन्य लोगों के साथ वे भी उस स्थान के लिये रवाना हुईं। वे यह सोचती रहीं कि शायद यह उनकी खोज का अन्त हो। अपने मस्तिष्क में उन्होंने उन सारे प्रश्नों को एकत्र किया जो उन्हें परेशान करते रहते थे। अनेक बातों के स्पष्टीकरण के लिये वे बेचैन हो रही थीं।

जब वे वहाँ पहुँचीं तो उनसे प्रतीक्षा करने के लिये कहा गया। वे सोचने लगीं कि उनसे क्या कहेंगी तथा अपने मस्तिष्क में उनकी काल्पनिक मूर्ति की रचना करने लगीं। प्रत्येक नये विचार के साथ एक नई मूर्ति उभरती गई। गुरु के प्रति उनकी अवधारणा उनके मानसिक भ्रमों के कारण निश्चित रूप से विकृत हो गई थी। जब स्वनिर्मित विचारों एवं भावनाओं की शृंखला से उनका मन थक गया तब वे अपने अन्दर से उत्पन्न होती हुई शान्ति का अनुभव

करने लगीं। उन्होंने अपने चारों तरफ देखा और सबसे पहले उस कमरे पर दृष्टि डाली, जहाँ वह बैठी हुई थी। जब वे कमरे की प्रकाशमय सुन्दरता पर सोच रही थीं, किसी ने उन्हें बुलाया और गुरु तक पहुँचा दिया।

वे एक गद्दे पर आसन लगाकर बैठे हुए थे। वे मुस्कुराये और उनकी मुस्कुराहट की ऊष्णता उनकी आँखों से सहज ही प्रकट होने लगी। 'आप किस प्रयोजन से यहाँ आई हैं?', उन्होंने पूछा। 'आपसे मिलने', महिला ने उत्तर दिया।

वे आँखें बन्द कर कुछ क्षणों तक चुप रहे। महिला की दृष्टि पूर्णत: उन पर टिकी हुई थी। तब उन्होंने अचानक अपनी आँखें खोलीं और खिड़की के बाहर देखते हुए कहा, 'बहुत सुहावना दिन है, है न?' उन्होंने सिर्फ अपना सिर हिला दिया, जैसे कि उनकी आवाज बन्द हो गई हो।

'क्या आपको कुछ पूछना है?', गुरु ने कहा। 'नहीं'। उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं सिर्फ आपके सान्निध्य में रहना चाहती हूँ।'

उन्होंने धीरे-से अपना सिर हिलाया और लगा कि कई युग सिमटकर वहाँ स्थिर हो गये हैं। वे जाने के लिए उठ खड़ी हुईं। दरवाजे पर पहुँच कर वे पीछे मुड़ीं और बहुत धीरे से बोलीं, 'क्या मैं आपकी शिष्या हो सकती हूँ?' उन्होंने सिर्फ सिर हिलाया और मुस्कुरा दिये।

जब उन्होंने कमरा छोड़ा तो वे आनन्द से विह्वल हो रही थीं। उनके अन्दर आनन्द की निर्झरनी प्रस्फुटित हो रही थी। उनके मेघाच्छन्न मानसिक आकाश में एक बार पुन: सूर्य चमक रहा था। बहुत समय के बाद उन्होंने अनुभव किया कि जब वे गुरु के सामने थीं, उनके मस्तिष्क के सारे प्रश्न समाप्त हो गये थे। सिर्फ वहाँ रहने से ही उन्होंने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया। उनके पास कोई प्रश्न नहीं थे और न किसी उत्तर की अपेक्षा थी। उनकी गुरु की खोज समाप्त हो चुकी थी।

मेरे मन में उस महिला के प्रति गहरे सम्मान का भाव उत्पन्न हुआ। शायद उन्होंने अनजाने में ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सही सारतत्त्व की अनुभूति प्राप्त कर ली। जब शिष्य गुरु से मिलता है तो सारे प्रश्न और बौद्धिक परिहास समाप्त हो जाते हैं। कुछ प्रदीप्त हो जाता है और उनके बीच सम्पर्क स्थापित हो जाता है। तदुपरान्त शिष्य की खोज-यात्रा समाप्त हो जाती है। शिष्य स्वयं को गुरु को समर्पित कर देता है और तब यह गुरु का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे जैसा भी चाहें, करें। यहाँ से गुरु की यात्रा प्रारम्भ होती है। वे ही यह

निर्णय करते हैं कि शिष्य को कर्मयोग, भक्ति-योग, ज्ञानयोग, राजयोग या कुण्डलिनी योग का अभ्यास करना है या कोई भी योगाभ्यास नहीं करना है। शिष्य के सारे तनाव और मनोरोग सहजता से समाप्त हो जाते हैं। जब अहंकार के सभी रूप विनष्ट हो जाते हैं और गुरु मिल जाते हैं, तब प्रत्येक मानसिक स्थिति समाधि या पूर्ण अनुभूति में बदल जाती है। शिष्यों द्वारा बार-बार गलतियाँ हुई हैं। साधना, ईश्वरानुभूति, मोक्ष, सिद्धि, समाधि आदि के बारे में वे अनेक मनोरोगों से ग्रस्त रहे हैं और इस कारण गुरु के साथ पूर्णतया सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहे हैं। वे सिर्फ अपने मनोरोगों को गुरु को हस्तांतरित कर देते हैं।

एक शिष्य की प्रथम और अन्तिम आध्यात्मिक खोज-यात्रा का लक्ष्य गुरु प्राप्त करना तथा उनके साथ अखण्ड, अटूट सम्बन्ध स्थापित करना है। अन्य सब कुछ गुरु पर छोड़ दीजिये। अन्त में आप उस परमानन्द का अनुभव करेंगे, जिसके कि आप वास्तविक अधिकारी हैं।

द्वितीय खण्ड

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा दिये गये
प्रवचनों का संकलन

उद्‌बोधन

जब मैं तुम के भेद मिटे
तब क्या दूँ? किसको? किससे?
तब मैंने मुड़कर देखा
सरिता सूख चली थी।
सूरज जाग चुका था,
केवल तुम खड़े थे मेरे पास।
जैसे-जैसे उजाला फैलता गया,
मैं मिटता गया
रह गये केवल तुम।
तरंगों के प्रबल प्रवाह में
तुम मेरे नजदीक आ जाते हो,
और जब वे लौटती हैं,
तो मैं सोचता हूँ–
मैं कहाँ रहा? तुम्हारे पास क्या?

क्या होता इस जीवन का
यदि तुम न होते मेरे जीवन में?
जीवन के प्रबल प्रवाह में
जब कूल-किनारे छूट जाते हैं,
तब तुम मुझे सहारा देते हो।
तब मैं तैरता हूँ
आर-पार मुक्त गति से
तुम्हारे सहारे।
अब तरंगों का भय नहीं।

असीम है तुम्हारी गोद,
अनन्त है तुम्हारा आलिंगन।
जब तुम अपने में समेट लेते हो,
तब मुझे विश्व सौंदर्य का बोध होता है,
रूप और नहीं प्रतीत होते।

मैं तुमसे प्यार करता हूँ
या, तुम मुझे प्यार करते हो?
तुमने ही तो प्यार किया
और प्यार का उपहार दिया
तुम ही उपहार हो।

तुम रोज आते हो अंधेरे में।
न मैं देख पाता,
न और कोई।
कई बार डर गया, जब तुम आये।
रोशनी जलाई,
तो वह जली नहीं,
नाम पूछा,
तो तुम मौन रहे।
तुम्हारे आने का स्वर उठा तो सही,
पर और स्वरों में मिल गया।

मेरे पास ये लोग बैठे हैं
तुम्हारे स्वर भी पहुँच रहे हैं
दिल डूबता जा रहा है,
आँखें बन्द हो रही हैं,
अन्दर का द्वार खुल रहा है,
पर तुम नहीं दिख पाते।

इस आने-जाने का क्या अर्थ?
क्यों आते हो?
आते हो तो जाते क्यों हो?
मैंने तुम्हें नहीं बुलाया कभी,
गेरू साज सिंगार
तुम्हारे लिये तो नहीं किया।

सौंदर्य छोड़ा,
सुषमा को भी त्यागा

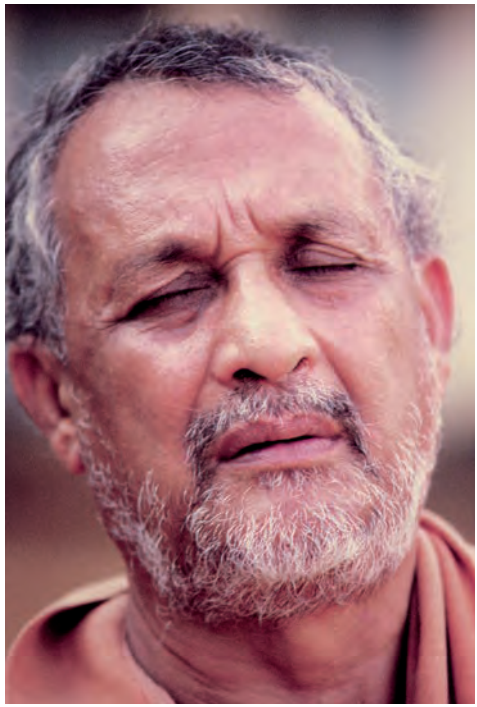

तुम्हारे लिये नहीं।
तुम तो सुन्दर हो,
फिर क्यों आते हो?

मैं सो रहा था चैन से
किसने मुझे जगा दिया?
जगा दिया, क्या किया?
मेरी नींद विदा हो गई,
अब रात दिन जगना पड़ता है मुझे
प्रकाश के लिये।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

शिष्यत्व ही योग का प्रारम्भ है

ज्योंही आपके हृदय में योग मार्ग पर चलने की लालसा उत्पन्न हो, चाहे वह शारीरिक-मानसिक कल्याण के भाव से हो या आध्यात्मिक प्रबोधन के लिए, आप इस तथ्य को अवश्य स्वीकार करें कि आपको सर्वप्रथम शिष्य बनना पड़ेगा। तभी आप योग मार्ग पर आरूढ़ हो पायेंगे।

शिष्य एक खुले पात्र के सदृश है; उसमें वर्षा की फुहारें गिरती हैं और धीरे-धीरे यह पात्र भर जाता है। तथापि एक उत्तम पात्र होने के लिए उसका स्वच्छ होना आवश्यक है और यदि उसमें कोई छिद्र है तो उन्हें भी अवश्य बन्द किया जाना चाहिए। अपने व्यक्तित्व की त्रुटियों को दूर किये बिना तथा उसकी पूर्ण सफाई किये बिना सिर्फ यह सोचना पर्याप्त नहीं है कि अब आप एक शिष्य होने जा रहे हैं। ये कार्य एक दिन में या कुछ सप्ताहों में पूर्ण नहीं होते; शिष्य की भूमिका में पूर्णता प्राप्त करने में अनेक वर्ष लगते हैं।

शिष्य होने की इच्छा करना एक बात है; किन्तु आदर्श शिष्य होना पूर्णत: एक भिन्न प्रक्रिया है। प्रारम्भ से ही यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि आप अपने व्यक्तित्वरूपी पात्र को सिर्फ अमृतमयी फुहारों से भरने की अपेक्षा ही न करें, बल्कि आपके जीवन के प्रत्येक क्षण के समस्त प्रयास निश्चित रूप से मात्र दो दिशाओं में निर्देशित होने चाहिए – पात्र की सफाई और छिद्रों की मरम्मत।

इस बिन्दु को एक पुरानी कहानी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। एक बार एक संन्यासी ने एक भक्त व्यवसायी के द्वार पर आकर भिक्षा माँगी। वह व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुआ तथा उसने संन्यासी को स्वादिष्ट भोजन कराया। प्रतिदान में उसने मन्त्र-दीक्षा की माँग की तथा स्वयं को अपना शिष्य बना लेने का निवेदन किया। संन्यासी ने कहा, "सेवा द्वारा अपने को योग्य बनाओ और जब मैं अगली बार आऊँगा तो तुम्हें दीक्षित करूँगा।"

एक वर्ष बीतने के बाद संन्यासी पुन: उसके यहाँ आए और भिक्षा की माँग की। वह उन्हें देखकर बहुत खुश हुआ तथा उनके भिक्षा पात्र में रुचिकर भोजन डालकर उनसे पुन: मन्त्र के लिए आग्रह किया। 'अगली बार', संन्यासी ने उत्तर दिया।

एक वर्ष और बीत गया, संन्यासी पुन: उस द्वार पर आए, भिक्षा प्राप्त की तथा मन्त्र के लिए आग्रह भी, और उन्होंने पुन: वही उत्तर दिया। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए, बारह बार वे वहाँ आए और प्रत्येक बार उनसे मन्त्र हेतु निवेदन किया गया। अन्तत: वह गृहस्थ अपना धैर्य खो बैठा। उसने रुखाई से पूछा, "आप मुझे कब मन्त्र देने जा रहे हैं?" "मैं आपको विगत बारह वर्षों से भिक्षा देता आ रहा हूँ और आप इतने अभद्र तथा अविवेकी हैं कि आप मुझे एक मन्त्र भी नहीं दे सकते।"

तत्क्षण संन्यासी ने अपने भिक्षा पात्र में गृहस्थ द्वारा परोसी गई मलाई एवं अन्य विशिष्ट भोज्य-सामग्रियों पर पेशाब कर दिया। यह देखकर वह चकित रह गया। "आप ऐसा क्यों कर रहे हैं?" वह चिल्लाया। "मैंने बारह वर्षों तक भोजन प्रदान कर आपकी सेवा की है और आपने उन सब पर पेशाब कर दिया।"

"क्या वह बिल्कुल वैसा ही नहीं है जैसा कि तुम करना चाहते हो?" संन्यासी ने पूछा। "तुम्हारा हृदय स्वच्छ और तैयार नहीं है और तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें दीक्षा और मन्त्र दूँ। मन्त्र की तुम्हारे लिए क्या उपयोगिता होगी? सर्वप्रथम सेवा द्वारा अपने हृदय का शुद्धिकरण करो और जब तुम्हारा हृदय शुद्ध हो जायेगा, तब जिस प्रकार तुम मुझे भिक्षा देते हो मैं तुम्हें मन्त्र-दीक्षा दूँगा।"

यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म में सेवा पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। सेवा द्वारा आप अपने अहंकार को दूर करने में सक्षम होते हैं जो कि गुरु और शिष्य, मनुष्य और ईश्वर तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच का एक बड़ा अवरोध है। सर्वप्रथम इस अहंकार को दूर करना ही होगा।

अनुशासन और सेवा

सन् 1947 में, जब मैं अपने गुरु स्वामी शिवानन्द सरस्वती के साथ रह रहा था, मैंने आश्रम छोड़ने और स्वतंत्र जीवन बिताने का निर्णय किया। स्वामीजी ने ज्योंही मेरी इस योजना के बारे में सुना, मुझे अपने पास बुलाया।

उन्होंने पूछा, "तुम क्यों जा रहे हो?" मैंने उत्तर दिया, "अब मैं सब कुछ– हठयोग, राजयोग, कुण्डलिनी योग जानता हूँ और इनका अभ्यास अपने आप कर सकता हूँ।" उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "नहीं, तुम्हें अपने अहंकार, व्यक्तित्व में व्याप्त अज्ञान तथा मन के मैल को दूर करना होगा तथा स्वयं को एक बिन्दु में परिणत करना होगा। तभी तुम्हारे अन्दर से प्रकाश प्रकट होगा।"

तदुपरान्त जो कुछ हुआ वह एक लम्बी कहानी है। मैंने अपने व्यक्तित्व की गहराई में जड़ जमाई हुई वासनाओं, जटिलताओं तथा अवरोधों पर विजय पाने के लिए बारह वर्षों तक आश्रम में रहकर दिन-रात घोर परिश्रम किया। अपने प्रशिक्षण की अवधि में मैं एक नर-कंकाल में परिणत हो गया था। आश्रम में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति मेरी पसलियों की गिनती किया करता था तथा मुझसे पूछता था कि मैं किस प्रकार का ब्रह्मचारी हूँ। मेरा शरीर और मन सेवा में इस तरह पूर्णतया तल्लीन था कि ऐसा एक भी क्षण नहीं था जब मैं विचार, कार्य या स्वप्न में ब्रह्मचारी नहीं था। इस प्रकार अहंकार को दूर भगाने के लिए मैंने अनेक वर्ष गुरु के सान्निध्य में कठोर अनुशासन, कष्ट और तपस्या में बिताये और इसके परिणामस्वरूप जीवन में सुख-शांति तथा आत्मज्ञान की उपलब्धि हुई।

संसार में दो प्रकार के शिष्य पाये जाते हैं; त्यागी-परित्यागी या साधु और संन्यासी, तथा सामान्य या गृहस्थ शिष्य। साधु या संन्यासियों के लिए, जिन्होंने अपने परिवार तथा समाज का परित्याग करके उनसे अपने समस्त सम्बन्धों का विच्छेद कर लिया है, शिष्य होने का एकमात्र मार्ग गुरु सेवा के प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पित करना ही है। अनुशासन एवं समझदारी में पूर्णता आने पर ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। आत्मिक शक्ति, धर्म शास्त्रीय ज्ञान, भक्ति, योग या घोर साधना से कोई शिष्य नहीं बनता; शिष्य तो वह परमानन्द की प्राप्ति से बनता है। इसीलिए संन्यासियों को आनन्दम् कहा जाता है।

शिष्यत्व के सोपान

दूसरे प्रकार के शिष्यों में सामान्य या गृहस्थ लोग आते हैं। उन्हें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि जो जीवन-मार्ग परिवार, बच्चे और उत्तरदायित्व उनके लिए विहित और निर्दिष्ट हैं वे सभी शिष्यत्व के सोपान हैं। उनके कर्मों

द्वारा जो जीवन उनके लिए निर्धारित किया गया है, वह सांसारिक पदार्थों के भोग, उपलब्धि और परिग्रह के लिए नहीं है। ये तो सिर्फ उपोत्पादन या उपफल हैं। जो जीवन उन्हें मिला है तथा जिन परिस्थितियों और घटनाओं से होकर उन्हें गुजरना होता है उन सबका प्रधान उद्देश्य एक शिष्य के व्यक्तित्व एवं गुणों के विकास में सहायक होना है।

प्रत्येक गृहस्थ का उद्देश्य और लक्ष्य, चाहे वह जिस किसी भी परिस्थिति में हो, प्रतिक्षण अपना शुद्धिकरण, प्रशिक्षण और रूपान्तरण होना चाहिए। चाहे बच्चे की शिक्षा या विवाह हो या परिवार से सम्बन्धित कोई विशेष कर्त्तव्य, किसी बच्चे का जन्म या किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु, गरीबी, समृद्धि, प्रेम-घृणा, लाभ-हानि, ईर्ष्या, लोभ या संवेदना–ये समस्त चीजें व्यक्ति के जीवन में उसे एक शिष्य बनाने हेतु ही आती हैं। प्रतिक्षण जो भी घटित हो रहा है उसके साथ आदमी को स्वयं को समायोजित और अनुशासित करने का प्रयास करना चाहिए। अत: एक गृहस्थ का जीवन उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि किसी साधु-संन्यासी का।

शिष्य के दक्ष या तत्पर होते ही उसके जीवन में गुरु का पदार्पण होता है। गुरु सिर्फ एक शिक्षक नहीं होते; गुरु का अर्थ होता है प्रकाश, प्रबोधन, प्रभा। अत: जब आप शिष्य बनते हैं तो गुरु पूर्व से ही आपके अन्दर उपस्थित होते हैं, किन्तु आप उन्हें देख नहीं सकते। इसलिए आप किसी व्यक्ति पर गुरुत्व प्रत्यारोपित करते हैं जो आपके बाह्य गुरु बन जाते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है। व्यक्ति की अचेतन अवस्था को, जो सम्प्रति पूर्ण अन्धकार में है, जाग्रत और प्रकाशित करना है। जो इस अवस्था को जाग्रत कर सके वही गुरु है, दूसरा कोई नहीं।

गुरु-मन्त्र

मनुष्य की अचेतन शक्ति उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का सर्वाधिक गहरा अंग है। गुरु इसे मन्त्र की सहायता से जगाते हैं। भौतिक जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है वह मन द्वारा प्रकाशित होता है या समझा जाता है। किन्तु सिर्फ यही जगत् अस्तित्व में नहीं है। अस्तित्व का एक दूसरा स्तर भी है–ब्रह्माण्ड के अन्दर का ब्रह्माण्ड–जिसे आप नहीं देख सकते, क्योंकि यह पूर्ण अन्धकार से आच्छादित है और आप इसे आलोकित करने में सक्षम नहीं हैं। इस पूर्ण अन्धकार को अज्ञान, अविद्या या माया के नाम से जाना

जाता है। इससे आपकी अन्तर्निहित सजगता आच्छादित है; इसे दूर भगाना ही होगा। अचेतन के प्रकाशित होने पर आप महान्, अद्भुत, अति सुन्दर चीजों और दृश्यों को देखते हैं। उस अवस्था तक पहुँचने का माध्यम मन्त्र है जो आपको गुरु से प्राप्त होता है।

चेतना के अधिक गहरे स्तर को जाग्रत एवं प्रकाशित करने के लिए कोई एक ही आध्यात्मिक अभ्यास पर्याप्त है। मैं अन्य अभ्यास भी सिखाता हूँ और उनके महत्त्व को कम नहीं कर रहा हूँ, किन्तु सत्य यह है कि सिर्फ एक मन्त्र ही पर्याप्त है। इस अभ्यास के द्वारा आपका सम्पूर्ण मन और चेतना परिवर्तित हो जाते हैं; वे मन्त्र के एक अंग हो जाते हैं। आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और अस्तित्व में मन्त्र व्याप्त हो जाता है, वही मन्त्र जो आपने सौभाग्यवश अपने गुरु से प्राप्त किया है। तब यह आध्यात्मिक अभ्यास आपके समक्ष जीवन का एक पूर्णत: नवीन और विलक्षण आयाम या परिदृश्य प्रस्तुत करता है।

जब शिष्य अपने गुरु से मन्त्र ग्रहण करता है तो वह इसे मानसिक रूप से समझता है। तब वह अपने श्वास में इसका अभ्यास करता है। धीरे-धीरे उसका व्यक्तित्व मन्त्र से अभिभूत हो जाता है तथा उसकी चेतना रूपान्तरित होने लगती है। उसकी पूर्व की छितराई हुई, खंडित और विघटित चेतना मन्त्र के रूप में संघटित हो जाती है। वह संघटित सार-तत्त्व धीरे-धीरे गहरे अवचेतन में तथा और अधिक गहरे अचेतन में उतरता है, जहाँ यह सर्वोच्च चेतना का द्वार खोलता है।

मन्त्र सिर्फ अक्षर या शब्द नहीं है। मन्त्र वे ध्वनियाँ हैं जो प्रबुद्ध ऋषियों और योगियों द्वारा तब सुनी गईं जब उन्होंने भौतिक स्तरों का अतिक्रमण करके अचेतन का भेदन किया। वहाँ इस पदार्थ जगत् का कोई अस्तित्व नहीं था। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ ध्वनियों को सुना जो साधारण मन्त्र बने। किन्तु जब वे और अधिक गहराई में गये तो ये ध्वनियाँ वहाँ नहीं थीं। यहाँ तक कि वे अपने-आप की सजगता भी खो बैठे। तब उनका प्रवेश चेतना की अचेतन अवस्था में हुआ जिसे हम शिवरात्रि कहते हैं। बाइबिल में इसे 'आत्मा की अन्धेरी रात' कहा गया है। अचेतन अवस्था में प्रवेश करने के बाद उन्होंने अन्य शक्तिशाली ध्वनियों को सुना, जिन्हें बीज मन्त्रों के नाम से जाना गया। इस प्रकार मन्त्र उनके समक्ष प्रकाशित हुए जो इस भौतिक अस्तित्व का अतिक्रमण करने में सक्षम हुए। संक्षेप में मन्त्रों का यही स्रोत

है। हजारों वर्षों से गुरु द्वारा शिष्य को मन्त्र हस्तांतरित किये जाते रहे हैं। ऐसा मन्त्र सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पूर्णतया विस्फोट करके उच्चतर सजगता का द्वार खोल सकता है।

मन्त्र का उपयोग कैसे करें

शिष्य होने के साथ ही आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ होता है। तब गुरु मन्त्र प्रदान करते हैं। अब हम इस व्यावहारिक पक्ष पर विचार करें कि इसकी आवृत्ति सुनकर या मानसिक रूप से कर सकते हैं। इस अभ्यास में प्राय: तुलसी या रुद्राक्ष के दानों की माला का उपयोग किया जाता है; प्रत्येक आवृत्ति के साथ एक दाने को घुमाया जाता है। प्रारम्भिक अभ्यासी मन्त्र की आवृत्ति सामान्यत: माला की सहायता से करते हैं; बाद में वे मन्त्र और अपने हृदय की धड़कन के बीच तादात्म्य स्थापित करते हैं। और अन्त में, मन्त्र के प्रति अपनी सजगता को रीढ़ की हड्डी से जोड़ते हैं।

आप किसी भी मानसिक स्थिति में क्यों न हों, मन्त्र के प्रति आपकी सजगता आपके सामने से ओझल नहीं होनी चाहिए। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निद्रावस्था या मानसिक चंचलता की स्थिति में भी आप मन्त्र के प्रति सजग बने रहें। मन्त्र के प्रति आपकी सजगता स्थिर, स्थायी और अटूट होनी चाहिए। असंदिग्ध और सुनिश्चित आध्यात्मिक विकास तभी सम्भव है, अन्यथा नहीं। जब आप मन्त्र-जप का अभ्यास कर रहे होते हैं तो प्राय: आपका मन भटकता है तथा जीवन के विभिन्न आयामों के बारे में सोचता है। इससे आतंकित होने की कोई बात नहीं है; यह खतरनाक या अध्यात्म विरोधी नहीं है। किन्तु जब आप आधे घंटे या ऐसी ही किसी अवधि लिए मन्त्र का अभ्यास करने लगते हैं तो कभी-कभी कुछ क्षणों या लगातार कई मिनटों तक अचेत हो जाते हैं। ऐसे क्षणों में आप मन्त्र, अभ्यास या अपने प्रति सजग नहीं रहते। आपका मन दोलायमान नहीं है, किन्तु आप शून्य में हैं। यह शून्यावस्था खतरनाक और अध्यात्म विरोधी है। प्रारम्भ में यह अवधि एक सैकण्ड की होती है किन्तु बाद में यह एक घण्टे की हो सकती है।

अपने अभ्यास के प्रारम्भ से ही आप इस बात के प्रति अवश्य सतर्क रहें कि आपका मन एक क्षण के लिए भी शून्यावस्था में न रहे। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान या ईश्वर-बोध सजगता है, शून्यता नहीं। सजगता पूर्णता

है, शून्यता नहीं। अत: अपने को या अपने अस्तित्व को भूलने का प्रयास न करें। अभ्यास की अवधि में ॐ या आपके अपने मन्त्र की सजगता निरन्तर बनी रहनी चाहिए; आप एक क्षण के लिए भी उसे न भूलें। अभ्यास करते समय आप ध्वनि, कम्पन या मन्त्र के स्वरूप पर अपने मन को एकाग्र कर सकते हैं।

मानव शरीर में एक अति सुन्दर और आश्चर्यजनक वस्तु है और वह है मेरुदण्ड। आप उज्जायी प्राणायाम करते हुए अपने श्वास को लम्बा कीजिये। तब खेचरी मुद्रा लगाइये और इस श्वास का अभ्यास अपने मेरुदण्ड में कीजिए। अब अपने मन्त्र के साथ श्वास का तादात्म्य स्थापित कीजिए तथा उन्हें मेरुदण्ड में नीचे-ऊपर मूलाधार से आज्ञाचक्र तक घुमाइये। श्वास की लय के साथ मन्त्र का जप करते हुए आरोहण-अवरोहण करते जाइये। मेरुदण्ड आपका आध्यात्मिक सोपान है। आरोहण-अवरोहण करते जाइये। बाद में आप पायेंगे कि मेरुदण्ड में स्थित विभिन्न आध्यात्मिक केन्द्र स्पष्ट हो गये हैं। ये केन्द्र मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को नियन्त्रित करते हैं। ये आध्यात्मिक सजगता की सर्वकुंजी हैं। अन्तत: यह मन्त्र आपको सीधे कुण्डलिनी के जागरण तक ले जाता है और आपको अपना स्वामी बना देता है।

शंका समाधान

अपना जीवन रूपान्तरित करने के लिए मैं एक साधना और साधन की खोज में हूँ। क्या मै आपका शिष्य हो सकता हूँ?

इसका निर्णय आपको लेना है, मुझे नहीं। आध्यात्मिक जीवन में शिष्यत्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चीज है। शिष्य में निष्कपटता, एकाग्रता और स्थायित्व होना चाहिए। गुरु तो सिर्फ एक प्रतीक होते हैं। गुरु निस्सन्देह आवश्यक हैं, किन्तु शिष्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुरु शिष्य नहीं बनाते, बल्कि शिष्य गुरु बनाते हैं। मुझे आपको शिष्य नहीं बनाना है; आपको मुझे या किसी अन्य को अपना गुरु बनाना है। यदि आप मुझे अपना गुरु नहीं बनाते हैं तो मैं आपका गुरु नहीं हूँ।

एक बार अपना गुरु बना लेने के बाद आप यदि चाहें तो मुझे त्याग सकते हैं। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि आपके

गुरु आपकी अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं तो अगर आप चाहें तो उनसे लड़ाई या विरोध कर सकते हैं, किन्तु उनका त्याग मत कीजिए। पति-पत्नी के बीच यदि समुचित सामंजस्य न हो तो वहाँ भी यही बात लागू होती है। यह बात महत्त्वहीन है कि आप आपस में झगड़ते हैं, किन्तु सम्बन्ध विच्छेद करना सर्वथा अनुचित है। यह तो तवे से सीधे आग की भट्ठी में कूदने जैसा है।

दीक्षा का क्या अर्थ है? इसे प्राप्त करने के लिए क्या योग्यताएँ होनी चाहिए?

संस्कृत शब्द दीक्षा का अर्थ होता है, देने की इच्छा। मन्त्र-दीक्षा का तात्पर्य है, मन्त्र प्रदान करना। कुछ उच्च दीक्षाएँ भी होती हैं। किन्तु जब तक शिष्य शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक रूप से पूर्णत: संतुलित न हो तब तक ये प्रदान नहीं की जाती हैं। उदाहरण के लिए, अपनी भौतिक भूमिका या शरीर का त्याग करने के पूर्व गुरु कुछ आध्यात्मिक शक्तियाँ विभिन्न लोगों को हस्तांतरित करने की बात सोच सकते हैं। किन्तु यह कार्य बहुत सावधानी से किया जाता है। सर्वप्रथम गुरु इस बात के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जाना चाहते हैं कि शिष्य का मन कभी विचलित या असंतुलित नहीं होगा। आप उसे गोली मार दीजिये, नाक काट लीजिये, कानों में छेद कर दीजिये या गंगा में फेंक दीजिये, किन्तु वह सदैव दृढ़ और अप्रभावित रहेगा।

जब मन समस्त सांसारिक एवं निम्नतर संवेदनाओं से मुक्त हो जाता है तब वह उच्चतर तरंगों के प्रति पूर्णतया ग्रहणशील एवं निम्नतर के प्रति अग्रहणशील हो जाता है। जब मन का निम्नतर स्तर पंगु हो जाता है, किन्तु उच्चतर स्तर सक्रिय और संवेदनशील हो जाता है, तभी उच्च दीक्षाएँ प्रदान की जाती हैं। इसका तात्पर्य होता है आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति या परम्परागत ज्ञान का हस्तांतरण। सभी आध्यात्मिक जिज्ञासु इसे ही प्राप्त करना चाहते हैं।

दीक्षा कहीं भी दी जा सकती है; एक नदी के किनारे, किसी प्रार्थना गृह में, एक वृक्ष के नीचे, किसी एकान्त जंगल में, किसी आश्रम या एक छोटे कमरे में। स्वामी शिवानंद जी जैसे महान् योगी पत्र द्वारा भी दीक्षा प्रदान कर सकते थे। किन्तु दीक्षा प्राप्त करने के समय सब कुछ शांत रहना चाहिए। शरीर निश्चित रूप से स्थिर रहे, इसमें किसी प्रकार की गति नहीं होनी

चाहिए और न इसे हिलना-डुलना चाहिए। मन भी पूर्णतया शिथिल और ग्रहणशील होना चाहिए।

क्या ऐसे व्यक्ति से भी मन्त्र लेना चाहिए जिन्हें अपना गुरु नहीं मानता?

मन्त्र सदैव अपने गुरु से ही प्राप्त करना चाहिए, तभी यह प्रभावशाली होगा। यह गुरु और शिष्य के बीच सम्पर्क या दीक्षा का प्रथम स्वरूप है। गुरु या मन्त्र कदापि नहीं बदलना चाहिए। मन्त्र की शक्ति हस्तांतरित करने के पूर्व गुरु को अवश्य ही यह अनुभव होना चाहिए कि साधक इसे ग्रहण करने में सशक्त और सक्षम है। अनेक गुरु अपने शिष्यों को कुछ चुम्बकीय शक्तियाँ संप्रेषित कर सकते हैं। किन्तु यदि शिष्य सक्षम नहीं है तो ये उसके मानसिक एवं स्नायविक संतुलन को बिगाड़ सकती हैं। दीक्षा एक प्रकार का विद्युतीय धक्का है जो व्यक्ति के मानसिक वातावरण में प्रवेश करता है। कभी-कभी यह भावनाप्रधान लोगों में असंतुलन भी उत्पन्न कर सकता है।

मन्त्र स्वीकार करने के बाद आप शिष्य हो जाते हैं। जब आप मन्त्र का अभ्यास करते हैं तो गुरु-शिष्य सम्बन्ध को सशक्त बनाते हैं। एक बार यह सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर आप वह माध्यम हो जाते हैं जिससे होकर गुरु के विचार या उनकी चेतना संचालित होने लगती है। शिष्य को अपने ध्यान के अभ्यास में अवश्य ही नियमित होना चाहिए। उनसे नियमित सम्पर्क रहने पर वह उनसे अचेतन सहायता या मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की साधना से सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है।

गुरु का अचेतन मन ही अन्त:क्रियाएँ करता है, चेतन मन नहीं। इस स्तर पर हम सभी एक-दूसरे से अन्तर्सम्बद्ध हैं तथा विचारों और अनुभवों का आदान-प्रदान करते हैं। इस अन्तर्सम्बन्ध के कारण गुरु यह जान लेते हैं कि किसी शिष्य का मन कब विचलित हो गया है या कब उस पर कोई विपत्ति आने वाली है। यदि गुरु वास्तव में सक्षम हों तो वे शिष्य के भाग्य को भी बदल सकते हैं।

गुरु सिर्फ एक बात के प्रति चिन्तित रहते हैं– अपने और शिष्य के मन के बीच स्थित द्वैतता या दूरी को किस प्रकार दूर किया जाये। शिष्य में हृदय, मन और तार्किक बौद्धिक शक्ति से सम्बन्धित विशेषताएँ हो सकती हैं, किन्तु गुरु का इनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वे जानते हैं कि एक अवस्था आने

पर उनका शिष्य उनसे अवश्य ही दूर चला जायेगा। अत: वे यह निश्चित कर लेना चाहते हैं कि वह अहंकार से मुक्त हो चुका है तथा उनके बीच के सम्बन्धों में पूर्ण एकत्व स्थापित हो गया है।

क्या गुरु के साथ सभी शिष्यों के सम्बन्ध एक समान ही होते हैं?

जैसा कि मैं सोचता हूँ, गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध मुख्यत: गुरु पर निर्भर रहना चाहिए, क्योंकि उन्हें ही शिष्य के विकास का निर्धारण करना पड़ता है। कुछ शिष्य गुरु को अपने मार्गदर्शक के रूप में देखते हैं, जबकि कुछ अन्य उन्हें मित्र, प्रेरक और ईश्वर भी मानते हैं। मेरे कुछ शिष्य मुझे मार्गदर्शक के रूप में नहीं, बल्कि अपनी भक्ति, एकाग्रता और धारणा के प्रतीक के रूप में मानते हैं और इससे अधिक कुछ भी नहीं। वे मेरा मार्गदर्शन स्वीकार नहीं करते, किन्तु वे निश्चित रूप से मुझसे प्रेम करते हैं। अत: यह सब कुछ उनके विकास पर निर्भर है।

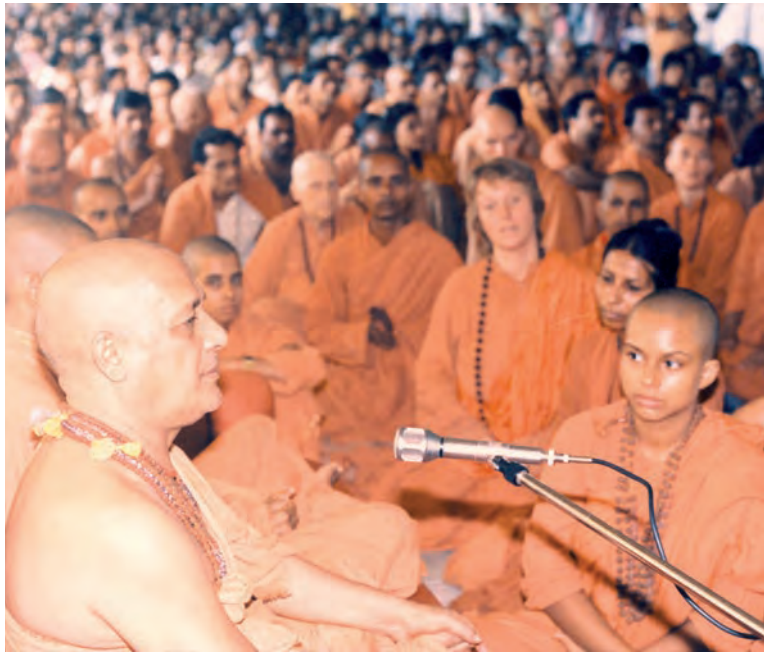

गुरु का चयन

कभी-कभी गुरु ही शिष्य की खोज में रहते हैं। ऐसी स्थिति में शिष्य को चिन्ता नहीं करनी है, क्योंकि गुरु उसे ढूँढ़ लेंगे। यह एक तथ्य है। किन्तु शिष्यगण बहुत अधैर्यशील होते हैं। वे बिना यह जाने-समझे कि मुझे पहले सर्वोत्तम शिष्य होना है, सर्वश्रेष्ठ गुरु पाना चाहते हैं। शिष्य अपने आध्यात्मिक विकास के अनुसार ही गुरु प्राप्त कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से शिष्य कहाँ खड़ा है? उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि क्या है? उसकी अनासक्ति का स्तर क्या है? वह प्रारम्भिक अवस्था में है या उन्नत अवस्था में? तदनुसार गुरु उसे अपना लेंगे। गुरु शिष्यों की खोज में सारे संसार में भटकते रहते हैं। वे अपने अनुयायियों के समूह को बढ़ाने के लिये शिष्यों की खोज नहीं करते। वे उच्च प्रेरणाओं से अभिप्रेरित आत्माएँ होती हैं। वे तो अविद्या और अन्धकार में भटकती हुई समस्त आत्माओं की सहायता करना चाहते हैं।

कृपया चिन्ता न करें तथा गुरु की खोज में अपना समय नष्ट न करें। हो सकता है कि आपको गलत सामग्री मिल जाये। अत: श्रेष्ठतर यह है कि आप अपने को सक्षम बनाएँ। अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठावान बने रहिये, जीवन और चिन्तन के क्रम को ठीक कीजिये, अनासक्त भाव और एकाग्रता को विकसित कीजिये तथा सत्संग, कीर्त्तन, भजन, पूजा, स्वाध्याय, व्याख्यान और गीता प्रवचन में सम्मिलित होइये।

यह कहा जाता है कि गुरु को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। किन्तु मैंने पाया है कि एक ब्रह्मनिष्ठ गुरु स्वयं में वेद होते हैं, ज्ञान की प्रतिमूर्ति। कबीर दास, मीराबाई, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि और ऐसे ही अन्य अनेक महापुरुष वेदों के ज्ञाता नहीं थे। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु को निश्चित रूप से

साधक होना चाहिये। आवश्यक नहीं है कि उनमें गाने, व्याख्यान देने तथा ब्रह्मसूत्र और गीता की व्याख्या करने की क्षमता हो। किन्तु उन्हें अनुभूति की अवस्था प्राप्त होनी चाहिये। यदि उन्हें अनुभूति प्राप्त नहीं है और वे सिर्फ बौद्धिक क्षमता से युक्त एक तर्कशास्त्री हैं जो धर्मशास्त्रों की व्याख्या कर सकते हैं, तो वे एक आचार्य हैं, गुरु नहीं।

रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, आनन्दमयी माँ, कबीरदास, मीराबाई, तुकाराम और ज्ञानदेव जैसे सन्त-महात्मा हर प्रकार की सत्ता या तत्त्व की व्याख्या कर सकते थे, क्योंकि उन्होंने अविद्या को दूर भगाकर उसकी अनुभूति प्राप्त की थी। जब कबीरदास का देहान्त हुआ तो उनका पार्थिव शरीर फूलों में बदल गया। जब मीराबाई ने शरीर-त्याग किया तो अपने भौतिक स्वरूप को प्रकाश में रूपान्तरित कर दिया, वे ज्योति बन गई। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने शरीर को प्रकाश में बदल दिया। उन्होंने एक मन्दिर में प्रवेश किया और सदा के लिये वहीं रह गये। जिन्हें तत्त्वों और संस्कारों पर विजय प्राप्त हो गयी है, जो आन्तरिक और बाह्य जगत् में भ्रमण कर सकते हैं, जिन्हें प्रकाशमय दृष्टि प्राप्त हो गयी है, जो मृत्यु से निर्भय होकर अपनी बाह्य चेतना का अतिक्रमण कर सकते हैं–ऐसे व्यक्ति ही गुरु हैं।

गुरु शब्द दो अक्षरों से बना है–गु और रु। 'गु' का अर्थ होता है अन्धकार और 'रु' का दूर भगाने वाला। इस प्रकार गुरु का अर्थ है अन्धकार को दूर भगाने वाला। अन्धकार क्या है? अविद्या ही अन्धकार है। हम सभी अन्धकार में हैं, क्योंकि हम प्रकाश को नहीं देख सकते हैं। प्रकाश क्या है? आत्मज्योति या आत्मा ही प्रकाश है।

अत: इस बारे में चिन्ता मत कीजिये कि गुरु कैसे प्राप्त किया जाये। हम उत्तम शिष्य बनें और तब हमें गुरु मिल जायेंगे। गुरु गुरु के रूप में ही जन्म लेते हैं और शिष्य शिष्य के रूप में। यदि गुरु महान् हैं, तो शिष्य भी महान् हैं। ऐसा कदापि मत सोचिये कि शिष्य प्रोन्नत होकर गुरु बन जाते हैं। शिष्य गुरु के रूप में कभी भी प्रोन्नत नहीं होते। मेरे शिष्य मुझे गुरु मान सकते हैं, किन्तु मैं सदा के लिये एक शिष्य ही हूँ, क्योंकि मैंने एक शिष्य के रूप में जन्म लिया और एक शिष्य ही रहूँगा। शिष्य वे होते हैं जो विकास करते हुए पूर्णता के एक बिन्दु तक पहुँचते हैं। गुरु वे हैं जो ईश्वरत्व का अंश लेकर सजगता के उच्चतर क्षेत्र से हमारी चेतना के स्तर पर अवतरित होते हैं। यही कारण है कि वे सदैव गुरु और हम शिष्य बने रहते हैं।

जब तक आपके कोई गुरु नहीं हैं, आप शिष्य नहीं हो सकते। मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है। मैं सदा के लिये अपने गुरु का शिष्य हूँ और मैं कभी भी गुरु नहीं बन सकता और न बनूँगा, क्योंकि मैं सोचता हूँ कि एक महिमामय, प्रतापी शिष्य गुरु से भी महान् है। यदि मैं गुरु बन जाऊँ तो मेरा अहंकार भैंस की तरह मोटा हो जायेगा। और मैं सोचता हूँ, तथा आप भी मुझसे सहमत होंगे कि अहंकार आध्यात्मिक साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। 'मैं एक महान् व्यक्ति हूँ', यह एक टाइम बम है। 'मैं गुरु हूँ', यह विष है। 'मैं एक शिष्य हूँ' यह नम्रता और सरलता है, क्योंकि यदि आप स्वयं को घास की एक पत्ती से भी नरम मानते हैं तो आप अपनी आत्मा, ईश्वर और उसकी सृष्टि के बहुत निकट हैं। अत: मैं सर्वदा एक शिष्य की चेतना के साथ जीवन जीता रहा हूँ, क्योंकि मैं अपने गुरु के लिये एक माध्यम, एक उपकरण के रूप में कार्य करता रहा हूँ।

एक शिष्य को पत्र

दीक्षा प्राप्त करने के बाद गुरु का मूल्यांकन करना समय नष्ट करना है। यह पहले ही किया जाना चाहिये था। जब तक अद्वैत में उसे पूर्ण विश्वास नहीं हो जाता तब तक शिष्य के लिये गुरु को पहचानना कठिन है। यदि आपको तनिक भी सन्देह है तो आप अपना मार्ग बिना किसी हिचकिचाहट के बदल सकते हैं।

पारलौकिक विषयों में गुरु और शिष्य, दोनों ही शरीर और मन के क्षेत्रों के परे होते हैं तथा अद्वैत की अवस्था में निवास करते हैं। मैं चाहता हूँ कि आपको अपने निर्णय के निहितार्थ को पूर्णतया समझना चाहिये। आपका शिष्यत्व बहुत उच्च स्तर का है। आपको मेरा विश्वास प्राप्त करना होगा, अत: अच्छी तरह सोच लीजिये।

सम्बन्ध की स्थापना

ज्योंही आप गुरु से मन्त्र प्राप्त करने का निर्णय लेते हैं, आप उनसे एक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सर्वप्रथम गुरु-शिष्य सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर स्थापित होता है। तदुपरान्त वह भावनात्मक स्तर पर और अन्त में मानसिक स्तर पर आता है। तब आप इसे समझ सकते हैं और गुरु के पास जाते हैं। आप उनसे मन्त्र के लिये निवेदन करते हैं और वे आपको एक मन्त्र प्रदान करते हैं। उसके बाद गुरु महत्त्वहीन हो जाते हैं तथा सिर्फ एक कार्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आपको दिन-रात निरन्तर मन्त्र का जप करना है, यहाँ तक कि कुछ समय के बाद वह आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में समाहित हो जाए।

भक्ति एक अति सहज, स्वाभाविक प्रक्रिया है। जिस प्रकार प्रेम और घृणा करने की शिक्षा नहीं दी जा सकती हैं, वैसे ही भक्ति सीखी नहीं जा सकती और न आरोपित की जा सकती है। यदि आपके हृदय में गुरु के प्रति भक्ति नहीं है तो कुछ नहीं किया जा सकता है। आपकी भक्ति-भावना को सशक्त बनाने के लिये विटामिन की कोई गोली उपलब्ध नहीं है। भक्ति तो सहज, स्वाभाविक और प्रकृति के अनुकूल ही हो सकती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु-शिष्य सम्बन्ध निश्चय ही अति घनिष्ठ और आत्मीय होना चाहिये, किन्तु सदैव ऐसा होना सम्भव नहीं है। भक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं और प्रत्येक व्यक्ति की भक्ति बिल्कुल एक समान नहीं हो सकती। कुछ शिष्यों की भक्ति मन्द और शिथिल होती है तो कुछ भक्ति-भावना से विह्वल रहते हैं।

अनेक व्यक्तियों के लिये गुरु-शिष्य सम्बन्ध सिर्फ औपचारिक होते हैं। वास्तव में यह सम्बन्ध तो इस बात पर निर्भर रहता है कि शिष्य कितना गहरा और विकसित है। मैं तीन बार शिष्य बना। जब मैं अपने माता-पिता के साथ

था तो एक महिला सन्त के सम्पर्क में आया। मैं मात्र दस वर्ष का था और वे पूर्ण युवती थीं; उनकी उम्र पचीस वर्ष थी। उन्होंने मुझे कुछ आध्यात्मिक मार्गदर्शन दिया और इसलिये वे मेरी गुरु हुईं। मैं उनका इसलिये आदर करता था कि उनमें अत्यधिक अरुणिमा और कान्ति थी।

अनेक वर्षों के बाद जब मैंने अपना घर छोड़ा तब गुरु की खोज में सम्पूर्ण देश में भटकता रहा। सर्वप्रथम मैं पश्चिम भारत के एक आश्रम में गया। मैं वहाँ इसलिये गया कि मेरी बहन वहाँ क्रियायोग सीख रही थी। उन्होंने सोचा कि उनके गुरु मेरे भी गुरु हो सकते हैं। वे लगभग सत्तर वर्ष के एक भले आदमी थे। वे अल्पभाषी और शान्त थे तथा मुझे बहुत पसन्द करते थे। मैं भी उन्हें पसन्द करता था, परन्तु मैं समझता था कि वे मेरे अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं।

कुछ सप्ताहों के बाद मैंने वह आश्रम छोड़ दिया और पुन: बीहड़ों में भटकने लगा। मेरे पास ऋषिकेश के एक स्वामीजी का पता था, अत: मैं उनसे मिलने गया। वे एक प्रसिद्ध संस्कृत शिक्षक थे तथा स्वामी शिवानन्द जी के आश्रम के बहुत निकट रहते थे। मैंने उनसे कहा कि मैं शिष्य बनना चाहता हूँ और उन्होंने स्वामी शिवानन्दजी के आश्रम की ओर इंगित करते हुए कहा कि 'उस आश्रम में जाओ।' अत: अगले दिन प्रात:काल मैं वहाँ गया और स्वामी शिवानन्द जी से मिला। वे उस समय कम-से-कम पचास वर्ष के अवश्य रहे होंगे। उन्हें देखते ही मैं समझ गया कि मैं अपनी यात्रा के अन्तिम बिन्दु पर पहुँच गया हूँ और मेरा अनुमान बिल्कुल सही था।

मैं उनके साथ बहुत लम्बे समय तक रहा, किन्तु कभी भी भावुकता से प्रेरित नहीं हुआ और न विह्वल या उन्मत्त ही हुआ। तथापि उनके प्यार और मेरी भक्ति का प्रभाव इतना गहरा था कि मैं दिन-रात कार्यों में व्यस्त रहा करता था। सोना तो दूर रहा, कभी-कभी तो भोजन करने का समय भी नहीं मिलता था। आश्रम का निर्माण करने के लिये मैं आविष्ट व्यक्ति की तरह कार्य करता था, किन्तु वे कभी भी यह नहीं चाहते थे। प्रत्येक बार एक कमरा तैयार करने के बाद जब मैं उन्हें आशीर्वाद देने के लिये बुलाता था तो वे कहते थे, "तुमने एक और माया, एक और सूक्ष्म बन्धन का निर्माण किया है।" और इस प्रकार मैंने अनेक वर्षों तक स्वामी शिवानन्द जी के लिये एक भिन्न प्रकार की भक्ति के साथ कार्य किया। यह भावनात्मक, बौद्धिक या मानसिक भक्ति नहीं थी। यह वास्तविक भक्ति थी, क्रियात्मक भक्ति।

गुरु के प्रति इस प्रकार की भक्ति में क्या रखा है कि आप निरन्तर उनका नाम जपते रहें; किन्तु गन्दगी में बैठे रहें? यदि उनका आश्रम उजाड़ हो और उनकी फुलवारी में फूल नहीं हों तो यह कैसी भक्ति होगी? शिष्य की भक्ति वास्तविक होनी चाहिये। जब मेरे गुरु का जन्मदिन मनाया जाता था तो सभी शिष्य उनकी पूजा करने जाया करते थे। मैं नहीं जाता था। इसके बदले में मैं रसोईघर में जाकर कार्य किया करता था। अन्य शिष्य मुझसे पूछा करते थे कि 'आप स्वामीजी के प्रति भक्ति क्यों नहीं दिखाते हैं?' मैं कहा करता था, "आपकी भक्ति भावनात्मक है, मेरी भक्ति वास्तविक है।"

आप यह अवश्य याद रखें कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। तन्त्र में गुरु-शिष्य सम्बन्ध बिल्कुल पूर्ण होता है। तांत्रिक ढाँचे के अन्तर्गत एक गुरु और एक शिष्य के साथ सभी प्रकार के सम्बन्धों का अभ्यास किया जा सकता है। किन्तु यदि आप गृहस्थ हैं तो यह सम्भव नहीं है। कोई व्यक्ति जो एक पति, एक पत्नी, एक पुत्र या एक पुत्री है, सामाजिक प्रतिबद्धताओं और भावनात्मक दायित्वों से जुड़ा हुआ है। अत: उन्हें परिवार और गुरु के प्रति अपने दायित्वों के बीच निश्चय ही सन्तुलन स्थापित करना चाहिये।

अत: गुरु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध प्रथागत और व्यावहारिक अवश्य होना चाहिये। यदि आप गृहस्थ हैं तो अपने गुरु के पास जाकर एक मन्त्र के लिये निवेदन कीजिये, उसे ग्रहण कीजिये तथा 'हरि ॐ' बोलिये। तदुपरान्त घर जाकर मन्त्र का अभ्यास कीजिये। जब भी आप अभ्यास के लिये बैठें, अपने गुरु का स्मरण करें और अपने अभ्यास के अन्त में भी उन्हें स्मरण करें। गुरु से आपका सम्बन्ध इस हद तक होना चाहिये।

गुरु की अन्तरात्मा से सम्बन्ध जोड़ना

हम सबको शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक सम्बन्धों की कुछ समझदारी है, क्योंकि हम अनेक वर्षों से इनका अनुभव करते रहे हैं। किन्तु दो व्यक्तियों के बीच के आध्यात्मिक सम्बन्धों के निहितार्थों को समझना बहुत कठिन है, जब तक कि उनकी स्पष्ट व्याख्या न कर दी जाय।

आध्यात्मिक सम्बन्ध धार्मिक सम्बन्ध नहीं है। यह विश्वास द्वारा भी निर्मित नहीं है। हमारे अन्दर की आध्यात्मिक सजगता या आध्यात्मिक सत्ता अभी भी प्रसुप्तावस्था में है। इसका अभी उद्भव नहीं हुआ है। मैं नहीं सोचता हूँ कि यह अभी भ्रूण अवस्था में है। हमारा शारीरिक सम्पर्क आसानी से हो सकता है, और अपने इन्द्रियोत्तर बोध को विकसित करके हम मानसिक स्तर पर भी निश्चय ही एकत्व स्थापित कर सकते हैं। एक-दूसरे के प्रति प्रेम और भक्ति द्वारा भी हम भावनात्मक रूप से एक हो सकते हैं। किन्तु गुरु के साथ घनिष्ठता, संयोग या सम्बन्ध का वास्तविक उद्देश्य तो आध्यात्मिक स्तर पर एकता स्थापित करने से है।

प्रथम पूर्वापेक्षा

जब तक हम अपनी आत्मा को जाग्रत नहीं करते, आध्यात्मिक संयोग कदापि कायम नहीं हो सकता। आत्मा एक ऐसा शब्द है जिसे ठीक-ठीक नहीं समझा जाता। लोग इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, किन्तु मेरी समझ से यह एक प्रकार की सजगता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। यह अनवरुद्ध है तथा समय, स्थान और पदार्थ के क्षेत्रों से परे की चीज है। भौतिक सजगता की अनेक सीमाएँ होती हैं। मानसिक सजगता के अवरोध उससे कम होते हैं। भावनात्मक सजगता की सीमाएँ और भी कम होती हैं तथा यह सर्वाधिक

सक्षम होती है। एक माँ अपने छोटे बच्चे का अनुभव कर सकती है तथा किसी भी क्षण उससे संचार स्थापित कर सकती है, चाहे उनके बीच कितनी भी दूरी क्यों न हो। किन्तु आध्यात्मिक और आत्मिक सजगता भावनात्मक सजगता को भी पार कर जाती है।

जब आत्मिक सजगता या आत्मानुभूति, जैसा कि वेदान्त में कहा जाता है, जाग्रत होती है तब हम गुरु के साथ ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी एवं वनस्पति जगत् समेत समस्त हस्तियों के साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। आत्मानुभूति एक ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या करना कठिन है। किन्तु यदि हम गुरु के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं तो यह वह पहली चीज है जिसे विकसित करना ही होगा।

समर्पण और सेवा का जीवन

गुरु और शिष्य के बीच के सम्बन्ध की मान्यता के अनुसार आचरण करना बहुत कठिन है तथा उससे भी अधिक कठिन है उसे समझना, क्योंकि यह बुद्धि और भावना के क्षेत्र से परे की चीज है। यही कारण है कि हम इस विशिष्ट सम्बन्ध को स्थापित करने में बार-बार असफल होते हैं। ऐसा इसलिये नहीं होता कि हम धार्मिक या नैतिक शर्तों को पूरा नहीं कर पाते; यह तो इसलिये होता है कि हम ठीक-ठीक यह नहीं जानते कि हमें गुरु के प्रति किस प्रकार का भाव रखना चाहिये। क्या हमें उनके प्रति एक दास, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन पति-पत्नी, मित्र या भक्त का भाव रखना चाहिये? जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह इनमें से किसी भी परिभाषा के दायरे में नहीं आता, यद्यपि गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध निश्चित रूप से एक पूर्ण सम्बन्ध होता है।

जब मैं अपने गुरु के आश्रम में शरीर और मन से पूर्ण नि:स्वार्थ भाव से बहुत कठोर परिश्रम किया करता था तो मैं उनकी कृपा के भौतिक स्वरूप के बारे में कभी भी नहीं सोचता था। जिस व्यक्ति को मैं प्यार करता था उनके बारे में सोचना मेरा स्वभाव ही नहीं था। मुझे उनके लिये कार्य करना तथा अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शक्ति समर्पित करना अति उत्तम लगता था। अभी भी अपना प्रत्येक कर्म उन्हें समर्पित करते हुए मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने सिर्फ उन पर ध्यान करने की अपेक्षा बहुत अधिक किया है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने उनसे तादात्म्य स्थापित करने का कार्य

लगभग पूरा कर लिया है। गुरु और आध्यात्मिक जीवन के प्रति मेरा सदा से यही व्यावहारिक दृष्टिकोण रहा है।

आश्रम-निवास की उस अवधि में, जब मैं अपने गुरु के लिये अनेक दायित्वों का सम्पादन कर रहा था, मेरे लिये उनके निकट जाना भी आवश्यक नहीं था। हाँ, जब कार्य से सम्बन्धित मार्गदर्शन की आवश्यकता होती थी तो मैं अवश्य उनके पास जाता था। जब मैं उनकी पाण्डुलिपियाँ टाइप करता था तो उन्हें उनसे लेने प्रतिदिन उनके पास जाता था। किन्तु जब मैं आश्रम का प्रशासक था तो मेरे लिये उनसे महीने में एक बार मिलना भी आवश्यक नहीं था, क्योंकि मेरे कार्य क्षेत्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इसी प्रकार आश्रम में मैंने वह लम्बा समय बिताया। मैं शायद ही कभी अपने गुरु के बारे में सोचता था; किन्तु उनके लिये निरन्तर कार्यरत रहा करता था।

आज मैं सोचता हूँ कि उन दिनों मैं सेवा के लिये उतना नहीं जितना कि अपनी आन्तरिक शान्ति और जागृति के लिये कार्य कर रहा था। उस समय मैं बहुत युवा, अत्यन्त ओजस्वी और अत्यधिक उग्र था और मेरे लिये यह आवश्यक था कि अपनी शक्ति को सही दिशा में प्रवाहित करूँ। अन्यथा मेरा मन पथभ्रष्ट हो जाता। अपने समस्त कार्यों का सम्पादन करते हुए भी मुझे सब प्रकार की शरारतें करने का समय मिल जाता था। वास्तव में, यद्यपि मैं सेवा में पूर्णतया तल्लीन रहता था तथापि मैं आश्रम के प्रमुख 'आतंकवादियों' में एक था।

मुझमें इतनी ऊर्जा थी कि प्रत्येक सुबह कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व मैं चार बार गंगा के आर-पार तैर लिया करता था। रात्रि में अपना कार्य समाप्त करने के बाद मैं कुछ समय के लिये अध्ययन किया करता था और तदुपरान्त अपने पुरश्चरण के लिये गंगा के किनारे आसन लगाकर बैठ जाता था। इस हेतु मैं एक स्वरचित मन्त्र का उपयोग करता था; यह मुझे गुरु द्वारा प्रदान नहीं किया गया था। यह गायत्री मन्त्र के समान ही लम्बा था और मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं उसकी चौबीस लाख आवृत्तियाँ करूँगा। अत: इस साधना को पूर्ण करने में मुझे अनेक वर्ष लगे। अपना पुरश्चरण समाप्त करने के बाद मैंने रात्रि-पहरेदार का उत्तरदायित्व सम्भाला। मैं सम्पूर्ण आश्रम की जाँच किया करता था जोकि एक बड़े क्षेत्र में फैला हुआ था। प्रात:काल अपना कार्य मैं रसोई घर से प्रारम्भ करता था।

इन समस्त कठोर परिश्रम और साधना का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे आत्मानुभूति से मेरा साक्षात्कार हुआ। मेरे अन्दर आध्यात्मिक सजगता

का उद्‌भव हुआ। तब यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि मैं अपने गुरु के साथ महत्तर, गहनतर और अधिक सत्यनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम हुआ।

एक जीवन्त अनुभव

सन् 1963 में, जब मैं मुंगेर स्थित 'आनन्द भवन' में रह रहा था, मुझे अपने गुरु का एक जीवन्त अनुभव हुआ। यह उतना ही वास्तविक था जितना कि मैं बोल रहा हूँ और आप मुझे सुन रहे हैं। मैं सोचता हूँ कि मुझे वह अनुभव सिर्फ इसलिये हुआ कि मेरे अन्दर आत्मानुभूति विकसित हो चुकी थी तथा गुरु से आध्यात्मिक स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम थी। अत: 13 जुलाई की मध्यरात्रि में मुझे प्रथम आज्ञा, या मौन आदेश मिला और जब अनुभव का अन्त हुआ तब मेरे लिये यह निर्धारित करना कठिन था कि वास्तविकता क्या थी– मेरा अन्तर्जगत् या बाह्य स्थान। लगभग एक घंटे के बाद मैं समझ सका कि मैं 'आनन्द भवन' में हूँ तथा मुझे अभी-अभी आन्तरिक अनुभूति हुई थी।

अनुभूति के उपकरण पर अधिकार

सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आपको वह उच्चतर व्यक्तित्व या आयाम अवश्य ही विकसित करना होगा जो गुरु के प्रति सतत् सजग रहे। यह संभव है, और अधिक कठिन नहीं। हमारे अन्दर उस उच्चतर सजगता को विकसित करने के लिये आवश्यक 'कच्चा माल' पूर्व से ही विद्यमान है। हम विकसित प्राणी हैं तथा सजगता के तीन आयामों– जागृति, स्वप्न और निद्रा– के बीच संचार स्थापित कर सकते हैं।

वास्तव में स्वप्नावस्था जाग्रत अवस्था से बहुत अधिक शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक है। किन्तु अनुभूति के उपकरण पर हमारा नियन्त्रण न होने के कारण हम अपने स्वप्नों का परिचालन करने में असक्षम हैं। यदि हम स्वप्न के अनुभव का विस्तार कर सकें तथा स्वेच्छापूर्वक स्वप्न की समाप्ति और सृजन कर सकें तो हम आत्मानुभूति के अधिक निकट आ सकते हैं।

जाग्रत अवस्था में हम सिर्फ पदार्थ, इन्द्रियों और मन की अन्त:क्रियाओं का अनुभव कर सकते हैं। गुलाब के अभाव में आप गुलाब का अनुभव नहीं कर सकते। जागृति एक अति सीमित अवस्था है, क्योंकि इसमें प्रत्येक चीज

इन्द्रियों पर निर्भर करती है। यदि आप नेत्रहीन हो तो नहीं देख सकते; यदि बहरे हो तो नहीं सुन सकते। किन्तु स्वप्नावस्था की कोई सीमा नहीं है, बशर्ते कि आप अनुभव के उपकरण पर अधिकार प्राप्त करने या उसे नियन्त्रित करने में सक्षम हों।

वह उपकरण क्या है? यह चेतना के सम्पूर्ण आयाम की सजगता है। स्वप्न क्या है? यह आपके अप्रशिक्षित मन की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार एक बच्चा जब चलना शुरू करता है तो लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, क्योंकि अभी उसका शरीर या उसके अंग प्रशिक्षित नहीं हैं, ठीक इसी प्रकार अप्रशिक्षित और अनुशासित मन स्वप्नावस्था में अपने अन्दर के संचित संस्कारों के सन्दर्भ में स्वयं को व्यक्त करता है। जब आप दोषपूर्ण दृष्टि से अपने संस्कारों को देख रहे हैं तो यही स्वप्न है।

आसन, प्राणायाम, मन्त्र तथा अन्य तकनीकों द्वारा आप स्वप्न को परिष्कृत कर सकते हैं और जो कुछ भी चाहें देख सकते हैं। आप वैसी चीजों को भी देख सकते हैं जो मन और इन्द्रियों के क्षेत्र से परे हैं। आप एक फूल, पशु, मनुष्य या किसी वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। आप एक संवेदना, अनुभव कार्य या एक सम्पूर्ण कहानी की रचना भी कर सकते हैं। स्वप्न की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर नियन्त्रण प्राप्त करके आप अपनी आत्मा का विकास कर सकते हैं।

आन्तरिक सम्बन्ध की स्थापना

बहुत से लोग स्वप्न की प्रक्रिया को नियन्त्रित करके अपने गुरु को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस अवस्था में अपने मन को शान्त करके वे उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं और मन को आत्मा के निकटतर लाकर वे उन्हें वैसे ही देख सकते हैं मानो वे सचमुच वहाँ हैं। तब वे उनसे वैसे ही संचार स्थापित करने में सक्षम होते हैं जैसा कि भौतिक स्तर पर सम्भव होता है।

अत: यदि आप चेतना के आन्तरिक उपकरण को तेज करने में सक्षम हो जायें तो अपनी सजगता को आत्मा के स्तर तक ऊपर उठा सकते हैं। तदुपरान्त गुरु और शिष्य के बीच संचार या सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। तब शिष्य का कर्त्तव्य गुरु के आदेशों का पालन करना हो जाता है। मैंने अपने गुरु से एक निर्देश प्राप्त किया। वह यह था कि "योग प्रकाश है और तुम

उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाओ।" बस, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। मेरे और मेरे गुरु के बीच यही एकमात्र सम्बन्ध है।

आप लोगों में से जो भी गुरु के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं वे एक बात का ख्याल अवश्य रखें– सिर्फ भक्ति या भावना द्वारा आप उनके निकट नहीं आ सकेंगे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को भावनात्मक रूप से प्रत्युत्तर दे पाना उनके लिये कठिन है। मैं तो वह भाषा तनिक भी नहीं समझता हूँ। किन्तु हमारे पास सम्बन्ध स्थापित करने का एक उपाय है। यदि आप अपने परिवार तथा मित्रों के बीच योग के लिये कार्य करें और इस विज्ञान को कम-से-कम आधे दर्जन लोगों तक पहुँचा सकें तथा उन्हें जीवन में एक दिशा प्रदान कर सकें, तो आप मेरे बहुत निकट आ सकते हैं। योग के सन्देश को प्रत्येक द्वार और प्रत्येक देश तक पहुँचाना ही एक ऐसी बात है जो सदैव मेरे मन में बनी रहती है।

कार्य में हिस्सा बँटाना

अपने गुरु के सेवक के रूप में उनके आदेशों का पालन करते हुए मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि बहुत से लोग मेरे इस अति भारी बोझ को ढोने में हिस्सा बँटायें। आने वाले वर्षों में आध्यात्मिक जीवन की जागृति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। कोई एक पैगम्बर इस कार्य का सम्पादन कदापि नहीं कर सकेगा। आध्यात्मिक पुनर्जागरण के अभियान में प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग करना होगा। लाखों लोगों के सहयोग करने पर ही यह महान् कार्य सम्पन्न हो सकेगा। मैं वह अन्तिम व्यक्ति हूँ, जो यह विश्वास करता है कि एक पैगम्बर आयेगा, जादू करेगा और अकेले समस्त कार्यों को पूरा कर देगा। आज किसी एक व्यक्ति द्वारा मानव जाति का नेतृत्व नहीं किया जा सकता है। किसी भी महान् कार्य में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान आवश्यक है।

अत: घर वापस जाने के बाद यदि आप अनुभव करें कि आपके परिवार के सदस्यों, मित्रों, सम्बन्धियों एवं सहकर्मियों को मानसिक शान्ति, शिथिलता, गहरी निद्रा, अच्छे स्वास्थ्य, एक जीवन-दर्शन तथा संसार में कार्य करने के लिये एक सही मानसिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, तो याद रखें कि आप योग द्वारा उनकी सहायता कर सकते हैं। आश्रम में प्राप्त आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, ध्यान, योगनिद्रा एवं योग-चिकित्सा की शिक्षा द्वारा आप हजारों

लोगों को जगाने में तो सक्षम नहीं हो सकते (यह महत्त्वपूर्ण भी नहीं है), किन्तु आप कम-से-कम आधे दर्जन लोगों का मार्गदर्शन करने में सफल हो सकेंगे।

दूसरों को योग का प्रकाश प्रदान करते समय आप अनुभव करेंगे कि आप मेरे बहुत निकट हैं, क्योंकि मैं गुरु नहीं हूँ, शिष्य हूँ और एक शिष्य के रूप में मुझे सह-शिष्यों की आवश्यकता है जो मेरे गुरु के आदेशों की पूर्ति करने में मेरी सहायता कर सकें।

एक आनन्दमय तपस्या

त्याग कर सब-कुछ, समस्त सन्देहों से मुक्त होकर,
चल पड़ा हूँ आज मैं, देवत्व के पथ पर।
लिये प्रकाश की एक कल्पना सर्वत्र, चाहे धरती हो या आकाश,
आओ अपना प्रज्वलित दीप लेकर, करने मेरी कुटिया में प्रकाश।
लेकर अपनी करुणा का सरित प्रवाह,
इस संन्यासी के तपस्वी जीवन को बनाने हल्का और कोमल करने।
होगा अनेक उत्सवों से, अब मेरा जीवन आनन्दित,
तपस्या के गर्भ से ही, ज्ञान होता है प्रस्फुटित।
आज अनेक संजोए स्वप्नों से, मेरी शैय्या है सज्जित,
तपस्या आई है इस बार, मुझे हँसाने, मुझे जगाने।
आज मैं सन्तुष्ट हूँ, आओ मनायें उत्सव,
मानवता की सेवा में, करें समर्पित यह उत्सव।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

शंका समाधान

गुरु और शिष्य के बीच कैसा सम्बन्ध है?

मैंने सदैव अति स्वतंत्र जीवन बिताया है तथा किसी व्यक्ति या वस्तु से कोई व्यक्तिगत या घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखा है। मैंने किसी चीज के प्रति कभी भी अपनी निष्ठा अर्पित नहीं की। किन्तु मेरे जीवन में एक व्यक्ति ऐसे हैं

जो पूर्णतया मेरी चेतना में व्याप्त हो गये हैं और वे हैं मेरे गुरु। यह बात नहीं है कि मैंने ऐसा चाहा था। वास्तव में मैंने ऐसा कभी नहीं चाहा था, लेकिन किसी प्रकार ऐसा हुआ। एक व्यक्ति के प्रति तीव्र, पूर्ण और अद्वैत सजगता ही प्रेम है, लेकिन मेरे साथ ऐसा कभी नहीं हुआ। मैं कभी भी अपने गुरु के सम्बन्ध में अधिक नहीं सोचता था, किन्तु अन्त में मैंने अनुभव किया कि वे मुझे प्यार करते थे तथा सदैव मेरे बारे में सोचते थे। अपने क्षणभंगुर शरीर को त्यागकर जब उन्होंने महासमाधि में प्रवेश किया उस समय भी वे मेरे प्रति इतना सजग हुए कि मुझे इच्छा या अनिच्छापूर्वक कार्य करना ही पड़ा।

जब गुरु शिष्य को प्यार करते हैं तो वे सदैव उसके प्रति सजग रहते हैं, उसके बारे में सोचते रहते हैं तथा 'शिष्य स्नायु-रोग' से ग्रस्त रहते हैं। इसी प्रकार जब कोई शिष्य गुरु से इतना प्रेम करता है कि वह अन्य किसी चीज के बारे में नहीं सोच सकता, तो वह 'गुरु स्नायु-रोग' से ग्रस्त होता है। रामायण में रावण नामक दस सिर वाले एक दानव की कहानी है जो श्रीराम का प्रमुख शत्रु था। बाद में वह उनका सर्वश्रेष्ठ भक्त हो गया, क्योंकि वह दिन-रात उनके बारे में ही सोचा करता था। प्रेम के सकारात्मक और नकारात्मक पहलू होते हैं। सजगता भी प्रेम है। यदि आप गुरु के प्रति निरन्तर सजग रहते हैं, तो आप उनसे प्रेम करते हैं। यह एक अति शक्तिशाली सम्बन्ध है।

गुरु के प्रति प्रेम को समझने के लिये आपको इसका अभ्यास करना होगा। यह प्रेम वैसा नहीं है जैसा कि परिवार के सदस्यों के बीच पाया जाता है। यह उससे अधिक श्रेष्ठतर तथा अधिक लम्बे समय तक स्थित रहने वाला है। यह सम्बन्ध न तो बौद्धिक है और न भावनात्मक; यह आत्मिक प्रकृति का है। गुरु और शिष्य के बीच की आध्यात्मिक अन्त:क्रियाएँ शिष्य के मन को विचलित किये बिना चलती रहती हैं तथा निरन्तर गुरु की उपस्थिति का बोध होता है। ज्योंही शिष्य गुरु के बारे में सोचता है, उसका मन शान्त हो जाता है तथा सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

जब सम्बन्ध भावनात्मक प्रकृति का होता है तो मानसिक अशान्ति उत्पन्न होती है, शान्ति नहीं मिलती। किन्तु किसी भावनात्मक या नकारात्मक प्रतिक्रिया के अभाव में ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध पूर्ण होते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि आत्मिक अन्त:क्रिया के उच्चतर स्तरों पर भावनाएँ अधिक धीमी

पड़ जाती हैं तथा उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होती। कुछ वर्षों तक इस सम्बन्ध को विकसित करने के बाद आप अनुभव करेंगे कि कैसे मन एक भिन्न प्रकार से सोच सकता और कार्य कर सकता है और तब आपको इस प्रेम का बोध होगा।

हम गुरु के साथ आन्तरिक सम्बन्ध किस प्रकार विकसित कर सकते हैं?

हमें किसी क्षणभंगुर चीज से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। शरीर, मन और भावना नश्वर हैं, आत्मा चिरन्तन है और गुरु से हमारा सम्बन्ध आत्मिक होना चाहिये। आप दोनों के बीच जो भी सम्बन्ध है वह दो आत्माओं के बीच है, यह मानसिक या भावनात्मक सम्बन्ध नहीं है। कभी-कभी आप अवश्य ही भावनात्मक सम्बन्ध का सहारा लेते हैं, किन्तु आपको इसके आगे जाना होगा। अन्यथा मानसिक सन्तुलन, शान्ति, स्थिरता और एकरूपता नष्ट हो जायेगी।

गुरु के साथ गहनतर सम्बन्धों को समझने के लिये आपको कृष्ण के प्रति गोपियों के भाव को समझना चाहिये। यद्यपि अधिकतर लोग गोपियों को सामान्य लड़कियाँ समझते हैं, जो कृष्ण के साथ रासलीला किया करती थीं, किन्तु बात ऐसी नहीं थी। कृष्ण के साथ गोपियों का सम्बन्ध पारलौकिक या अतीन्द्रिय था। वे उनके भौतिक स्वरूप से नहीं, बल्कि ब्रह्माण्डीय रूप से प्यार करती थीं। गोपियाँ जब भी कृष्ण के साथ होती थीं तो कभी भी ऐसा अनुभव नहीं करती थीं कि वे किसी मानवीय सत्ता के सम्पर्क में हैं। वे सदैव ऐसा अनुभव करती थीं कि वे ईश्वरीय शक्ति की संगति में हैं। जब भी आप अनुभव करते हैं कि आप दैवी सत्ता की संगति में हैं तो आप निश्चय ही गुरु के सम्पर्क में हैं।

गुरु के साथ अपने सम्बन्ध को अधिक दृढ़ बनाने के लिये क्या शिष्य को उनके स्वरूप पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये?

जब आप गुरु के स्वरूप पर एकाग्रता का प्रयास करते हैं तो आप बहुत थक जाते हैं, क्योंकि इस प्रयास में कोई गतिशीलता नहीं होती और मन सीमित हो जाता है। किन्तु यदि आप ध्यान की किसी गतिशील पद्धति का अभ्यास करते हैं तो मन सीमित नहीं होता। आप अपने गुरु को गाली दे सकते हैं,

उनका गुणगान कर सकते हैं, उनसे अँग्रेजी या स्पेनिश में बातें कर सकते हैं, और यदि चाहें तो उन्हें त्याग भी सकते हैं। आप उनसे प्रेम या घृणा कर सकते हैं, उनकी पूजा कर सकते हैं तथा उन्हें फूलों की माला अर्पित कर सकते हैं, या उनकी पिटाई कर सकते हैं। आप उनके साथ कहीं भी जा सकते हैं तथा उनसे बहुत-सी बातें सीख सकते हैं।

मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति की कल्पनाएँ होती हैं। अत: आप कल्पना में जहाँ भी जाएँगे, हम साथ-साथ होंगे। यदि आप समोसा और लस्सी खरीदना चाहते हैं तो हम एक साथ बाजार जायेंगे तथा मैं आपके लिये इन्हें खरीदूँगा। यदि आप तिब्बत, चीन या एन्टार्कटिक की यात्रा करना चाहें तो मैं भी आपके साथ होऊँगा। और यदि आप पैसे के लिये बैंक या कार्यालय जाते हैं तो यह कार्य भी हम साथ-साथ करेंगे।

अधिकतर लोग स्वभाव से ही कल्पनाशील होते हैं। उनके लिये गुरु पर ध्यान का अभ्यास करना तथा उनके प्रति सतत् सजगता विकसित करना एक सहज और सुव्यवस्थित उपाय है। परम्परा और किस्से-कहानियों से आप जानते हैं कि राधा और कृष्ण जीवन में सिर्फ एक बार नदी के किनारे मिले जब वे वहाँ जल लेने गई थीं; बस इतना ही सम्पर्क हुआ उनका, प्रथम और अन्तिम भी। और यह सम्पर्क चिरन्तन एकत्व में परिणत हो गया। आप राधा के बिना कृष्ण के बारे में सोच भी नहीं सकते। इसे कहते हैं अन्तरात्मा का मिलन और सच्चे गुरु-शिष्य सम्बन्ध में भी यही होता है।

क्या शिष्य अपने गुरु में आसक्त होता है?

यह शिष्य पर निर्भर है। मैं अपने गुरु के प्रति कभी-भी आसक्त नहीं था, आज भी नहीं हूँ। किन्तु वे मेरे मन और मेरे जीवन के अंग हैं। मुझे पता नहीं कि इस बात को कैसे स्पष्ट किया जाये। किन्तु आसक्ति और एकत्व साथ-साथ चल सकते हैं, यद्यपि यह बहुत कठिन है।

गुरु परम्परा

जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में लोग सन्त दिवस या आत्मा दिवस मनाते हैं उसी प्रकार भारत में गुरु पूर्णिमा के दिन गुरु दिवस मनाया जाता है। ये क्रमश: समस्त सन्तों, आत्माओं और गुरुओं के लिये मनाये जाते हैं। पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण चन्द्र चमकता है। यह अनुभूति की सर्वोच्च अवस्था का द्योतक है जब पूर्ण और घोर अन्धकार में ज्ञान का प्रकाश चमकता है। अत: गुरु वे हैं जो अन्धेरी रात में पूर्ण चन्द्र की तरह चमकते हैं। इसलिये वर्ष में एक बार आषाढ़ पूर्णिमा के दिन, हम एकत्र होकर गुरु पूर्णिमा का उत्सव मनाते हैं तथा अपना सर्वस्व गुरु को समर्पित करते हैं।

हम गुरु पूर्णिमा दो उद्देश्यों से मनाते हैं। प्रथम, हम स्वयं को अपनी आध्यात्मिक परम्परा का स्मरण दिलाते हैं। द्वितीय, हम उन उच्चतर शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करते हैं जो आध्यात्मिक विकास में हमारा मार्गदर्शन करती हैं। गुरु वे हैं जिन्होंने अपनी चेतना को पूर्णतया रूपान्तरित कर दिया है। वे भौतिक रूप से इस संसार में रहते हैं, किन्तु उनकी आत्मा सदैव, स्थान और काल के परे, उच्चतम आयामों में विचरण करती रहती है। अपने विकास-चक्र को पूरा कर लेने के कारण उनके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। तथापि वे मानवता की चेतना के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये कार्य करते रहते हैं।

गुरु परम्परा आधुनिक नहीं है; यह सर्वाधिक प्राचीन है। मनुष्य की उत्पत्ति के पूर्व भी प्रकृति के रूप में गुरु का अस्तित्व था जो ऋतुओं, वनस्पतियों और जानवरों का मार्गदर्शन करती थी। प्रागैतिहासिक एवं पत्थर युग के लोगों के गुरु थे; जीववादियों, प्रकृतिवादियों तथा मूर्तिपूजकों के भी गुरु थे। जो पशु-बलि देते थे, अमूर्त देवी-देवताओं में विश्वास करते थे तथा

जादू-टोना, सिद्धि और अभिचार सीखना चाहते थे, उनके भी गुरु थे। गुरु की परम्परा सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं है। एटलान्टिक सभ्यता में गुरु की संख्या अब तक की किसी भी सभ्यता से अधिक थी। दक्षिण अमेरिका, यूरोप, मिस्र, मेसोपोटामिया, तिब्बत, चीन और जापान में गुरु होते थे। गुरु परम्परा सार्वभौमिक रही है, किन्तु अनेक युद्ध एवं सामयिक विध्वंसों के चलते यह धीरे-धीरे समस्त संसार में विनष्ट हो गयी। भारत को छोड़कर कोई देश इसे सुरक्षित न रख सका।

अत: अब हम सिर्फ भारत में ही गुरु पूर्णिमा मनाते हैं, किन्तु यदि आप प्राचीन दक्षिण अमेरिकन सभ्यता का अध्ययन करेंगे तो आप पायेंगे कि वे भी गुरु पूर्णिमा मनाते थे। हजारों वर्ष पूर्व समस्त संसार में गुरु पूर्णिमा अवश्य मनाई जाती होगी।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध निश्चित रूप से मानवीय विकास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं में से एक है। यह सम्बन्ध समस्त सम्प्रदायों, संगठनों और संस्थाओं का आधार है, चाहे वे आध्यात्मिक हों या कोई और। जब हम भूतकाल की समृद्ध संस्कृतियों तथा वर्तमान संस्कृतियों के बारे में विचार करते हैं तो पाते हैं कि वे भी इसी महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध पर आधारित रही हैं। समस्त परम्पराएँ, कला और विज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुरु से शिष्य को, शिक्षक से छात्र को तथा पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होती रही है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध मानव अस्तित्व के महत्तर आयामों, श्रेष्ठतर क्षमताओं से सम्बद्ध है। इसके बिना हम बाह्य जगत् की विभिन्नताओं में निराशाजनक रूप से खो जायेंगे। गुरुओं एवं शिक्षकों की रक्षात्मक कृपा ही उस आन्तरिक स्रोत की ओर हमारा मार्गदर्शन करती है, जहाँ से हमारी समस्त उच्चतर शक्तियाँ नि:सृत होती हैं। यही कारण है कि महान् शिक्षकों को श्रेष्ठतर संस्कृतियों की आधारशिला माना गया है। उनके ज्ञान और प्रेरणा के बिना न तो परम्पराएँ टिक सकेंगी और न संस्कृतियाँ जीवित रह सकेंगी।

भारत में प्राचीनकाल से आज तक हम गुरुओं और ऋषियों को अपनी सांस्कृतिक परम्परा की शक्ति और प्रकाश मानते रहे हैं। उन्होंने जो कुछ सिखाया तथा वेदों, उपनिषदों और तन्त्रों में जो भी लिखा, वह सारहीन दर्शन नहीं, बल्कि जीवन का एक पूर्ण विज्ञान है। उन्होंने लोगों को संयम, आत्मनियन्त्रण, अन्तर्दृष्टि एवं आत्मज्ञान द्वारा जीवन की पूर्णता प्राप्त करने हेतु प्रेरित किया। इन गुणों का सम्पूर्ण समाज पर शक्तिशाली प्रभाव पड़ता

है। यदि सभी लोग इसे अपना लें तो आप अच्छी तरह कल्पना कर सकते हैं कि ऐसी संस्कृति कितनी उन्नत हो जायेगी। हम अवश्य ही अपने को एक आदर्श लोक में पायेंगे।

हमारे ऋषि-मुनियों के मन में ऐसी ही समृद्ध संस्कृति के निर्माण की कल्पना थी। हजारों वर्षों के प्रयोग के बाद उन्होंने एक ऐसी पद्धति का विकास किया, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण कर सकता है तथा अपने बोध के दरवाजे को खोल सकता है। यह योग विज्ञान की पद्धति है। जिस प्रकार कुम्हार अपने मिट्टी के बर्तनों को मजबूत बनाने के लिये उन्हें आग में पकाता है उसी प्रकार योग असुरक्षित एवं अतिसंवेदनशील मन को सशक्त बनाता है। यह उसे पूर्ण सबल बनाता है। और इस प्रकार जीवन के उथल-पुथल एवं झंझावातों का सामना करने के लिये तैयार करता है।

हमारे गुरुओं को यह मालूम था कि अति प्राचीन काल में सम्पूर्ण विश्व में एक समृद्ध संस्कृति फैली हुई थी। वे भी एक विकसित, सुसंस्कृत मानव समाज के निर्माण की कल्पना किया करते थे। किन्तु विपरीत राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वे तत्कालीन समाज में योग का प्रचार-प्रसार न कर सके। अत: वे एकान्त वन में, अलग-थलग पड़े रहे। किन्तु उन्होंने योग विज्ञान की पद्धति को उस उपयुक्त समय के लिये सुरक्षित रखा जब मानव जाति उसे ग्रहण करने के लिये तैयार होगी।

बीसवीं शताब्दी तक यह परिस्थिति बनी रही। इस शताब्दी के प्रारम्भ होते ही राजसत्ता राजाओं-महाराजाओं के हाथों से व्यक्तियों के हाथों में हस्तान्तरित होने लगी। लोगों को राज्य और समाज के कार्यों में सहभागी होने की अधिक स्वतन्त्रता तथा अवसर मिलने लगे। इसके साथ ही वे अपने जीवन से सम्बन्धित अधिकाधिक उत्तरदायित्वों को सम्भालने लगे। औद्योगिक क्रान्ति और धन के वितरण के कारण लोगों में जीवन के प्रति अधिक भौतिकवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ। किन्तु आज यह प्रवाह तेजी से विपरीत दिशा में जाने लगा है। अधिकाधिक लोग भौतिकवादी जीवन से तंग होने लगे हैं। वे अपनी समस्याओं के समाधान तथा अधिक उन्नत जीवन पद्धति के लिये योग की ओर देखने लगे हैं।

आज लोग योग के लिये तैयार हो गये हैं तथा यौगिक संस्कृति की पुनर्स्थापना का समय आ गया है। आत्मानुभूति से युक्त अनेक महापुरुष

आज लोगों के बीच भ्रमण कर रहे हैं तथा सम्पूर्ण विश्व में योगाश्रमों एवं योग केन्द्रों की स्थापना करके योग को सर्वसुलभ बनाने का प्रयास कर रहे हैं।

इस प्रकार आज हम एक महान् यौगिक पुनर्जागरण के प्रारम्भ का दर्शन कर रहे हैं। हम मानव जाति की विकास-यात्रा में एक लम्बी अग्रवर्ती कूद की तैयारी कर रहे हैं। शीघ्र ही लोग सर्वत्र योग का अभ्यास करने लगेंगे, और जो अभ्यास नहीं भी करेंगे वे इसके बारे में कुछ-न-कुछ अवश्य जानेंगे। निकट भविष्य में ही गुरुपूर्णिमा एक अन्तर्राष्ट्रीय त्योहार बन जायेगा। पुरुष, स्त्री और बच्चे स्वयं को गुरु एवं भावी यौगिक संस्कृति के प्रति समर्पित करने हेतु सर्वत्र एकत्र होंगे।

शिष्य को पत्र

गुरु-शिष्य परम्परा में जो गुप्त अभ्यास निर्दिष्ट किये गये हैं वे प्रकट नहीं किये जाते और न पुस्तकों में लिखे जाते हैं। आप इसे जानते हैं; फिर भी मैं दोहरा रहा हूँ। जब तक क्रिया और ध्यान में पूर्णता प्राप्त न हो जाये तब तक सामान्यत: गुप्त अभ्यास प्रदान नहीं किये जाते। इन्हें प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधकों को सतर्कतापूर्वक नियमों का पालन करना चाहिये।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध में पारस्परिक आस्था, सहयोग, आत्म-त्याग और सहिष्णुता आवश्यक है, क्योंकि यह परम्परा पवित्र है और कल्याणकारी भी। मेरी परम्परा आदि शंकराचार्य की परम्परा है। अत: हम ऐसे बन्धनों से बँधे हुए हैं कि हम सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से अभिमन्त्रित हैं।

अपरिहार्य उपादान

प्राय: सभी लोगों के लिये गुरु की नितान्त आवश्यकता है। हाँ, इतिहास में इने-गिने कुछ ऐसे लोग भी हुए हैं जिनके गुरु नहीं थे। रमण महर्षि के कभी कोई गुरु नहीं थे, किन्तु हम रमण महर्षि नहीं हैं। हम अपूर्ण हैं। हमारे शरीर, मन और इन्द्रियाँ भ्रमित हैं। हमारे सामने अनेक मार्ग हैं और हम नहीं जानते कि किस पर चला जाए। हमें परिवहन पुलिस पदाधिकारी जैसे किसी व्यक्ति की आवश्यकता है जो कहे कि 'इधर से जाइये, धीरे जाइये, अब रुकिये, अब जाइये।'

गुरु के अभाव में प्राय: यह होता है कि लोग पुस्तकों का अनुकरण करने लगते हैं। उनमें विभिन्न प्रकार के योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों एवं लाभों का वर्णन रहता है। तदनुसार वे निर्णय करते हैं कि उन्हें किस मार्ग पर चलना है। वे तब तक अभ्यास जारी रखते हैं जब तक कि कुछ अनुभव न प्राप्त हो जाये। जब तक सुखद अनुभव मिलता रहता है, अभ्यास करते रहते हैं। किन्तु कोई डरावना अनुभव होते ही या कोई सुखद अनुभव होने पर भी, जिसे कि वे नहीं समझ पाते, योगाभ्यास बन्द कर देते हैं।

बहुत से लोग दावा करते हैं कि उन्हें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त है और इसीलिये सोचते हैं कि उन्हें गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है। जब आप स्कूल में पढ़ते थे तो पुस्तकों का उपयोग करते थे। इसके बावजूद अनेक बातों को स्पष्ट करने के लिये आपको शिक्षक की आवश्यकता होती थी। इसी प्रकार आप पुस्तकों से योग सीख सकते हैं। आप अपने लिये एक उपयुक्त साधना का चयन भी कर सकते हैं, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में कुछ समय तक भटकने के बाद आप पाएँगे कि आप आगे बढ़ने में सफल नहीं हो रहे हैं। इस अवस्था में आपको किसी गुरु से

दीक्षा और निर्देश प्राप्त करने की सलाह दी जाती है। तदनुसार एक उपयुक्त साधना का अभ्यास करने से आपका विकास होता है। गुरु आपके लिये प्रकाश का काम करते हैं।

गुरु प्राप्त करने के लिये आपको या तो उनकी खोज करनी पड़ती है या उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी होती है। कुछ लोग एक पर्वत, तस्वीर या प्रतिमा को अपना गुरु बना लेते हैं, किन्तु सामान्यत: मानव शरीरधारी गुरु से सम्पर्क स्थापित करना अधिक सहज होता है। तथापि एक सच्चे गुरु को शारीरिक अर्थ में पारिभाषित नहीं किया जा सकता है। वास्तव में जब आपको गुरु की आवश्यकता महसूस होती है तो आप उसी व्यक्ति की खोज करते हैं जो आन्तरिक मार्गदर्शक से आपका साक्षात्कार करा सके। वही आन्तरिक मार्गदर्शक आपकी अन्तरात्मा से संचार स्थापित करता है। सतही स्तर से गुरु का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

गुरु प्राप्त करना तथा सदा के लिये उनसे जुड़ा रहना कठिन है। जिस प्रकार पारस्परिक समझदारी और संवाद की विफलता के कारण आधुनिक जीवन में बड़े पैमाने पर दम्पत्तियों के बीच एक-दूसरे का त्याग होता है उसी प्रकार इसी विफलता के कारण शिष्य भी अपने गुरुओं का त्याग करते हैं। अत: गुरु की खोज के पूर्व यह आवश्यक है कि एक लम्बी अवधि तक आध्यात्मिक अभ्यासों द्वारा स्वयं को तैयार करें एवं अपने ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार करें। अपने को आध्यात्मिक दृष्टि से परिपक्व बनाइये। तब आपके द्वारा गुरु का चयन दोषरहित होगा तथा आपके बीच का सम्बन्ध निश्चित रूप से सफल होगा।

बहुत महान् गुरु की खोज में मत भटकिये। एक शिष्य को आत्मपरीक्षण करना चाहिये तथा यह समझना चाहिये कि आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी क्या अवस्था है। अपनी अवस्था के अनुसार ही उसे गुरु का चयन करना चाहिये। यदि प्राथमिक पाठशाला का एक बच्चा किसी विश्वविद्यालय प्राध्यापक से पढ़ना चाहे तो वे उसे कुछ नहीं पढ़ा सकेंगे और न वह बच्चा ही कुछ सीख सकेगा।

जब आप दीक्षा लेते हैं तो गुरु कोई साधारण अभ्यास बताते हैं। उसका अभ्यास नियमित रूप से होना चाहिये। यह नियमितता उच्चतर योग का आधार है। गुरु आपसे कह सकते हैं कि प्रतिदिन सिर्फ पाँच या दस मिनट तक मन्त्र का जप कीजिये। प्रारम्भ में यह आपको बहुत मामूली बात लग

सकती है, किन्तु आपकी परीक्षा तो अभ्यास को नियमित रूप से जारी रखने में है। अनेक शिष्य अनावश्यक बातचीत और कार्यों में घण्टों बिता देते हैं, किन्तु कुछ सहज आसन-प्राणायाम एवं मन्त्र के लिये सुबह या शाम में सिर्फ पाँच मिनट समय निकालना भी उनके लिये कठिन होता है। एक शिष्य के जीवन में नियमितता ही साधना और आध्यात्मिक प्रशिक्षण है।

हम जो दीक्षा लेते हैं वह शिष्यत्व की ऐच्छिक स्वीकृति है। शिष्य चाहे संन्यासी हो या गृहस्थ, उसे गुरु के मिशन एवं पूर्णता की प्राप्ति के प्रति पूर्णतया समर्पित होना चाहिये। समर्पण भाव को विकसित करने के लिये शिष्य को अधिकाधिक समय गुरु के सान्निध्य में बिताना चाहिये। गुरु के निकट जाने या आश्रम में निवास करने से वे आपको ठीक से पहचान सकते हैं तथा बता सकते हैं कि वे आपसे किस प्रकार के आचार-व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। वे आपसे कड़ी धूप में कठोर परिश्रम करने के लिये कह सकते हैं, किन्तु यह सिर्फ आपकी निष्ठा की परीक्षा के लिये है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु आपको अनन्त सत्ता के करीब लाने का प्रयास कर रहे हैं।

शिष्य कभी-कभी विचलित हो जाते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि गुरु उन्हें सजा दे रहे हैं या उनकी अवहेलना कर रहे हैं या उन पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। ज्योंही आप गुरु को स्वीकार करते हैं, वे आपको समझना प्रारम्भ कर देते हैं। किन्तु आध्यात्मिक मार्ग एवं गुरु के मार्गदर्शन का अनुकरण आप किस गम्भीरता और गहराई से करना चाहते हैं? अपने आध्यात्मिक जीवन के साथ आप कितनी निष्ठा के साथ आगे बढ़ना चाहते हैं? आपकी आध्यात्मिक प्रगति के लिये गुरु किसी भी पद्धति का उपयोग कर सकते हैं, यद्यपि यह आपको बहुत कठिन और कठोर मालूम पड़ सकता है।

निष्ठावान, सही सोच से युक्त तथा प्रकाश के मार्ग पर गहराई में उतरने को तत्पर शिष्य को ही अनुशासित जीवन प्राप्त होता है। गुरु जो कुछ भी, जैसे भी सिखाते हैं, चाहे वह कठिन या कठोर ही क्यों न हो, वह उसे स्वीकार करता है। किन्तु जिस शिष्य के मन में इन समस्त बातों के प्रति गलतफहमी होती है वह सोचता है कि "मैंने गलत व्यक्ति को अपना गुरु बना लिया। यह व्यक्ति मुझे पसन्द नहीं करता; यह मुझे परेशान करना चाहता है।" आपको यह समझना चाहिये कि गुरु कदापि गलत नहीं हो सकते, क्योंकि वास्तव में सब कुछ आपके अन्दर है। उनके साथ आपका सम्बन्ध आपकी अपनी धारणा

और विश्वास पर आधारित है। ज्यों-ज्यों गुरु में आपका विश्वास अधिक गहरा होता जाता है, आपकी आध्यात्मिक प्रगति भी बढ़ती जाती है।

बहुत से लोग किसी को भी अपना गुरु नहीं बनाना चाहते हैं, क्योंकि वे समर्पण करने से डरते हैं। किन्तु समर्पण से आप कुछ खोते नहीं, बल्कि सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। जब आप स्वयं को गुरु को समर्पित करते हैं तो प्रारम्भ में अपने को उनसे बँधा हुआ अनुभव कर सकते हैं। किन्तु यह आपकी जीवन पद्धति पर एक मामूली-सा नियन्त्रण है, जिससे अत्यधिक लाभ मिलते हैं। एक बार गुरु के प्रति पूर्णतया समर्पित होने के बाद आप एक पक्षी के समान उन्मुक्त हो जाते हैं, आप कहीं भी जा सकते हैं और कुछ भी कर सकते हैं। अत: समर्पण से भयभीत मत होइये; स्वयं को प्रतिबद्ध कीजिये और अनन्त की अनुभूति प्राप्त कीजिये।

यदि आप स्वयं को नदी के समान विनम्र और मुक्त बना दें तो आप प्रवाहित होते हुए निश्चय ही समुद्र तक पहुँच जायेंगे। चाहे आपका मार्ग जंगल, पहाड़ या चट्टानों से होकर ही क्यों न गुजरे, आपका प्रवाह अनवरुद्ध आगे बढ़ता जायेगा। प्रारम्भ में नदी की धारा पतली मालूम पड़ सकती है, किन्तु अन्तत: यह आपको विशाल, खुले समुद्र तक अवश्य पहुँचा देगी।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध आजकल के लिये या सिर्फ इस जीवन के लिये ही नहीं है। यह सतत् जारी रहता है; क्योंकि आपका विकास मात्र एक दिन में सम्पन्न नहीं होता। आपके प्रशिक्षण की अवधि में आपका व्यवहार कितना भी बुरा क्यों न हो, यह बात महत्त्वहीन है, क्योंकि आप अपने गुरु के लिये सदैव एक शिष्य हैं। आप हजारों या लाखों के गुरु हो सकते हैं, तथापि आपके गुरु को आपका मार्गदर्शन करना होगा। आप इस बात को कभी भी न भूलें। कभी-कभी अज्ञानवश जीवन की प्रकाशमय प्रमुदित घड़ियों में बादल छा जाते हैं। यदि आपका मन अज्ञान, कमजोरियों और मूर्खतापूर्ण विचारों से आच्छादित है तो आप कदापि सही और सन्तुलित नहीं रह सकते। केवल एक गलती से आपका पूर्ण पतन हो सकता है और आपके लिये अपना सिर उठाना मुश्किल हो सकता है। और तब गुरु की सहायता अनिवार्य हो जाती है। अपने सम्बन्धों के प्रारम्भ में ऐसा अवसर न आने दीजिये। यह आपके जीवन की सर्वश्रेष्ठ निधि है।

प्रत्येक व्यक्ति को एक गुरु की आवश्यकता है। गुरु एक बदनाम व्यक्ति हो या सन्त, शिष्य उनके प्रति सदैव प्रेम और श्रद्धा का भाव रखता है। गुरु

उसका जीवन है। वे सुन्दर हों या कुरूप, दयालु हों या हमेशा आपको गाली देते रहें, वे आपके गुरु ही हैं। गुरु के बिना कोई रास्ता नहीं मिल सकता। यह आवश्यक नहीं है कि गुरु आपको क्रियायोग और तन्त्र का अभ्यास सिखाएँ। यदि उन्होंने आपको एक शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है तो वही प्रकाश है। इस शिष्यत्व के माध्यम से आपका विकास होता है और आप अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं है, आप प्रयास करके तो देखिये। गुरु के बिना जीवन अपूर्ण है। जीवन में पूर्णता की अनुभूति प्राप्त करने के लिये हृदय या आत्मा को एक अन्य आधार चाहिये और वह आधार है गुरु-शिष्य सम्बन्ध। वह सम्बन्ध शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तरों से बिल्कुल परे है। किसी अन्य व्यक्ति से आपने जिस प्रेम का अनुभव किया है, उससे इस सम्बन्ध का कोई साम्य नहीं है। गुरु और शिष्य भौतिक या भावनात्मक बातों को महत्त्व नहीं देते; उनके लिये तो सिर्फ गहन और अतीन्द्रिय तथ्यों का ही महत्त्व है।

जहाँ तक गुरु और शिष्य का सम्बन्ध है, एक ही आत्मा दो शरीरों में निवास करती है। आध्यात्मिक स्तर पर प्रत्येक एक-दूसरे के प्रति सजग है। यहाँ बाह्य संचार आवश्यक नहीं रह जाता, क्योंकि अब उस स्तर पर कार्य नहीं करता जहाँ उसे गुरु की शारीरिक उपस्थिति की आवश्यकता हो। उसके अन्दर तो गुरु की आत्मा निवास करती है जो उसके अस्तित्व के अन्धकारमय क्षेत्र को प्रकाशित करती है। ऐसी स्थिति में उनसे बातें करने या उनका चेहरा देखने की क्या आवश्यकता रह जाती है?

जैसा कि कबीर ने कहा है, "यदि आपका प्रेमी विदेश में रहता है तो उसे पत्र लिखिये। किन्तु यदि आपका प्रेमी आपके अन्दर निवास करता है तो किसी गति, भावना या सहवास का प्रश्न भी नहीं उठता। जहाँ कहीं भी आप हैं, आप सदैव एक दूसरे के निकट हैं।"

मानव जाति द्वारा अब तक ज्ञात समस्त प्रकार के सम्बन्धों में गुरु-शिष्य सम्बन्ध सर्वाधिक टिकाऊ है। यह अनुभवों और भावनाओं से परे है और मृत्यु के बाद भी अबुद्धिवादी ढंग से कार्य करता रहता है। भय, वासना और बाध्यता से नियन्त्रित व्यक्ति इसके क्रिया-कलापों को नहीं समझ सकता, क्योंकि यह उसकी आत्मा को विकास की ऊँचाई की ओर अभिप्रेरित करता है।

गुरु की भूमिका

गुरु हम सभी के भीतर निवास करते हैं। उस गुरु को आन्तरिक गुरु या सद्गुरु कहते हैं और अन्तत: हममें से प्रत्येक के अन्दर निवास करने वाले गुरु के अलावा अन्य कोई गुरु नहीं होते। यही सत्य है। किन्तु दुर्भाग्यवश सत्य और यथार्थता के बीच सदैव भेद बना रहता है।

यह विश्वास कर लेना पर्याप्त नहीं होता कि गुरु हमेशा हमारे अन्दर ही रहते हैं। यह विश्वास एक बौद्धिक अवधारणा से अधिक और कुछ नहीं हो पाता। अर्थात् यह अवधारणा सिर्फ मन की एक प्रतिकृति का रूप ले पाती है। यद्यपि कि हमारा मन इस बात को स्वीकार और इसमें विश्वास भी कर लेता है कि गुरु हमारे अन्दर हैं, किन्तु इनसे हमें आवश्यक मार्गदर्शन नहीं मिल पाता, क्योंकि हम में अभी अपने आन्तरिक गुरु को खोज निकालने की क्षमता नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ में शक्ति निहित है। किन्तु उसकी प्राकृतिक अवस्था में आप उसके अन्दर की शक्ति को ढूँढ़कर उसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। एक निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही उस पदार्थ से शक्ति मुक्त होगी। तभी इसे एकत्र कर उपयोग में लाया जा सकता है। अत: समस्या यह है कि हम अपने आन्तरिक गुरु को किस प्रकार मुक्त और अभिव्यक्त करें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही हम साधना करते हैं। इन अभ्यासों के द्वारा हम एक ऐसी अवस्था उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं जिसमें आन्तरिक गुरु प्रकट हो सकें। इसीलिये हमारे प्रथम गुरु वे होते हैं जिन्हें हम देख सकते हैं, समझ सकते हैं, जिनकी भाषा हमारी बौद्धिक पकड़ के अन्दर होती है। वे हमें अपने सद्गुरु तक पहुँचने का मार्ग दिखाते हैं।

उपयुक्त अभ्यासों का चयन

उपयुक्त अभ्यासों के चयन में हमारी सहायता इस प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है। हम विभिन्न प्रकार के इतने अधिक अभ्यासों को सीख लेते हैं कि भ्रमित हो जाते हैं और यह निर्णय नहीं ले पाते हैं कि अपने आध्यात्मिक जीवन में उनका उपयोग किस प्रकार करें। यदि आप किसी दुकान में जाते हैं तो यह कैसे जानते हैं कि आपको क्या खरीदना है? आप दुकान की प्रत्येक चीज को देखते हैं तथा उन सबों को खरीदना चाहते हैं। आन्तरिक जीवन के दरवाजे को खोलने की सैंकड़ों तकनीकें हैं। और जब आप उनके बारे में पढ़ते हैं तो वे सभी आकर्षक और प्रभावोत्पादक लगती हैं। अत: एक निष्ठावान, सच्चे साधक के लिये गुरु से सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। सिर्फ गुरु को ही प्रत्येक अभ्यास का पूर्ण ज्ञान होता है। वे ही साधक के लिये उन अभ्यासों का चयन कर सकते हैं जिन्हें वह स्वीकार और आत्मसात् कर सके।

गुरु के ज्ञान से उसे प्राचीन शास्त्रीय तकनीकों को वर्तमान काल की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में मदद मिलती है। मन, बुद्धि और भावना की संरचना स्थायी नहीं होती। काल विशेष की विशिष्टताओं के कारण इसमें भिन्नता आ जाती है, प्रत्येक शताब्दी के बीतने और प्रत्येक बड़े राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक तथा आर्थिक परिवर्तन के साथ यह बदल जाती है। एक सौ वर्ष पहले जो पढ़ाया गया वह सही हो सकता है, तथापि वह आज के सन्दर्भ में उपयुक्त नहीं भी हो सकता है। पूर्व में सिखायी गई तकनीकें तत्कालीन संस्कृति, समाज और मानव मन के लिये उपयुक्त थीं। अत: प्रत्येक पीढ़ी में अपने शिष्यों के लिये योगाभ्यास का चयन करने तथा उन्हें उनके अनुकूल बनाने में गुरु महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भावनात्मक आवश्यकताएँ

गुरु की भूमिका तकनीकों के स्तर से बहुत आगे तक जाती है। इसका प्रवेश भावनाओं के सूक्ष्म क्षेत्रों में भी होता है। अपनी भावनात्मक संतुष्टि के लिये मनुष्य को अनेक चीजों की आवश्यकता होती है। इन भावनात्मक आवश्यकताओं की प्रकृति और परिणाम विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न होते हैं। हमारी आन्तरिक सजगता के विकास के लिये इन आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। अन्यथा हमारे अन्दर भावनात्मक अवरोध उत्पन्न हो जायेगा। उदाहरण के लिये, अनेक लोग सन्तान के इच्छुक होते हैं, या अन्य प्रकार का

भावनात्मक और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। इन सम्बन्धों का हमारे भावनात्मक स्वरूप और विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। और अन्तत: वे उन अवरोधों को निकाल बाहर करते हैं जो हमारी आध्यात्मिक सजगता के विकास को अवरुद्ध करते हैं।

गुरु के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं में से एक है, किन्तु इस आवश्यकता का अनुभव विकास के एक निश्चित स्तर पर ही होता है। शारीरिक एवं भावनात्मक सीमाओं के कारण पाँच वर्ष के एक बच्चे को कामवासना की पूर्ति की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु अठारह वर्ष का होने पर जीवन विज्ञान की इन सीमाओं को पार कर जाता है और यौन आवश्यकता के प्रति सजग हो जाता है। इसी प्रकार संसार में बहुत से ऐसे लोग हैं जो अनुभव करते हैं कि उन्हें गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कभी यह सोचते ही नहीं कि जीवन में एक गुरु होना चाहिये या नहीं, क्योंकि वे विकास के इसी स्तर तक पहुँचे हैं। और आगे विकास के एक विशेष स्तर पर पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक या आत्मिक विकास होने पर व्यक्ति गुरु की आवश्यकता महसूस करने लगता है और तब उसके लिये यह सम्बन्ध आवश्यक हो जाता है।

एक मार्गदर्शक

इन भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा गुरु को एक अन्य भूमिका भी निभानी पड़ती है। आन्तरिक जीवन के अज्ञात अन्तरिक्ष में वे मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। आन्तरिक जीवन एक भटकावपूर्ण जीवन है। यह एक अनन्त आकाश के सदृश है जहाँ दिशाएँ या कोई मार्गदर्शक संकेत नहीं है। वहाँ दायें-बायें, पूरब-पश्चिम और ऊपर-नीचे की कोई अवधारणा नहीं है। इस अनन्त अन्तरिक्ष में अपना मार्ग ढूँढ़ना हवाईपट्टी के नियन्त्रण टावर के निर्देश के बिना रात्रि में वायुयान उड़ाने के सदृश है। चालक को प्रत्येक दिशा एक समान दिखाई पड़ती है। आन्तरिक आकाश में प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के साथ यह बात सत्य है। यह अनन्त है और अनेक लोग वहाँ खो जाते हैं।

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन के बारे में सोचना आपको आनन्ददायक लगता है तथा इसका विचार ही बहुत उत्साहवर्द्धक और प्रेरक मालूम पड़ता है। लेकिन मैं आपको स्पष्ट रूप से कह दूँ कि यह

वैसा नहीं है जैसा कि आप सोचते हैं। लोग कुण्डलिनी जागरण के बारे में इतने सामान्य ढंग से बातें करते हैं कि मानो यह नशीले पदार्थ की खुराक हो। समाधि के बारे में बातें करना बहुत आसान है, किन्तु अपनी सजगता की वर्तमान अवस्था में हम इसे नहीं समझ सकते। उस अवस्था को प्राप्त करने के बाद ही हम जान सकते हैं कि वह क्या है। उन लोगों को जिन्हें इस मार्ग का ज्ञान नहीं है इसे पाने के प्रयास में बहुत कठिनाई होती है।

किन्तु यदि आपके सामने सदैव एक प्रकाश रहे तो आपको पता लग जाता है कि किधर जाना है। गुरु यह प्रकाश प्रदान करते हैं। सजगता के इस विशेष स्तर पर प्रत्येक साधक के अन्दर गुरु के लिये एक बलवती इच्छा उत्पन्न होती है। उस अवस्था में गुरु उसके लिये मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। वे एक प्रकाश और एक दिशा प्रदान करते हैं। इसके बिना सब-कुछ शून्य रहता है; कोई विकास, अनुभव या ज्ञान नहीं हो सकता है।

गुरु आज्ञा चक्र के माध्यम से कार्य करते हुए मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। इस बात को समझने के लिये हमें बोध की प्रकृति को समझना होगा। बोध एक आन्तरिक चीज है। यदि आप अभी मुझे यहाँ देख रहे हैं तो इसका बोध आपके बाहर नहीं, बल्कि अन्दर में हो रहा है। समझने वाला और जानने वाला अन्दर में है। न तो आँखें देखती हैं और न कान सुनते हैं। हमारे समस्त बोध, समझदारी और अनुभव हमारे अन्दर घटित होते हैं। वास्तव में समस्त ज्ञान और समस्त बोध एक अन्तर्बिन्दु से प्रकट होते हैं। वह बिन्दु गुरु का भी केन्द्र है, जिसे गुरु चक्र या आज्ञाचक्र कहते हैं। आज्ञा का तात्पर्य 'आदेश, निर्देश या नियन्त्रण' से है। चाहे वे हमारे शरीर में उत्पन्न हों या मन में, हमारे बाहर से आयें या भीतर से, हम जो भी नियन्त्रण, निर्देश, पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं, वे आज्ञाचक्र से गुजरते हैं। अत: इस आज्ञाचक्र रूपी नियन्त्रण तन्त्र के माध्यम से गुरु के लिये शिष्य को प्रत्यक्ष मार्गदर्शन प्रदान करना सम्भव होता है।

ज्ञान के साधनों का रूपान्तरण

शिष्य सजगता की इस प्रक्रिया से प्राय: अनभिज्ञ रहता है, क्योंकि सामान्यत: पाँच स्थूल इन्द्रियाँ ही उसके बोध का स्रोत होती हैं। किन्तु हमारी इन पाँचों इन्द्रियों की भी सीमाएँ हैं और ज्ञान के ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनके सन्दर्भ में ये हमारी सहायक नहीं हो सकती हैं। हम गुरु को उनकी सम्पूर्णता में नहीं देख सकते हैं। जब तक हमारे बोध के साधन हमारी इन्द्रियों तक सीमित हैं, हम

अपने गुरु के सिर्फ भौतिक शरीर को ही समझ सकेंगे। किन्तु गुरु शरीर से बहुत अधिक और बहुत ऊँचे होते हैं। वे श्रेष्ठतर, उच्चतर, अभौतिक शरीरों में भी रहते हैं। और इन दो शरीरों द्वारा ही वे हमारा मार्गदर्शन करते हैं। किन्तु इन बातों को समझने के लिये हमें अपने बोध के साधनों में परिवर्तन लाना होगा। और अन्ततः हमें गुरु के भौतिक पक्ष को नहीं, बल्कि उनके आध्यात्मिक पहलू को समझना होगा।

यदि आप किसी मूर्ख व्यक्ति को एक बिना तराशा हुआ हीरा दें तो वह क्या करेगा? यदि उसे पैसे की आवश्यकता होगी तो वह उसे एक कीमती पत्थर के रूप में बाजार में बेच देगा। वह गलती नहीं कर रहा है, क्योंकि हीरा निश्चित रूप से एक पत्थर ही है। किन्तु अपनी सीमित समझदारी के कारण वह हीरे के सिर्फ एक पहलू को ही समझ रहा है। लेकिन यदि आप वही पत्थर एक हीरा साज को देंगे तो वह उसे सिर्फ एक पत्थर नहीं समझेगा, क्योंकि उसमें उसके गुणों को पहचाने की क्षमता है।

बोध की यह भिन्नता क्यों उत्पन्न होती है? इसका कारण यह है कि हमारे बोध के उपकरण भिन्न-भिन्न मात्रा में परिष्कृत होते हैं और हम सिर्फ वहीं तक देख और समझ सकते हैं। जहाँ तक ये उपकरण हमारी सहायता करते हैं। यदि वे अपरिष्कृत हैं तो उनके माध्यम से प्राप्त ज्ञान भी अपरिष्कृत होगा और यदि वे परिष्कृत हैं तो उनके द्वारा संचारित ज्ञान भी परिष्कृत होगा। गुरु से सम्बन्धित ज्ञान के साथ भी यह बात लागू होती है। अतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात जो हमें सीखनी है वह यह है कि हम अपने बोध के उपकरणों का परिष्कार कैसे करें। उनका परिष्कार करने के बाद हम पायेंगे कि हमने बोध के उन केन्द्रों को खोल दिया है जो शारीरिक इन्द्रियों के क्षेत्र से बिल्कुल परे हैं। हम स्वयं देखेंगे कि गुरु सजगता के विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न रूप या ढंग से स्थित हैं। और जब गुरु द्वारा सिखायी गयी यौगिक तकनीकों द्वारा हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व शुद्ध और परिमार्जित हो जायेगा तो हमारे अपने सद्गुरु प्रकट होंगे।

दो प्रकार के सम्बन्ध

गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त करने के पूर्व हमें उनसे एक सम्बन्ध स्थापित करना होगा और अन्ततः इस सम्बन्ध को बहुत गहरा बनाना होगा। शिष्य के जीवन में यह सम्बन्ध यथासम्भव बहुत पहले ही स्थापित हो जाना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के पास एक आध्यात्मिक मन और व्यक्तित्व होता है। ये

वास्तव में दैवी प्रकृति के होते हैं और व्यक्तित्व के इन अंशों को अन्य लोगों से सम्बन्धित करना या किसी अन्य प्रकार से अभिव्यक्त करना कठिन है।

गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध एक पूर्ण सम्बन्ध होता है। अन्य समस्त सम्बन्ध आंशिक और असंतुलित होते हैं। एक बार यह सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद गुरु के प्रति आपकी सजगता आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त हो जायेगी। जब आप आँखें बन्द करेंगे तो वे आपके निकट होंगे और जब आप उन्हें खोलेंगे तब भी उन्हें अपने निकट पायेंगे।

गुरु के साथ दो प्रकार का सम्बन्ध विकसित किया जा सकता है। एक है भक्तिपूर्ण और दूसरा दोषपूर्ण। भक्तिपूर्ण सम्बन्ध होने पर आप अपने गुरु के प्रति सकारात्मक भाव रखते हैं। किन्तु द्वेषपूर्ण सम्बन्ध रहने पर आप हमेशा उनमें दोष देखने की कोशिश करते हैं। मेरे अनेक शिष्यों का मेरे साथ द्वेषपूर्ण सम्बन्ध है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में वे बहुत अच्छी प्रगति करते हैं, क्योंकि उनकी चेतना स्थिर, सतत् और शान्त बनी रहती है। गुरु के प्रति उनके भाव का प्रवाह नकारात्मक होते हुए भी सदैव तीव्र बना रहता है। ऐसे अनेक लोग हैं जो मेरे साथ पिछले पाँच, दस या बीस वर्षों से रह रहे हैं और अभी भी मुझे पसन्द नहीं करते हैं। किन्तु मेरे प्रति उनका समर्पण आन्तरिक है, बाह्य नहीं। इस प्रकार का द्वेषपूर्ण सम्बन्ध एक असामान्य बात है तथा इसका अभ्यास करना बड़ा कठिन है। अधिक सामान्य स्थिति यह है कि शिष्य के मन में गुरु के प्रति सकारात्मक भाव होते हैं। ये भाव कभी-कभी बहुत प्रबल होते हैं, कभी शिथिल और कभी अतिशिथिल। किन्तु चाहे यह भक्तिपूर्ण हो या द्वेषपूर्ण, गुरु-शिष्य सम्बन्ध अवश्य विकसित होना चाहिये। तभी गुरु हमारे अस्तित्व का स्थिर और स्थायी केन्द्र बन सकेंगे।

अहंकार का उन्मूलन

एक बार गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद उसे अवश्य क्रियाशील होने दें। और इस बात के साथ ही हम अहंकार के प्रश्न से जुड़ जाते हैं। यदि मेरे और आपके बीच लौह दीवार होगी तो आप कितना भी योगाभ्यास करें, कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारा सम्बन्ध निष्क्रिय बना रहेगा। यदि आप अहंकार ग्रस्त हैं तो आप गुरु नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर अहंकार है। कभी तो यह स्थूल रूप में रहता है और कभी सूक्ष्म रूप में।

हमारे अन्दर अहंकार क्यों है? इसलिए कि हम अपने आप को खोना नहीं चाहते हैं। हम अपनी पहचान, अपनी हस्ती बनाये रखना चाहते हैं। हम जो हैं वही बने रहना चाहते हैं, बदलना नहीं चाहते। प्रत्येक मनुष्य में ऐसी भावना होती है। यह असुरक्षा और भय का लक्षण है। यदि आप वायुयान या रेलगाड़ी से यात्रा करते हैं तो आप किसी व्यक्ति को तब तक भाड़ा नहीं देते जब तक कि यह जान नहीं लेते हैं कि वह कौन है, क्योंकि किसी प्रकार की हानि से बचना चाहते हैं। अत: मनुष्य अपने अहंकार को खोना नहीं चाहता है, क्योंकि वह असुरक्षित है। लेकिन असुरक्षा के विचार को दूर भगाते ही आप निर्भय हो जाते हैं। और यदि आप निर्भय हैं तो स्वत: अहंकारहीन हो जाते हैं। इस स्थिति को प्राप्त करने के दो तरीके हैं। एक उपाय यह है कि आप सर्वप्रथम अपने अहंकार का समर्पण करें और तब निर्भय तथा सुरक्षित हो जायें। दूसरा तरीका यह है कि आप निर्भयता का अभ्यास करें, अपने को सदैव सुरक्षित अनुभव करें। तब अपेक्षाकृत कम समय में ही आप पायेंगे कि आपका अहंकार अपने आप घट गया है।

भारत में शिष्य अपने गुरु के निकट नारियल, फूल, मिठाई और मुद्रा लेकर जाता है। ये वस्तुएँ अहंकार एवं उसके विभिन्न रूपों का प्रतीक हैं। अहंकार आपके विचारों और भावनाओं, क्रियाकलापों एवं उपलब्धियों तथा आपके द्वारा अर्जित धन में निहित होता है। नारियल आपके सिर का, फूल हृदय का, मिठाई इच्छाओं का तथा मुद्रा धन-सम्पत्ति के प्रति आपकी आसक्ति का प्रतीक है। अत: यदि आपके कोई गुरु हैं तो उन्हें अपना अहंकार समर्पित कर दीजिये। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आप दोनों के बीच सदैव संघर्ष चलता रहेगा, ठीक उसी प्रकार जैसा कि पति-पत्नी के बीच चलता है। दो अहंकार एक साथ नहीं रह सकते, अत: सिर्फ एक को ही रहने दीजिये। तब आपके आध्यात्मिक जीवन में एक विशिष्ट घटना घटित हो सकती है। अहंकाररहित शिष्य अपने गुरु की शक्ति, संदेश और जीवन-लक्ष्य का संचालक हो जाता है।

संक्षेप में, एक शिष्य के जीवन में गुरु की सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ भूमिका यह है कि वे उसे असहाय बना दें। तदुपरान्त वे उसे एक लक्ष्य देते हैं जिसका अनुकरण वह अपने आन्तरिक जीवन में करता है। इसके साथ ही वे समय-समय पर योगाभ्यासों के सम्बन्ध में उसका मार्गदर्शन करते हैं। अपने शिष्य को अपरिमित मात्रा में सुरक्षा और निर्भयता का भाव प्रदान करना गुरु की अन्तिम भूमिका है। शताब्दियों से मनुष्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये

संघर्ष करता रहा है। व्यक्तित्व, धर्म, सरकार, सेना और अस्त्र-शस्त्र सभी इसी हेतु हैं। इतिहास में मनुष्य सदा से असुरक्षित रहा है। किन्तु यदि कुछ लोग पूर्णत: निर्भय हो सकें तो वे जीवन के सही अर्थों को समझने में सक्षम हो सकेंगे। गुरु और शिष्य अपने आध्यात्मिक जीवन में इसी समझदारी को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।

शंका समाधान

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के गहनतर पहलू क्या हैं?

पिता-पुत्र, माँ-बेटी, भाई-बहन, पति-पत्नी ये सामाजिक सम्बन्ध हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। सम्बन्धों के कारण ही आप अपने जीवन में किसी वस्तु या व्यक्ति को चाहते या पसन्द करते हैं। पति अपनी पत्नी को चाहता है, माँ अपने बच्चे को और आप धन एवं अन्य अनेक चीजों को, किन्तु गुरु और शिष्य के बीच सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्य सम्बन्धों से यह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में भिन्न है–इसमें विषयासक्ति का पूर्ण अभाव है। यह शारीरिक या भावनात्मक आसक्ति पर आधारित नहीं है। यह न तो रक्त-सम्बन्ध है और न सांसारिक प्रेम ही। गुरु और शिष्य के बीच सिर्फ आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है।

जब गुरु और शिष्य आध्यात्मिक स्तर पर एक दूसरे से मिलते हैं तो वे शिष्य के अधिकांश कर्मों को आत्मसात् कर ले सकते हैं। उच्च आध्यात्मिक अवस्था से युक्त गुरु शिष्य के कर्मों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। किन्तु इनका फल उन्हें नहीं भोगना पड़ता, वे इन्हें दूर फेंक देते हैं। गुरु और शिष्य के बीच आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण घनिष्ठता होने पर ही यह सम्भव है। भौतिक या भावनात्मक सम्बन्ध का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि आँखें बन्द कर ध्यान में बैठते ही आप सम्पूर्ण संसार को भूल जाएँ तथा आपके समक्ष निरन्तर सिर्फ आपके गुरु ही हों। इसे ही आध्यात्मिक स्तर की घनिष्ठता कहते हैं। आँखें बन्द करते ही मैं अपने गुरु को देखता हूँ। यदि आप और आपके गुरु के बीच का सम्बन्ध इतना गहरा हो जाये तो आप उनसे कुछ भी प्राप्त कर सकते हैं, इस अवस्था में कुछ भी असम्भव नहीं है। ऐसा हो सकता है कि आप अपने गुरु से भी अधिक महान् बन जायें। किन्तु यह आसान नहीं है।

मेरे और मेरे गुरु, मेरे और ईश्वर के बीच अनेक अवरोध हैं। ये इतने ऊँचे और मजबूत हैं कि शिष्य उन्हें तोड़ नहीं सकता। यही कारण है कि वे दो मालूम पड़ते हैं, एक नहीं। उनके बीच द्वैतता होती है। आपका अपना व्यक्तित्व और अहंकार होता है। आपकी अपनी अज्ञानता, वासनाएँ और सीमाएँ होती हैं। अपने गुरु तथा उनसे अपने सम्बन्ध पर आपका पूर्ण विश्वास भी नहीं होता। आप गुरु-शिष्य सम्बन्ध के अर्थ और उद्देश्य का अच्छी तरह समझते हैं। फिर भी आप अनेक सन्देहों के घेरे में रहते हैं तथा उन्हें पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं कर पाते। इसका परिणाम स्पष्ट है। बौद्धिक दृष्टि से सब-कुछ समझने के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर एकता और घनिष्ठता स्थापित नहीं हो पाती है।

गुरु और शिष्य का मिलन-स्थल कहाँ है? यह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर नहीं है। वे पूर्ण अन्धकार में, अन्तरतम की अतल गहराई में मिलते हैं जहाँ सब कुछ समाप्त हो गया होता है। वहाँ कोई ध्वनि नहीं सुनाई नहीं पड़ती, कोई रूप और दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते। आप शुभ्र प्रकाश के सदृश चमकते हुए गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी चीज के प्रति सजग नहीं होते। गुरु और शिष्य के बीच इसी प्रकार का तादात्म्य होना चाहिये। यदि मैं आपका गुरु हूँ तो आपके लिये यह कहना आवश्यक नहीं है कि 'वे मेरे गुरु हैं, वे अति विलक्षण हैं। हम एक हैं।' सांसारिक लोगों के लिये प्रशंसा आवश्यक है; हम लोगों के लिये नहीं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध अति गोपनीय हैं और पूर्णतया व्यक्तिगत भी। गुरु के बिना शिष्य भटक जा सकता है, और शिष्यों के बिना गुरु भी।

गुरु शिष्य के मन को किस प्रकार व्यवस्थित करते हैं?

अपने शिष्य के मन और आत्मा का सही दिशा में मार्गदर्शन करना गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्य द्वारा आत्मबोध की प्राप्ति के पूर्व उन्हें उसके व्यक्तित्व से सम्बद्ध अनेक कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि शिष्य अपने मानसिक क्रियाकलापों से अत्यधिक प्रभावित होता है। यदि शिष्य समुचित रूप से विकसित नहीं है तो वह अपनी मानसिक प्रक्रियाओं के प्रति अधिक जागरूक नहीं रहता है। किन्तु यदि वह मेधावी और तीक्ष्ण बुद्धि से युक्त है तो वह अपनी मानसिक अन्त:क्रियाओं के प्रति बहुत अधिक सजग रहता है और इनका उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप बहुत से शिष्य मानसिक संत्रास की अवस्था में जीवन बिताते हैं।

यह एक अति संवेदनशील समस्या है। यदि आप मन को शान्त करने का प्रयास करेंगे तो मानसिक क्षमता में कमी आयेगी। अत: मन के साथ आपका व्यवहार बहुत सतर्कतापूर्ण होना चाहिये। एक शिष्य के जीवन में गुरु की यही भूमिका होती है। यदि गुरु और शिष्य के मन के बीच तादात्म्य हो तो उसका मन उनके लिये कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता। अत: जब तक मानसिक सनक या तरंगे समाप्त नहीं हो जाती तब तक गुरु के साथ सम्बन्ध एक भुलावा या मनबहलाव ही बना रहता है।

गुरु शिष्य की खोज करते हैं या शिष्य गुरु की?

कभी-कभी गुरु के सामने कुछ उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य होते हैं और उन्हें पूरा करने के लिये सुयोग्य शिष्यों की आवश्यकता होती है। तब उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र से आदेश या सन्देश प्राप्त होता है और उसके द्वारा शिष्य प्रकट किये जाते हैं। तदुपरान्त वे उनकी खोज प्रारम्भ करते हैं। जो दृश्य सामने आते हैं वे सदा स्पष्ट नहीं होते। कभी सिर्फ रूप दिखाई पड़ता है, नाम नहीं होता, तथा कभी नाम तो होता है, पर रूप नहीं दिखाई पड़ता। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि शिष्य अपने गुरु के शारीरिक स्वरूप को देखने के पूर्व स्वप्नावस्था में ही उनका दर्शन करे। तब शिष्य स्वप्न के दृश्य के आधार पर अपने गुरु की खोज प्रारम्भ करता है। जब आध्यात्मिक जीवन व्यक्ति का लक्ष्य हो जाता है तो वह गुरु की खोज करने लगता है। उपयुक्त समय आने पर वह गुरु के पास पहुँच जायेगा या गुरु स्वयं उसके पास आ जायेंगे।

गुरु का मार्गदर्शन किस प्रकार हमारा सहायक होता है?

यदि गुरु का मार्गदर्शन शुद्ध प्रकृति का होगा तो शिष्य कदापि विफल नहीं होगा। गुरु की सहायता के सही स्वरूप की समझदारी के अभाव में वह हतोत्साह होकर उनसे दूर भाग सकता है। जब साधना का परिणाम शीघ्रता से शिष्य के सामने नहीं आता या वह रुग्ण हो जाता है तो कभी-कभी ऐसा होता है। गुरु अनेक तरीकों से तथा चेतना के विभिन्न स्तरों पर अपने शिष्यों पर निगरानी रखते हैं, उन्हें निर्देश और चेतावनी देते हैं। विशुद्ध प्रेम और सतत् सजगता के साथ वे सदैव उनका मार्गदर्शन करते रहते हैं। एक माँ सर्वदा अपने बच्चे का ख्याल रखती है, चाहे वह संसार के दूसरे सिरे पर ही क्यों न हो। इसी प्रकार गुरु का मार्गदर्शन निरन्तर आवश्यक होता है और उपलब्ध भी रहता है।

श्रद्धा – एक अपरिमेय शक्ति

मुझसे प्राय: पूछा जाता है कि शिष्य के कर्मों के प्रसंग में गुरु की क्या भूमिका होती है। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर देना कठिन है, क्योंकि सब कुछ उनके सम्बन्धों की गहराई पर निर्भर रहता है। यदि शिष्य स्वयं को पूर्णतया गुरु पर छोड़ देता है तो वे उसकी नियति की बागडोर पूर्णरूपेण सँभाल लेते हैं, किन्तु यदि सम्बन्ध विशेष अभिप्राय और परिवर्तनशील स्वार्थपूर्ण हितों पर आधारित होता है तो गुरु की सहायता प्राप्त होती तो है, लेकिन वे उसकी नियति के बोझ को स्वीकार नहीं करते हैं।

सिर्फ गुरु ही क्यों, इस परिचर्चा में हम ईश्वर को भी समाविष्ट कर सकते हैं। ईश्वर आपकी समस्त बाधाओं और कठिनाईयों को जादू की तरह क्षण भर में दूर कर सकते हैं। यदि आप दृढ़ विश्वास से युक्त होकर तथा मन एवं संवेदनाओं को रोककर गहराई में उतर कर प्रार्थना करें तो आपकी सभी समस्याएँ, चाहे वे कैसी भी हों, अति सहजता से सुलझ सकती है। यह अति सरल प्रक्रिया है, किन्तु लोग ऐसा कर नहीं पाते हैं।

एक बार एक शिष्य के समक्ष गम्भीर समस्या उपस्थित हुई। उसने अपने गुरु से सलाह माँगी। गुरु ने कहा, 'मेरे बच्चे, ईश्वर से प्रार्थना करो, वे अवश्य ही तुम्हारी सहायता करेंगे। किन्तु तुम पाओगे कि तुम्हारे तथा ईश्वरीय सत्ता के बीच अनेक बाधाएँ हैं। उनसे सम्पर्क स्थापित करने के लिये तुम्हें सर्वप्रथम उन बाधाओं को दूर करना होगा।' शिष्य अपने कमरे में जाकर देर रात तक प्रार्थना करता रहा। ठीक मध्य रात्रि में कमरे में उसे एक भयानक डरावनी आवाज सुनाई पड़ी। उसने अनुभव किया कि उसके पीछे एक अनिष्ट-सूचक काली छाया खड़ी है। वह भयभीत होकर कमरे से भाग खड़ा हुआ और बेहोश होकर गिर पड़ा।

ऐसी स्थिति में ईश्वर क्या कर सकते हैं। यदि आपका 'टेलीफोन' और 'टेलीग्राम' उनके पास नहीं पहुँच सकेगा तो उनकी सहायता उपलब्ध नहीं हो सकेगी। जो बात ईश्वर के साथ लागू होती है वही गुरु के साथ भी लागू होती है। यदि आप नम्रतापूर्वक स्वयं को गुरु या ईश्वर को पूर्णत: समर्पित कर दें तो आपकी नियति उनकी नियति हो जायेगी।

भक्ति का अभ्यास

मैं आपसे एक परिहास की चर्चा करना चाहूँगा। अपने देश में संस्कृत में एक प्रार्थना की जाती है जिसमें ईश्वर से कहा जाता है कि "आप ही मेरे माता-पिता हैं, आप ही मेरे भाई और मित्र हैं, आप ही विद्या और धन-सम्पत्ति हैं तथा आप ही मेरे सर्वस्व हैं।" यहाँ जब भी आप किसी मन्दिर में जाते हैं तो जूते बाहर खोलने पड़ते हैं। एक बार कुछ धनी लोग मन्दिर में गये, उन्हें भी मन्दिर के दरवाजे पर जूते खोलने पड़े। वे जब तक मन्दिर में प्रार्थना करते रहे, उनकी एक आँख जूते पर ही लगी रही। "आप ही मेरे माता-पिता हैं, भाई, मित्र और सर्वस्व हैं" चलता रहा और वे जूते की ओर भी देखते रहे। वे क्षणभर के लिये भी अपने को ईश्वर को समर्पित न कर सके। जब तक प्रार्थना चलती रही, उनका मन जूते पर लगा रहा। इस प्रकार भी गुरु और ईश्वर के प्रति भक्ति का अभ्यास किया जाता है।

इसी प्रकार का एक दूसरा मजाक है। वास्तव में ये मजाक नहीं है, यथार्थत: हम ऐसे ही हैं। एक मन्दिर में कुछ लोग देवता की आरती और प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना थी कि "मैं धन-सम्पत्ति, सुख-चैन, वासना की पूर्ति आदि नहीं चाहता हूँ; मुझे तो सिर्फ आपकी कृपा चाहिये।" प्रार्थना करते समय प्राय: भक्तगण देवी-देवता को सिक्के चढ़ाते हैं। कुछ लोग प्रार्थना करते हुए सिक्के चढ़ा रहे थे। एक रुपये का एक सिक्का जमीन पर एक व्यक्ति की बगल में गिर पड़ा। तत्काल उसने उसे अपने पैर से ढक दिया और उस समय वह प्रार्थना कर रहा था कि 'मुझे धन नहीं चाहिये, सम्पत्ति नहीं चाहिये', किन्तु एक रुपये का वह सिक्का चाहिये।

बुद्धि और विश्वास

हमें ईश्वर के प्रति अपने विश्वास और समर्पण का विश्लेषण करना चाहिये। मूसलाधार वर्षा में यदि आप एक थाली और एक काग लगी हुई बोतल रख दें तो

थाली तुरन्त भर जायेगी, किन्तु बोतल खाली ही रहेगी, क्योंकि उसका मुँह काग से बन्द है। गुरु और ईश्वर की कृपा की वर्षा तो प्रत्येक व्यक्ति पर होती रहती है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये आपको खुला और ग्रहणशील होना पड़ेगा। आपको थाली के समान बनना पड़ेगा, न कि काग लगे बोतल के समान।

श्रद्धा से बड़ी कोई शक्ति नहीं है, इसके द्वारा कुछ भी सम्भव है। और क्या आपको मालूम है कि श्रद्धा का सबसे बड़ा शत्रु कौन है? बुद्धि। इन दोनों के बीच कदापि सह-अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। जिसप्रकार किसी एक व्यक्ति की दो पत्नियों के बीच पारस्परिक प्रेम असम्भव है, बुद्धि और विश्वास के साथ भी यही बात लागू होती है; वे एक-दूसरे की सौतन के समान हैं।

प्राय: हम सबके लिये श्रद्धा एक अति भ्रामक विषय है। इसका क्या अर्थ है? सामान्यत: इसका तात्पर्य यह लगाया जाता है कि आप बौद्धिक रूप से किसी बात को स्वीकार करते हैं। किन्तु श्रद्धा का अर्थ इतना ही नहीं है; इससे बहुत अधिक है। संगठित रूप में यह एक उच्च शक्ति है। प्राय: हमारा एक विचार या धारणा होती है और हम गलती से उसे श्रद्धा मान लेते हैं। विचार, धारणा या बुद्धि चूक सकती हैं, किन्तु श्रद्धा अमोघ और अचूक है। ऐसा इसलिये है कि यह मन की अभिव्यक्ति नहीं है। आप मन के द्वारा इसे समझते हैं, किन्तु मन के द्वारा इसे अभिव्यक्त नहीं करते। इसका एक भिन्न स्रोत और एक भिन्न मार्ग होता है।

श्रद्धा विचार से बहुत अधिक गहरी होती है; यह अन्तरात्मा की एक अभिव्यक्ति है। जब आप अपने विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, तो अनेक चीजें, बातें, भावनायें, स्मृतियाँ और इन्द्रियविषय पीछे छूट जाते हैं। आप अनुभूति की एक उच्च अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ मन के एक विशेष क्षेत्र में आने वाली चीजें वास्तविक मालूम पड़ने लगती हैं। यही अनुभूति विश्वास का आधार है।

अपनी श्रद्धा की रक्षा कीजिये

आपने सन्तों, भक्तों एवं चमत्कारी व्यक्तियों की अनेक कहानियाँ पढ़ी होंगी। उनके जीवन में ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिनका मानवीय ज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण नहीं किया जा सकता। ऐसा श्रद्धा के कारण हुआ है। अत: आपको अपनी श्रद्धा की रक्षा करनी है। आपको सतर्कतापूर्वक इसकी रक्षा करनी है, क्योंकि बुद्धि और तर्क श्रद्धा की हत्या कर देते हैं। किन्तु यदि

श्रद्धा और बुद्धि के भेद को ठीक से समझा जाय तो अपनी-अपनी दिशाओं में दोनों के साथ-साथ विकास हो सकता है।

श्रद्धा की रक्षा करने, इसे बढ़ने और अधिक गहराई से अनुभव करने के लिये भक्त और भगवान या गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सर्वोत्कृष्ट साधन है। किन्तु यह सम्बन्ध पूर्ण जीवन्त श्रद्धा पर आधारित होना चाहिये। आपको विश्वास करना होगा, ठीक वैसे ही जैसे कि आप अपनी माँ में विश्वास करते हैं। आप कैसे जानते हैं कि वे आपकी माँ हैं? यह श्रद्धा की बात है। इसी प्रकार आपको ईश्वर और गुरु में भी श्रद्धा करनी होगी।

प्राय: हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। उनसे प्रेम करते हैं, उनकी पूजा करते हैं तथा उनमें सम्मान रखते हैं। किन्तु परिणाम कुछ होता नहीं। क्यों? इसलिए कि यह तो श्रद्धा पर निर्भर रहता है। हमने प्रेम, पूजा, श्रद्धा जैसी अच्छी बातें अपने माता-पिता से सीखी हैं। किन्तु ये हमारे जीवन्त अनुभव नहीं बन पाये हैं। बहुत से लोग तो ईश्वर में अपने उस अल्प विश्वास की भी हत्या कर देते हैं, जिसके आधार पर उनका मनोभावात्मक अस्तित्व कायम रहा है। अनेक लोग तो यह भी कहते हैं कि ईश्वर है ही नहीं और इस सम्बन्ध में वे तर्क भी देते हैं। इस प्रकार वे दैवी शक्तियों से अपने एकमात्र सम्पर्क का नष्ट कर देते हैं।

अपने विश्वास और श्रद्धा की रक्षा करना आवश्यक है। इस हेतु गुरु-शिष्य सम्बन्ध जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निधि है। जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है, किन्तु इसे बनाये रखना कठिन है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में कैसे श्रद्धा करे? यदि आप मनुष्य हैं तो आप कोई भी, कुछ भी क्यों न हों, आप सीमित हैं, अपूर्ण हैं। शरीर तो स्वयं ही अपूर्णता की प्रतिकृति है। आपका जन्म हुआ है और देहान्त भी होगा। आपको अमर होना चाहिये, किन्तु शरीर क्षणभंगुर है, नाशवान है।

जब गुरु भौतिक शरीर धारण कर जन्म लेते हैं तो वे स्थूल स्तर पर रहते हैं और प्रकृति के अपूर्ण नियमों का शिकार होते हैं। वे भोजन करते हैं, सोते हैं तथा अन्य लोगों की तरह ही बातें करते हैं। आप कोई भी क्यों न हों, मानव शरीर धारण करते ही आप सीमित हो जाते हैं। जब शिष्य गुरु की सीमाओं के बारे में सोचता है तो उसका विश्वास घटने लगता है, क्योंकि उसे अपने तथा गुरु के बीच कम अन्तर मालूम पड़ता है। वह चाहता है कि गुरु कुछ चमत्कारों का प्रदर्शन करें ताकि उनमें उसकी श्रद्धा सशक्त हो सके। किन्तु

गुरु कभी भी ऐसा नहीं करते। चमत्कार तो एक जादूगर भी कर सकता है। अत: यह श्रद्धा विकसित करने का आधार नहीं हो सकता।

मतभेद दूर कीजिये

श्रद्धा शिष्य की सर्वोत्तम सम्पत्ति है। यदि श्रद्धा है तो सब कुछ है और श्रद्धा के बिना आपके पास कुछ भी नहीं है। यह बाह्य क्रिया-कलापों का परिणाम नहीं है। इन्द्रिय एवं मानसिक प्रक्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसकी उत्पत्ति अन्तरात्मा की सतत् सजगता से होती है। आप ज्यों-ज्यों अपने अन्तरतम की गहराई में उतरते हैं, आपको आन्तरिक प्रकाश का दर्शन होता है और आपकी श्रद्धा अधिक सशक्त होती जाती है। जहाँ श्रद्धा है वहीं शक्ति और प्रकाश है।

श्रद्धा ही शिष्य के जीवन का आधार है। यदि गुरु के व्यवहार से शिष्य की श्रद्धा भंग हो जाये तो समझना चाहिये कि उसका सब कुछ खो गया है। एक बार श्रद्धा के नष्ट हो जाने पर उसका पुनर्निर्माण करना बहुत कठिन होता है। एक मनुष्य होने के कारण गुरु में सम्भवत: कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं, किन्तु इसके साथ ही शिष्य को भी अपने उत्तरदायित्वों से नहीं भागना चाहिए। उसे सोचना चाहिये कि जब उसने गुरु का चयन किया तो वह सही था या गलत। अब किसी विशेष परिस्थिति में, जो शिष्य के लिये सुखद नहीं है, वह गुरु में कुछ दोष देखता है, जो कि गुरु में हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

ऐसी स्थिति में उसे अतिशीघ्र गुरु के समीप जाकर अपनी मानसिक अवस्था से उन्हें अवगत कराना चाहिये। उनके समक्ष अपना दृष्टिकोण बल देकर प्रस्तुत करना चाहिये ताकि वे उसकी समस्या को ठीक से समझ सकें। अपने गुरु को बुरा मान कर उनसे दूर भागना तथा उनके बारे में दुष्प्रचार करना शिष्य के लिए कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यदि उनके बीच खुलकर बातचीत हो तो शिष्य की अनेक जटिलताओं और समस्याओं का समाधान सहजता से हो सकता है।

नये गुरु की खोज

इस प्रकार मतभेदों को दूर कर सम्बन्ध सुधारा जा सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो शिष्य को गुरु से पूछना चाहिये कि वह क्या करे। यदि गुरु को अपनी गलती का अनुभव हो जाये तो उन्हें अपना उत्तरदायित्व भी समझना चाहिये। उन्हें निश्चित रूप से यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि अब वे शिष्य

का मार्गदर्शन नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में एक निष्कपट गुरु शिष्य से स्पष्ट रूप से कहेंगे कि अब वे उसके आध्यात्मिक कल्याण का उत्तरदायित्व वहन नहीं कर सकेंगे तथा उसे कोई दूसरा गुरु ढूँढ़ लेना चाहिये।

यदि गुरु से कोई गलती नहीं हुई है तथा सारी बातें गलतफहमी के कारण उत्पन्न हुई हैं, तो उन्हें शिष्य को यह समझाने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिये कि उसने उन्हें समझने में भूल की है। किन्तु यदि गुरु दम्भी हैं, और गलत होते हुए भी इस बात पर बल देते हैं कि वे सही हैं, तो शिष्य को नये सिरे से अपनी आध्यात्मिक यात्रा शुरू करनी चाहिये तथा एक नया गुरु खोजना चाहिये। इस परिस्थिति में यह महत्त्वपूर्ण है कि शिष्य कोई नकारात्मक प्रतिक्रिया न करे, परन्तु अधिकतर शिष्य ऐसा करते हैं और उनके अन्दर यह विचार उत्पन्न होता है कि गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है। तब वे अधिकाधिक लोगों के समक्ष इस विचार को प्रकट करते हैं, किन्तु सच्चा जिज्ञासु शिष्य सम्पूर्ण परिस्थिति पर शान्तिपूर्वक विचार करेगा तथा स्वीकार करेगा कि गुरु उसे समझाने में सक्षम नहीं थे। अत: एक नये गुरु की खोज करना उसका कर्त्तव्य है जिनसे सही मार्गदर्शन प्राप्त हो सके।

शिष्य की विशेषता

इस विषय के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टिकोण भी है। कभी-कभी शिष्य गुरु से अपनी श्रद्धा द्वारा बँधा होता है, उनकी ऊँची योग्यता द्वारा नहीं। इस प्रकार के सम्बन्ध में शिष्य में ही विशिष्ट गुण होते हैं, गुरु में नहीं। वह पूर्ण श्रद्धा और अटल भक्ति से युक्त होता है तथा उसमें आलोचनात्मक बुद्धि का सर्वथा अभाव होता है। उसके लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं होता कि गुरु कितना अधम और ढोंगी है। यदि वह पूर्ण श्रद्धा से युक्त है तो अपने आन्तरिक गुरु से अवश्य ही उसका साक्षात्कार होगा। ऐसा शिष्य अपने गुरु से श्रेष्ठतर होता है।

यदि शिष्य के अन्दर श्रद्धा है और गुरु में इसका अभाव है तो समस्त कार्य पूर्णरूपेण सम्पादित होते हैं। यदि गुरु के अन्दर श्रद्धा है और शिष्य इससे रहित है तब भी बात बन सकती है, किन्तु यदि दोनों में श्रद्धा की शक्ति का अभाव हो तो स्थिति निराशाजनक है और तब उनका आध्यात्मिक विनाश अवश्यम्भावी है। किन्तु मैं मानता हूँ कि ऐसी स्थिति शायद कभी भी उत्पन्न नहीं होती है।

एक वर्ष पूर्व एक महिला मेरे पास आई। वह अपने गुरु की कटु आलोचना कर रही थी। उसके पास अनेक लिखित शिकायतें थीं और वह उनके सम्बन्ध में चारों तरफ दुष्प्रचार कर रही थी। मैंने उसकी श्रद्धा को पुनर्जीवित करने का हर सम्भव प्रयास किया, क्योंकि मुझे पता था कि वास्तविक बात क्या हो सकती है। यदि गुरु श्रद्धा से युक्त है और उसके अन्दर श्रद्धा नहीं भी है तो सब ठीक हो सकता है। किन्तु यदि दोनों में ही श्रद्धा की कमी हो तो फिर उस महिला का आध्यात्मिक विनाश निश्चित है।

वास्तव में उसका दृष्टिकोण निरर्थक था। वह यह नहीं कह रही थी कि वे उसका मार्गदर्शन नहीं कर सकते थे या वे बुरे और अपराधी चरित्र के व्यक्ति थे। वह सिर्फ यह कहती थी कि भगवान बुद्ध तथा कुछ अन्य विभूतियों से उसका सम्पर्क रहा है और उन्होंने उसे बताया है कि उसे सही गुरु नहीं मिले हैं। मैंने उनसे कहा, "यदि आप इतनी महान् हैं कि भगवान बुद्ध से संचार स्थापित कर सकती हैं तो अपने गुरु को पूर्णतया भूल जाइये। यथार्थत: आपको ही उनका गुरु होना चाहिये।" एक अन्य बात का भी उन्होंने उल्लेख किया। वह यह थी कि गुरु बहुत धन एकत्र करते हैं। मैंने कहा, "यह आपका दृष्टिकोण है। आप पश्चिम में पैदा हुई हैं जहाँ धन-सम्पत्ति ही अन्तिम सत्य है। इसीलिये आपको उनमें ये नकारात्मक चीजें दिखाई पड़ती हैं।" मैं नहीं बता सकता कि मैं उस संभ्रांत महिला को समझाने में सफल हो सका या नहीं।

चमत्कारों का जनक

यदि आपमें श्रद्धा है तो ऊँची अपेक्षाएँ रख सकते हैं। श्रद्धा को सशक्त बनाकर महान् कार्यों का सम्पादन किया जा सकता है। विभिन्न धार्मिक कर्मकाण्डों या अनुष्ठानों का प्रमुख लक्ष्य श्रद्धा को पुनर्जीवित करना और दृढ़ बनाना है। श्रद्धा के अभाव में आप कुछ भी आशा मत कीजिये; इसके बिना जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्रद्धा के समाप्त होने से दिल टूट जाता है, निराशा धर दबाती है और आप कुछ भी करने लायक नहीं रह जाते।

योग या मन्त्र का अभ्यास करने तथा गुरु के निकट जाने से आपकी श्रद्धा मजबूत होती है। अपनी श्रद्धा को सदैव मजबूत बनाये रखने के लिये आपको गुरु से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। यदि आप उन पर सन्देह करने लगे हैं या आपके मन में उनके प्रति नकारात्मक विचार उभरने लगे हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि आप अपनी श्रद्धा की हत्या कर रहे हैं।

समस्त धर्मशास्त्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि एक साधक को इस बात के प्रति अत्यधिक सतर्क रहना चाहिये कि उसकी श्रद्धा भ्रान्तियों से ग्रस्त न हो। कहा तो यहाँ तक गया है कि यदि आपका स्वास्थ्य, धन-सम्पत्ति आदि नष्ट हो गया है तथा आप दीन-हीन हो गये हैं तो चिन्ता की कोई विशेष बात नहीं है। किन्तु हर परिस्थिति में अपनी श्रद्धा की रक्षा कीजिये। यदि जीवन में आप सब कुछ खो चुके हैं तो श्रद्धा के द्वारा उन्हें पुन: प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि यह चमत्कारों की जननी है। यदि आप दृढ़ श्रद्धा से युक्त हैं तो आपके लिये कोई भी कार्य या उपलब्धि असम्भव नहीं है।

यह सदैव स्मरण रखिये कि श्रद्धा विश्वास नहीं है; यह उससे अधिक सबल शक्ति है। सशक्त श्रद्धा द्वारा आप प्रकृति तथा भौतिक पदार्थों को नियन्त्रित कर सकते हैं और श्रद्धा को मतबूत बनाने के प्रसंग में गुरु का स्थान सर्वप्रथम होता है। अपना शरीर, मन और आत्मा उनको समर्पित कीजिये। आप उनके हैं और वे आपके। और जब आपके मन में नकारात्मक विचार उत्पन्न होने लगें तो सावधान हो जाइये कि माया का खेल हो रहा है; यह विनाश का कारण हो सकता है। एक विश्वसनीय या निष्ठावान शिष्य होना कठिन है।

शंका समाधान

कोई व्यक्ति यह कैसे जान सकता है कि उसके गुरु सक्षम हैं तथा उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त है?

यदि आपके मन में इस सम्बन्ध में कोई सन्देह है तो उचित यह होगा कि आप प्रतीक्षा करें। श्रद्धा प्रेम के समान ही अन्धी होती है। प्रेम और श्रद्धा बौद्धिक व्यतिकरण के क्षेत्र से बाहर की अवधारणाएँ हैं और यह प्रश्न आपकी श्रद्धा के मार्ग में प्रत्यक्ष अवरोध खड़ा करता है।

जब आप अपने इष्ट देवता की मूर्ति देखते हैं तो उससे प्रेम करने लगते हैं। यहाँ बुद्धि निर्णायक तत्त्व नहीं होती। आप अपनी भावना और हृदय के माध्यम से उस मूर्ति से जुड़ जाते हैं तथा उसे सदैव स्मरण करते हैं। इसी प्रकार अपने गुरु से मिलने पर यदि आप एक आध्यात्मिक, नैतिक या शैक्षणिक व्यक्ति के रूप में उनका बौद्धिक विश्लेषण-परीक्षण करने लगेंगे तो आपको कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है।

यदि आप अपने गुरु को अपनी बुद्धि द्वारा नहीं, बल्कि अपनी भावना से समझना चाहेंगे तो आपको उनके दोष दिखाई नहीं पड़ेंगे। कोई भी गुरु या भौतिक शरीरधारी अवतार दोषमुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि भौतिक शरीर के अपने धर्म होते हैं और यदि आप अपने गुरु में दोष ढूँढ़ने लगेंगे तो उसमें एक नहीं, अनेक दोष दिखाई पड़ने लगेंगे।

कृपया आप एक बात अच्छी तरह समझ लीजिये। यदि आप अपनी बुद्धि के सहारे गुरु की खोज कर रहे हैं तो आप उन्हें प्राप्त नहीं कर सकेंगे, क्योंकि कोई भी व्यक्ति आपकी बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। जिस प्रकार प्रेम या वैवाहिक जीवन एक बौद्धिक आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार गुरु भी एक बौद्धिक आवश्यकता नहीं है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध का निर्माण कैसे होता है?

गुरु के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध या सर्वोच्च सत्ता के साथ शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करने के प्रसंग में पूर्ण निष्कपटता और भक्ति की आवश्यकता होती है। जब आप गुरु से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वे बिना किसी कठिनाई के आपका मार्गदर्शन कर सकें। अत: शिष्य की तुलना एक पालतू कुत्ते से की जा सकती है। योग या ध्यान सीखने के लिये सदैव गुरु की आवश्यकता होती है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित करने के प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु ज्ञान, अनुभव और योग्यता से सम्पन्न हों तथा शिष्य की सजगता को निर्देशित करने में सक्षम हों।

इस उद्देश्य से गुरु शिष्य को विभिन्न प्रकार का अभ्यास प्रदान करते हैं ताकि इस बात का परीक्षण किया जा सके कि वह सजगता के किस स्तर पर प्रतिक्रिया करता है। यदि शिष्य सामान्य बौद्धिक स्तर पर गुरु के निर्देशों, संकेतों, सलाहों या अभिप्रेरणा का प्रत्युत्तर नहीं दे सकेगा तो फिर वे चेतना के उच्चतर क्षेत्र में उसका मार्गदर्शन किस प्रकार कर सकेंगे? यदि गुरु अपने शिष्य के सचेतन मन को निर्देशित करने में सक्षम नहीं हैं तो वे उसके स्वप्नों को किस प्रकार निर्देशित कर सकेंगे? गुरु में शिष्य के मन को प्रभावित करने तथा उसे किसी भी दिशा में निर्देशित करने की क्षमता होनी चाहिये। और शिष्य की अवस्था यह हो कि वह गुरु को अपना तन-मन-धन न्योछावर करने हेतु सदैव प्रस्तुत रहे। यही अवधारणा गुरु-शिष्य सम्बन्ध का आधार होती है।

शिष्य गुरु में अपनी श्रद्धा क्यों खो बैठता है?

श्रद्धा स्वत: स्फूर्त होती है, आप इसे बलपूर्वक उत्पन्न नहीं कर सकते। गुरु में दृढ़ श्रद्धा के लिये आपको एक गहरे, आन्तरिक आधार की आवश्यकता है। यदि उनमें आपका विश्वास डगमगा रहा है तो इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि आपका मन दोलायमान है या गुरु एक नाटक कर रहे हैं। गुरु में शिष्य की श्रद्धा विरले ही दृढ़ होती है, क्योंकि दोनों ही मानव शरीरधारी होते हैं। चूँकि गुरु और शिष्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, यह घनिष्ठता प्राय: तिरस्कार या घृणा और असन्तोष को जन्म देती है।

कभी-कभी गुरु शिष्य की परीक्षा भी लेते हैं। जब भी शिष्य के मन में तूफान उठे, तो उसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि यह या तो उसके मन की चाल है या गुरु की कोई युक्ति। हर स्थिति में यह एक दाँव-पेंच या धोखा ही है। अत: कृपा कर कुछ समय के लिये प्रतीक्षा कीजिये। आँधी रुकेगी और श्रद्धा का सूर्य पुन: चमकने लगेगा।

मैं यह नहीं मानता कि श्रद्धा की तीव्रता बढ़ायी जा सकती है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा से युक्त होता है। यदि आपके अन्दर गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा का भाव नहीं जग रहा है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आपके अन्दर उसका अभाव है। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि धूल भरी आँधी से आपका विश्वास ढक गया है। धैर्य से प्रतीक्षा कीजिये। धूल हट जायेगी और आपके अन्दर की अन्तर्निहित श्रद्धा सूर्य के समान चमकने लगेगी।

आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों या गुरु की अवधारणा में मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है। इस स्थिति को मैं कैसे बदल सकता हूँ?

किसी आश्रम में जाइये। वहाँ गुरु के निकट सम्पर्क में रहिये तथा नि:स्वार्थ सेवा में सम्मिलित होइये। यदि आप मानसिक क्रिया-कलापों के क्रम को बदल दें और पूर्णत: नये वातावरण में रहने लगें तो आपके मन में आशातीत परिवर्तन होगा।

श्रद्धा और धार्मिक विश्वास में क्या अन्तर है?

श्रद्धा सिर्फ धार्मिक विश्वास नहीं है; यह एक आन्तरिक दृढ़ धारणा है जो अहंकार के पूर्ण समर्पण के बाद ही उत्पन्न होती है। यह एक ऐसी ज्योति है

जो प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर पायी जाती है। जब आप अपने अहंकार को पूर्णरूपेण समर्पित करते हैं तब श्रद्धा अपने-आप प्रकट होती है। आपको इसे धर्मशास्त्रों से आयात नहीं करना पड़ता। श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्निहित गुण है, किन्तु यह अज्ञान के बादलों से ढका रहता है। अत: शिष्य बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी श्रद्धा को बन्धन-मुक्त करे।

श्रद्धा की प्रकृति बिल्कुल वैसी ही होती है जैसी कि एक बच्चे की निष्कपटता। निष्कपटता पूर्ण शुद्धता की ही एक अभिव्यक्ति है। पूर्ण आन्तरिक शुद्धि की अवस्था प्राप्त होने पर ही आप निष्कपट हो सकते हैं। अनेक लोग अबोध या निष्कपट होने का नाटक करते हैं। इसे कूटनीति या व्यक्ति का राजनैतिक चरित्र कहते हैं, किन्तु श्रद्धा व्यक्ति की वास्तविक सत्ता होती है। एक बच्चे का अपनी माँ में अटल विश्वास होता है। इसी प्रकार जब विश्वास का यह गुण प्रकट होता है तब आप पूर्णतया अबोध या निष्कपट हो जाते हैं तथा आपके समस्त बौद्धिक तर्क, भय, असुरक्षाएँ और सन्देह दूर हो जाते हैं।

गुरु की विशिष्टता

श्रद्धा की पृष्ठभूमि में ही गुरु का चयन होना चाहिए। श्रद्धा से युक्त व्यक्ति को गुरु अवश्य मिलेंगे। ईमानदारी से आध्यात्मिक जीवन की खोज करने वाले लोगों को स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से सिद्धियों तथा चमत्कार का प्रदर्शन करने वाले गुरुओं से निराश होना पड़ता है। आत्मानुभूति से युक्त गुरु उच्च आध्यात्मिक स्तर पर रहते हैं। वे उस मानसिक स्तर से ऊपर होते हैं जहाँ ये शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन्हें अपने शिष्यों के लिये इन सिद्धियों के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। यदि आप गुरु प्राप्त करना चाहते हैं तो नि:स्वार्थ हृदय और विशुद्ध श्रद्धा के साथ आगे बढ़िये। तभी आपको अपने वास्तविक गुरु मिलेंगे। विशुद्ध श्रद्धा कदापि विफल नहीं होती, किन्तु आपकी खोज आपकी चेतना की अवस्था पर निर्भर करती है। यदि आपको धन चाहिये तो धन मिलेगा। यदि आप स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिये गुरु की खोज करेंगे तो आपको शक्तियों का प्रदर्शन करने वाले गुरु मिलेंगे।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि गुरु या शिक्षक, जिनसे हम योग विज्ञान सीखते हैं, सुयोग्य हो। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग्यताओं में से एक यह है कि वे शान्ति और एकत्व में स्थित हो। इसका सम्बन्ध उनके अपने मन और व्यक्तित्व से है। यदि वे अशान्त, अस्थिर और जीवन के झंझावातों में उलझे हुए हैं तो वे अधिक-से-अधिक एक शिक्षक हो सकते हैं।

योग सिर्फ एक विज्ञान नहीं है जिसे जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान या रसायन विज्ञान की तरह सीखा जाये। यह एक ऐसा विज्ञान है जिसे हम सिर्फ ज्ञान के लिये ही नहीं सीखते। योग हम मुख्यत: इसलिये सीखते हैं कि हमारे शरीर, मन और भावना पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़े। अत: गुरु से यह अपेक्षा की जाती है कि वे शिष्य को शिक्षण के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व

के स्पंदन, चुम्बकत्व और गुणों का भी एक अंश प्रदान करे। यही कारण है कि किसी शिक्षक से अनेक बार योग सीखने के बाद भी जब आप अपनी उपलब्धियों पर विचार करते हैं कि अपने आध्यात्मिक जीवन या आन्तरिक व्यक्तित्व के क्षेत्र में आपने कुछ भी प्राप्त नहीं किया है।

एक योग शिक्षक आपको क्या दे सकते हैं? वे आपको ज्ञान या अनुभव दे सकते हैं। ज्ञान व्यक्ति के बौद्धिक क्षेत्र तक सीमित है। वह सिर्फ आपका बौद्धिक ज्ञान है। अनुभव वह है जिसे आप आत्मसात् करते हैं, जो आपकी धरोहर है। योग में अनुभव किसे कहते हैं? शान्ति, साहस और समझदारी के साथ जीवन का सामना करना ही यौगिक अनुभव है। जीवन एक समतल सतह या सहज मार्ग नहीं है। यह सुख-दु:ख, अच्छे-बुरे अनुभवों के समूहों से निर्मित होता है। ये व्यक्ति के आर्थिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तरों से सम्बद्ध होते हैं। एक वास्तविक गुरु जो शिक्षण और अभिप्रेरणा आपको प्रदान करते हैं, वे निर्देशों द्वारा नहीं दिये जा सकते, वे तो सिर्फ उनके व्यक्तित्व से नि:सृत होते हैं जो बौद्धिकता से पूर्णतया मुक्त होता है।

यह हो सकता है कि मैंने लैटिन और संस्कृत का अध्ययन किया हो और बाईबिल, वेदों तथा कुरान पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो। किन्तु यह एक भिन्न बात है। यह भी हो सकता है कि मैंने लैटिन, ग्रीक या संस्कृत में कुछ भी न सीखा हो, तथापि यह सम्भव है कि मैंने संतुलन, सामंजस्य, समझदारी और व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त कर ली हो। वह मैं आपको प्रदान कर सकता हूँ और उसे ही कहते हैं आध्यात्मिक निस्सरण।

जब आप किसी गुरु या शिक्षक के पास जाते हैं तो उनकी उपाधियों या ज्ञान की गहराई के बारे में जानने का प्रयास मत कीजिये। यह बात सत्य है कि कभी-कभी किसी संस्था की स्थापना करते समय उपाधियों की आवश्यकता होती है, किन्तु एक शिष्य या छात्र के लिये उनका विशेष महत्त्व नहीं है। आपको सिर्फ इतना ही देखना है कि आपके शिक्षक के मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच पूर्ण सामंजस्य है।

मस्तिष्क के बायें और दायें भागों के बीच प्राय: द्वन्द्व चलते रहते हैं। दाहिना मस्तिष्क जो कुछ सोचता है, बायाँ उसे अस्वीकृत करता जाता है। और बायाँ मस्तिष्क जो कुछ सोचने का प्रयास करता है, दाहिना मस्तिष्क निरन्तर उसकी आलोचना करता रहता है। मानव व्यवहार में निहित द्वन्द्व का यही स्रोत है। मनुष्य के मस्तिष्क के इन दोनों गोलार्द्धों के बीच सामंजस्य

होना अति आवश्यक है। वास्तव में भारत में लोग प्राय: प्रश्न करते हैं, 'गुरु कौन है?' अन्तिम उत्तर यह है कि "वह जिसने आन्तरिक शान्ति की अनुभूति प्राप्त कर ली है।" और जब आप पाते हैं कि आपके योग शिक्षक पूर्ण अनुशासित हैं, आन्तरिक शान्ति से एकत्व स्थापित कर चुके हैं तथा आपको अनुभूति प्रदान कर सकते हैं, तो वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी चेतना को स्थिर या स्थायी बना लिया है।"

भगवद्गीता में इस प्रश्न का ठीक ढंग से उत्तर दिया गया है। अर्जुन एक महान् योद्धा थे। वे स्वयं अपनी सेना के सेनापति थे। जिस कृष्ण का हम गुणगान किया करते हैं, वे उनके सारथी थे। कृष्ण हमारे इतिहास के एक अति महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने समय में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने एक योग शिक्षक और गुरु के रूप में भी कार्य किया।

गीता के द्वितीय अध्याय के 54वें श्लोक में अर्जुन प्रश्न करते हैं, "हे कृष्ण, समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण हैं, वह स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?"

कृष्ण इस अध्याय के 72वें श्लोक तक अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं। एक श्लोक में कहते हैं कि जब व्यक्ति "कछुवे के अंगों के समान अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियजनित विषयों से सब ओर से समेट लेता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये।" कछुआ अपने इच्छानुसार अपने अंगों को फैला सकता है तथा जब भी उसे किसी संकट का आभास होता है, वह अपने अंगों के अन्दर समेट लेता है। इसी प्रकार आप में इन्द्रिय जगत् के क्रिया-कलापों में भाग लेने की क्षमता होनी चाहिये; यह तो आपके दैनिक जीवन का अंग है, किन्तु जब आप पाते हैं कि यह उलझाव खतरनाक हो रहा है तब तत्काल तटस्थ हो जाइये, अपने को समेट लीजिये। आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि इन्द्रियों तथा भोग पदार्थों के बीच की अन्त:क्रियाएँ आपको दुर्घटना की तरफ ले जा रही हैं। तब भी आप स्वयं को समेटने में सक्षम नहीं हो पाते।

शिक्षक या गुरु में अपने मन तथा इन्द्रियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिये। सभी योग छात्रों एवं शिष्यों को अपने गुरु को समझने में गीता के श्लोकों से मार्गदर्शन प्राप्त करना है। यदि गुरु को अपने शिष्यों को जाँचने का अधिकार है तो शिष्यों के पास भी गुरु को परखने का कुछ साधन होना ही चाहिये।

अहंकार का विसर्जन

वास्तविक गुरु प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर है। बाह्य गुरु वास्तविक गुरु नहीं है। यही कारण है कि हम दो पदों का प्रयोग करते हैं–गुरु और सद्गुरु। गुरु वे हैं जो बाह्य रूप से हमें शिक्षा देते हैं। सद्गुरु का अर्थ होता है आंतरिक गुरु। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर उसका सद्गुरु विराजमान है, जिसका उसे अन्वेषण करना है। उसे प्राप्त करने के लिये आपको अपनी अन्तर्दृष्टि एवं अन्तर्चेतना को विकसित करना होगा। इन्हें विकसित करने के लिये प्रारम्भ में आपको एक आश्रय की, सहायता की आवश्यकता होगी। एक प्रबुद्ध और ज्ञानी व्यक्ति ही ऐसा आश्रय या सहारा प्रदान कर सकते हैं।

गुरु का महत्त्व

एक शिक्षक गुरु नहीं है और न एक गुरु ही शिक्षक हैं। गुरु का शाब्दिक अर्थ होता है अन्धकार को दूर भगाने वाला। किसी कमरे में अनेक वस्तुएँ होती हैं। यदि आप रात्रि के घोर अंधकार में उस कमरे में जायें और अपनी चाबी ढूँढ़ना चाहें तो आप उसे न पा सकेंगे। आप ऐसी स्थिति में क्या करते हैं? आप टॉर्च जलाते हैं। तब आप प्रत्येक चीज को देख सकते हैं तथा जिस किसी भी वस्तु को ढूँढ़ रहे हैं, उसे पा सकते हैं। बाह्य गुरु टॉर्च की रोशनी के समान है। वे अन्धकार को दूर कर देते हैं। बस, उनसे इतनी ही सहायता प्राप्त करते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में यह आन्तरिक अन्धकार एक अति महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। वह अन्धकार क्या है? यह स्मरण रखिये कि मैं नीतिशास्त्र या नैतिकता के बारे में बातें नहीं कर रहा हूँ। अब तक आप सिर्फ दृश्य जगत् को देख रहे हैं, इसके परे कुछ नहीं देख सकते। यही अन्धकार है। जिस जगत् को आप

अपने नेत्रों, इन्द्रियों और मन से देख रहे हैं, वही एक मात्र जगत् नहीं है। इसके परे अनेक जगत् और अद्‌भुत वस्तुएँ हैं, किन्तु आप उन्हें नहीं देखते हैं। आपके चारों ओर अनेक लोग हैं तथा निकट में ही अनेक जगत् हैं, किन्तु आप उन्हें नहीं देख सकते। आपके निकट ही मधुर संगीत का कार्यक्रम चल रहा है, किन्तु आप इसे नहीं सुन सकते हैं। अगल-बगल के फूलों की सुगन्ध के अलावा आपके चारों ओर अन्य अनेक प्रकार की सुगन्ध फैल रही है, किन्तु आपको उनका अनुभव नहीं हो रहा है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा अन्धकार के कारण होता है। और इस अन्धकार के कारण आप इन वस्तुओं तथा अपनी आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते हैं।

मैं प्रत्येक व्यक्ति के बारे में बातें नहीं कर रहा हूँ, मैं तो सिर्फ कुछ लोगों के बारे में बोल रहा हूँ। हम दिन-भर कुछ न कुछ सोचते रहते हैं, किन्तु क्या आप अपने विचारों को देख सकते हैं? नहीं, आप अपने विचारों, अपनी भावनाओं तथा भय को नहीं देख सकते। यह आपकी क्षमता के परे की बात है और आपकी अयोग्यता है। जब आप अपने विचारों को नहीं देख सकते तो आप अपनी आत्मा को कैसे देख सकेंगे?

अत: बाह्य गुरु टॉर्च के प्रकाश के समान आपके पास आते हैं और आपके अन्तर्मन को प्रकाशित करते हैं। मन की उस प्रकाशमय अवस्था में आपको अपने आन्तरिक गुरु की अनुभूति प्राप्त होती है। गुरु का यही महत्त्व है।

गुरु चेतना का विस्फोट करते हैं

जब आप अपने लिये गुरु का चयन करते हैं तो आप वास्तव में एक प्रस्फोटक लगा रहे हैं। बम तो आपके अन्दर है, किन्तु उसका विस्फोट नहीं हो रहा है। प्रत्येक बम के विस्फोट के लिये एक प्रस्फोटक का होना आवश्यक है। प्रस्फोटक भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के द्वारा हम बातों को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। यहाँ आन्तरिक गुरु बम के समान हैं और बाह्य गुरु प्रस्फोटक के समान। आप कह सकते हैं, "क्योंकि गुरु मेरे अन्दर हैं, मुझे किसी बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं है।" किन्तु ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि यद्यपि गुरु आपके अन्दर हैं, क्या आप उनकी आवाज सुन सकते हैं? क्या उन्हें देखते हैं? क्या समय-समय पर आपको उनका मार्गदर्शन प्राप्त होता है? यदि ऐसा है तो आपके लिये किसी बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि ऐसा नहीं है तो आपके लिये एक बाह्य गुरु

की आवश्यकता है, क्योंकि आन्तरिक गुरु आपकी कल्पनाशक्ति, आपके ज्ञान और समझदारी के परे हैं। आप सिर्फ विश्वास करते हैं कि वह है। कोई वस्तु सैंकड़ों मील की दूरी पर है, किन्तु आप उसे देख नहीं सकते। आपके लिये उसका कोई अर्थ नहीं है। उसे देखने के लिये एक शक्तिशाली दूरबीन का होना आवश्यक है। अत: एक बाह्य गुरु चाहिये ही।

आन्तरिक गुरु की अनुभूति प्राप्त करने के लिये बाह्य गुरु आवश्यक है। वे आपके मन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। वे एक ज्वालामुखी के समान आपकी अन्तर्चेतना का विस्फोट करते हैं। इस ज्वालामुखी में प्रत्येक विचार, भावना, स्मृति और पूर्व के अनुभव का दर्शन होता है। आप अपने अनुभवों तथा स्वप्नों की झाँकियाँ स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। और इस क्षमता का विकास आप अपने बाह्य गुरु की सहायता से ही कर सकते हैं।

लौह आवरण के पीछे

यह सत्य है कि आपका आन्तरिक गुरु आपके अन्दर है, किन्तु आपके आन्तरिक गुरु तथा आपके बीच एक अवरोध है। और वह है आपका अहंकार। अहंकार मनुष्य के अस्तित्व का आधार है। अहंकार के बिना आपकी बुद्धि निष्क्रिय हो जायेगी। अहंकार के बिना विभेद या द्वैत भाव नहीं टिक सकता, आत्मचेतना जीवित नहीं रह सकती। अत: प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व के पीछे अंहकार एक आवश्यक अभिकर्ता है।

पशुओं एवं अन्य प्राणियों में अहंकार गौण, अविकसित तथा अव्यक्त अवस्था में रहता है, किन्तु मनुष्य में यह पूर्णत: व्यक्त अवस्था में रहता है। मैं जानता हूँ कि 'मैं हूँ। मैं जानता हूँ कि 'मैं जानता हूँ'। जिस व्यक्तित्व के माध्यम से हम स्वयं को अपने प्रेमियों, शत्रुओं, सूर्य, चन्द्र, तारों, बादलों, फूलों, बच्चों, सरकार, चर्च, मन्दिर, अन्य वस्तुओं तथा सम्पूर्ण सृष्टि से जोड़ते हैं वही अहंकार है। अहंकार के द्वारा ही आप अपने चारों तरफ की प्रत्येक वस्तु से सम्बन्धित रहते हैं।

यह अहंकार मनुष्य में बहुत सशक्त अवस्था में रहता है। यह आप तथा आपके गुरु, आप तथा आपकी आध्यात्मिक दृष्टि के बीच लौह आवरण के समान है। इस अहंकार को हटाना अति कठिन कार्य है, क्योंकि इसे हटाने के पूर्व आपके लिये यह जानना अति आवश्यक है कि यह आपके अन्दर स्थित है। जहाँ तक आप अपने बारे में जानते हैं, आप पूर्णत: ठीक हैं। और प्रत्येक

व्यक्ति आपके समान ही सोचता है, 'मैं बिल्कुल ठीक हूँ, मुझमें अधिक अहंकार नहीं है, हाँ मुझमें थोड़ा अहंकार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने बारे में एक उत्तम या उत्कृष्ट विचार रखता है। आत्महीनता की भावना से ग्रस्त लोग भी अपने बारे में बहुत ऊँचा ख्याल रखते हैं। उस आत्महीनता को छिपाने के लिये वे अपने को अनेक गुणों से युक्त व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे सोचते हैं कि मैं ठीक हूँ। मैं बागवानी और तैराकी जानता हूँ, लोगों से बात करना जानता हूँ तथा उन्हें संचालित कर सकता हूँ।' आप प्रत्येक के साथ ऐसी स्थिति पायेंगे।

गुरु अहंकार को निर्दिष्ट करते हैं

अहंकार की काट-छाँट होनी चाहिये, किन्तु आपके लिये यह कार्य कौन करेगा? आपकी पत्नी यह कार्य कदापि नहीं कर सकती, क्योंकि उसे आपके दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ेगा। आपका पति भी यह नहीं कर सकता, क्योंकि उसे आपकी गालियाँ सुननी पड़ेगी। आपका पुत्र यदि इस सम्बन्ध में कुछ बोलेगा तो आप कहेंगे, 'चुप रहो, तुम अभी बच्चे हो।' यदि आपके पिताजी आपसे कहें, 'तुम अहंकारी हो' तो आपका उत्तर होगा, 'आपका जमाना लद चुका है; हमारी परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न है।' कोई भी व्यक्ति आपसे यह नहीं कह सकता कि आप अहंकारी हैं, मैं भी नहीं। यदि इस सम्बन्ध में मैं कुछ कहूँ तो आप उसे अस्वीकृत कर देंगे। अनेक बार मैं अपने शिष्यों से कहता हूँ कि 'तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।' उनका उत्तर होता है, "स्वामीजी, आपकी उम्र साठ वर्ष है और हमारी मात्र बीस वर्ष। हम जानते हैं कि अपनी समस्याओं का समाधान कैसे करें।"

गुरु भी अपने शिष्यों का ध्यान उनके अहंकार की ओर खींचने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। पर्याप्त सहनशीलता, समझदारी और धैर्य से युक्त गुरु ही यह कार्य कर सकते हैं। वे निरन्तर शिष्य के अहंकार को जगाने का प्रयास करते रहते हैं। वे यह कार्य प्रेम, अभिप्रेरण तथा साधना के माध्यम से करते हैं। अनेक तरीकों से अहंकार को बाहर निकाला जाता है और अहंकार के बाहर आते ही गुरु ठोकर मारते हैं। ठोकर लगने के बाद आप अनुभव करते हैं कि आपके अन्दर भी अहंकार था।

यह अहंकार सिर्फ अभिमान नहीं है। इसके हजारों रूप हैं। इस सम्बन्ध में साधारण कहानी है। एक बार एक शिष्य अपनी कुटी में साधना कर रहा

था। लगभग दस बजे रात्रि का समय था और वर्षा हो रही थी। एक युवती ने उसका दरवाजा खटखटाया और उसने उसे खोला। युवती ने निवेदन किया, 'वर्षा हो रही है, क्या आप मुझे आश्रय देंगे।' 'ठीक है, आ जाओ' शिष्य ने कहा। शिष्य के लिये उस रात गहरी निद्रा में सोना कठिन हो गया। वह करवटें बदलता रहा तथा लड़की से पूछता रहा, 'क्या तुम सो गई हो?' वह तो खर्राटे लेती रही, किन्तु बेचारा शिष्य न सो सका। वह बार-बार बत्ती जलाता रहा, स्नान घर में जाता रहा तथा अन्य अनेक कार्य करता रहा।

एकाएक वह जग गई। शिष्य ने पूछा, 'क्या तुम बिल्कुल ठीक हो।' उसने उत्तर दिया, 'हाँ, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।' 'किन्तु मैंने तुम्हें रोते हुए सुना'। वास्तव में वह रो नहीं रही थी, किन्तु वह उसके अन्दर झाँकना चाहती था। उसने कहा, 'हो सकता है कि मैं रो रही होऊँ।' शिष्य ने कहा, 'मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हें ज्वर है, क्या मैं तुम्हारे पैरों की मालिश कर सकता हूँ?' 'ठीक है, कर सकते हैं' लड़की ने सहमति व्यक्त की। ज्यों ही उसने उसके पैर की मालिश समाप्त की, गुरु ने अपना छद्मवेश त्याग दिया। अचानक गुरु प्रकट हो गये। और यह सबकुछ अप्रत्याशित था। लड़की के वेश में और कोई नहीं, गुरु ही थे।

गुरु एक दर्पण के समान हैं

इसी प्रकार पहले अहंकार का विस्फोट किया जाता है और पुन: उसे कुचला जाता है। मन की प्रत्येक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध अहंकार को कुचलना आवश्यक है। समाधि की एक अवस्था में जब आप मन का अतिक्रमण कर रहे होते हैं तथा ऊर्ध्वगमन की स्थिति में रहते हैं तो यह देखना होगा कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति आपको निम्नतर स्तर से बाँध न सके। ऊर्ध्वगमन के लिये अति तीव्र गति की आवश्यकता है। चेतना अनुभवगम्य आधार का त्याग करती है और एक बिन्दु पर आकर आपको रुक जाना होता है।

अत: मेरी राय में एक गुरु का होना सदैव लाभदायक है। उनके साथ कुछ समय तक रहिये, उनका धक्का-मुक्का और ठोकर खाइये तथा उन्हें अपनी आलोचना करने दीजिये। आध्यात्मिक जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। मुझे पता नहीं है कि लोग अपनी आलोचना पसन्द करते हैं या नहीं। मैं भी अपनी आलोचना पसन्द नहीं करता, क्योंकि इससे मेरा व्यक्तित्व और अहंकार आहत होता है। किन्तु आप यह अवश्य निश्चित कीजिये कि कोई-

न-कोई ऐसा अवश्य हो जो आपकी आलोचना कर सके और आपको उसे स्वीकार करना ही होगा।

यदि आध्यात्मिक जीवन में ऐसी कोई चीज है जो आपकी चेतना का शुद्धिकरण कर सके तो वह आलोचना ही है। किन्तु समस्या यह है कि आप आत्मालोचना नहीं करते और न किसी दूसरे व्यक्ति को ही यह अनुमति देते हैं कि वह आपकी आलोचना करे। अत: यह कार्य अपने गुरु को ही सौंपिये। आप अपने स्नानागार में दर्पण क्यों लगाते हैं? इससे कोई अन्तर तो नहीं पड़ता। आप गोरे, काले या भूरे, कैसे भी क्यों न हों, दर्पण से आपके रूप-रंग में कोई अन्तर तो नहीं आता। किन्तु फिर भी आप वहाँ एक दर्पण लगाते हैं। इसी प्रकार एक ऐसा दर्पण होना चाहिये जिसके सामने खड़े होकर आप अपनी प्रवृत्तियों, विशिष्टताओं, भावनाओं और अहंकार का प्रतिबिम्ब देख सकें। उसमें आपके विचार का प्रत्येक अंश प्रतिबिम्बित होना चाहिये। एक गुरु ही इस प्रकार के दर्पण का कार्य कर सकते हैं।

असली गुरु अपने शिष्यों को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करते। वे समस्त बातों को स्पष्ट रूप से कहते हैं। ऐसे गुरु, जो असली गुरु और शिष्य हितकारी नहीं हैं, अपने शिष्यों से सदैव मीठी-मीठी बातें किया करते हैं ताकि वे स्वयं उनसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सकें। यदि मैं आपसे चिकनी-चुपड़ी बातें तथा आपकी प्रशंसा करूँ तो आप मेरे अनेक कार्यों का सम्पादन करेंगे तथा पर्याप्त दान-दक्षिणा भी देंगे। यह अच्छी और व्यावहारिक बात है। किन्तु गुरु के लिये इस प्रकार की व्यावहारिकता आवश्यक नहीं है। उन्हें तो सत्य का उद्‌घाटन करना ही चाहिये, किन्तु शिष्य को भी सत्य का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

एक प्राचीन किन्तु सत्य कहानी है। मैं आप लोगों के अनेक कहानियाँ सुना सकता हूँ, किन्तु आपने यह कहानी शायद पहले भी सुनी होगी। भारत के बिहार राज्य में नालन्दा नामक एक स्थान है, जहाँ भारत का एक प्राचीनतम विश्वविद्यालय था। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यह अपने विकास की पराकाष्ठा पर था। वहाँ लगभग दस हजार छात्रों के रहने की आवासीय व्यवस्था थी तथा चौंसठ विषयों की पढ़ाई होती थी। यह वही विश्वविद्यालय है जहाँ ईसा मसीह ने अपने जीवन के तेरह वर्ष बिताये थे। वहाँ से गुरुओं की एक परम्परा प्रारम्भ हुई जो तिब्बत तक गई। इस परम्परा के तिब्बती गुरुओं में तिलोपा, नरोपा, मरोपा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मारपा ही बौद्ध धर्म को तिब्बत ले गये थे। कुछ समय पश्चात्, एक दिन सुबह के समय एक दस-बारह वर्ष का बालक उनके घर पर पहुँचा तथा उनसे आध्यात्मिक प्रबोधन विज्ञान की शिक्षा हेतु निवेदन किया। गुरु ने लड़के को देखकर कहा, 'अरे धूर्त, तू प्रबोधन चाहता है। यहाँ से बाहर जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें ठोकर मारूँगा।' लड़का चला गया, किन्तु वह ठीक गुरु के दरवाजे के बाहर जाकर बैठ गया। गुरु ने भीतर ही भोजन किया तथा अपने अनेक कार्यों का सम्पादन किया। दोपहर के समय जब वे बाहर आये तो उन्होंने पाया कि वह उनके दरवाजे पर बैठा हुआ है। 'क्या, तुम अभी तक यहीं हो', वे चिल्ला उठे तथा उसे एक ठोकर लगाई। 'यहाँ से दूर भागो', उन्होंने गरज कर कहा, 'मैं पुन: तुम्हें देखना नहीं चाहता।' 'किन्तु मैं तो दीक्षा के लिये आया हूँ।' लड़के ने नम्रतापूर्वक कहा। गुरु ने कहा, 'नहीं, नहीं, तुम किसी चीज के लायक नहीं हो, तुम नीच हो, सुअर हो।'

उन्होंने उसे अनेक गालियाँ दी, किन्तु लड़का उस स्थान से नहीं डिगा, क्योंकि वह तैयार होकर आया था। उसने अपने अहंकार को आलोचना, कटाई-छटाई तथा विखण्डन के लिये तैयार कर लिया था। उसका नाम मिलारेपा था। बाद में वह तिब्बत का महान् योगी बना।

जब भी गुरु बाहर जाते, लड़के को गालियाँ देते। वे उसे बहुत बुरा, सड़ा हुआ मांस देते। उससे दुर्गन्ध निकलती तथा वह चमड़े के समान कड़ा होता। एक दिन गुरु कहीं बाहर गये थे। उनकी पत्नी ने उसे ताजा, गर्म मांस दिया और कहा, 'ओ मेरे बच्चे, इसे खाओ।' जब वह भोजन कर रहा था, गुरु वापस आ गये। वे यह देखते ही क्रोधित होकर चिल्लाए, 'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे तथा मेरी पत्नी के बीच क्या षड्यन्त्र चल रहा है। नहीं, यह अब अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। मैं तुम दोनों की हत्या कर दूँगा'। उन्होंने अपनी पत्नी को एक ठोकर लगाई और वे गिर गईं। तब उन्होंने लड़के की तरफ मुड़कर कहा, 'अरे नीच, यहाँ से दूर भागो। तुम मेरे दरवाजे के पास नहीं रह सकते; सामने वाली पहाड़ी पर अपनी कुटिया बनाओ।'

वह बेचारा लड़का नीचे से बड़े-बड़े शिलाखण्ड ढोकर पहाड़ी के ऊपर ले जाने लगा। और जब पर्याप्त पत्थर जमा हो गये तो उसने अपने लिये एक छोटी-सी कुटी बनाई। कुटी का निर्माण पूर्ण होने के बाद मिलारेप्पा उसमें रहना चाहता था। गुरु ने कहा, 'मैं उसका निरीक्षण करने जा रहा हूँ।' कुटी को देखकर उन्होंने कहा, 'यह एक सुन्दर घर है, किन्तु यह ठीक नहीं है।

यदि तुम यहाँ रहोगे तो आलसी हो जाओगे। तुम सोते रहोगे और यह कहने वाला कोई नहीं होगा कि तुम्हें क्या करना है। अधिक अच्छा यह होगा कि तुम नीचे ही आ जाओ।'

अत: सम्पूर्ण घर को तोड़ना पड़ा तथा लड़के को समस्त शिलाखण्डों को ढोकर नीचे ले जाना पड़ा। अब मुझे यह बताइये कि कौन सनकी था, गुरु या चेला? अगर मुझे निर्णय करना होता तो मैं उनके साथ नहीं रहता, क्योंकि मैं ऐसा गुरु पसन्द करता जिसका तर्क तथा सामान्य बुद्धि से थोड़ा सम्बन्ध हो। वे समस्त तर्कों से परे थे। मैं समझ नहीं पाता कि वे वास्तव में क्या सोच रहे थे।

सभी पत्थर एवं अन्य सामान नीचे लाये गये। एक दिन वह अपने कन्धे पर एक शिलाखण्ड लेकर नीचे आ रहा था। उसका शरीर घावों से भर गया था। उसके पैर में छाले पड़ गये थे तथा खून बह रहा था। वह इतना थका हुआ था कि पत्थर कन्धे से गिर गया तथा लुढ़कता हुआ नीचे चला गया। मिलारेप्पा ने सोचा, 'ठीक है, यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है।' वह दूसरा पत्थर उठाने के लिये पीछे लौट गया। इसी समय गुरु पहुँच गये। उन्होंने पूछा, 'अरे, तुम कहाँ जा रहे हो?' मिलारेप्पा ने उत्तर दिया, 'मैं दूसरा शिलाखण्ड लेने जा रहा हूँ।' गुरु ने कहा, 'किन्तु तुम तो नीचे आ रहे थे, हैं न?' मिलारेप्पा बोला, 'हाँ। 'फिर क्या हुआ?' गुरु ने पूछा। 'पत्थर लुढ़क गया', मिलारेप्पा ने कहा। 'तुम भी क्यों नहीं लुढ़क जाते हो', गुरु ने पूछा। यह कह कर उन्होंने उसे एक ठोकर लगाई और ऐसा कहा जाता है कि वह पहाड़ी के नीचे आ गिरा।

यह कहानी और आगे जाती है। बाद में जब मिलारेप्पा को दीक्षा मिली तो वह अपने सिर पर मिट्टी का जलता हुआ दीपक रख कर ध्यान में बैठता था। वह पूर्णत: स्थिर अवस्था में घंटों पद्मासन में बैठा रहता था। दीपक न तो झिलमिलाता था और न ही गिरता था। मिलारेप्पा आवासीय स्थानों से दूर गुफा में रहता था। वह सिर्फ जड़ी-बूटियों एवं नदी के जल से ही अपना काम चलाता था। उसका सम्पूर्ण शरीर घास के समान हरा हो गया था। उधर से गुजरने वाले लोग उसे शरीर को बिना हिलाये, शान्त और अविक्षुब्ध अवस्था में, निरन्तर कई दिनों तक बैठा हुआ देखते थे। मिट्टी का दीपक भी लगातार उसके सिर पर रहता और वह नीचे नहीं गिरता। इस लम्बी अवधि में वह शरीर को फैलाता भी नहीं था। यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध का एक अति उग्र उदाहरण है।

संसार में बहुत कम गुरु मिलते हैं, क्योंकि शिष्यों की संख्या भी बहुत कम ही होती है। जहाँ माँग होगी वहीं आपूर्ति भी होगी। यदि आपकी माँग सही होगी तो असली गुरु भी मिल जायेंगे। यदि आप सुखद, मधुरभाषी और प्रशंसक गुरु की इच्छा करेंगे तो आपको ऐसे ही गुरु मिल जायेंगे। आवश्यक बात यह है कि व्यक्ति को एक शिष्य बनना चाहिये और यह स्वीकार करना चाहिये कि उसे आन्तरिक सफाई की आवश्यकता है। आपको आन्तरिक सफाई की आवश्यकता है। आप यह नहीं कह सकते कि आपको इसकी आवश्यकता नहीं है। यदि आपको आन्तरिक सफाई की आवश्यकता नहीं है तो आप गुरु होंगे और मैं चेला।

यदि आप सक्षम हैं तो इस आन्तरिक सफाई हेतु स्वयं अपना गुरु बनिए। यदि आप स्वयं अपना गुरु नहीं बन सकते हैं तो कोई गुरु ढूँढ़ लीजिये। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वे क्या करते हैं, क्या कहते हैं और आपके प्रति कैसा दुर्व्यवहार करते हैं। मुख्य बात यह है कि आपको उन्हें स्वीकार करना होगा।

अन्तिम यात्रा

अपनी तरुणाई में तुमने यात्रायें की हैं,
वे खोज, प्रयास और संघर्ष के दिन थे–
भटकना और उत्सुक रहना
कि तुम कौन हो?
जगत् का अर्थ और प्रयोजन क्या है?
अपनी निर्भय साहसिक यात्राओं में लगे रहो,
क्योंकि अब तुम नि:संग नहीं हो,
अब तुम्हें प्रेम की छत्रछाया प्राप्त है।
अदृश्य कर तुम्हें निर्देश दे रहे हैं।
संभव है तुम्हारे पग डगमगायें,
तुम्हारी शक्ति चुकती सी लगे,
आश्वस्त रहो,
तुम अपने अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचोगे।
बहादुरी के साथ आगे बढ़ते रहो

और अगर तुम क्लान्ति अनुभव करो
तो रुक कर अपने सामने
उन चरम ऊँचाइयों की गरिमा पर दृष्टिपात करो,
क्योंकि हारा थका मन
लौट चलने के विचारों और प्रलोभनों का
शिकार हो जा सकता है।
तुमने अपने पीछे क्या छोड़ा है,
जो तुमसे लौटने की माँग कर रहा है,
तुम्हारी भौतिक महत्त्वाकांक्षायें
अपने दिन पूरे कर चुकी हैं।
संभव है, तुम इस बात को पूरी तरह समझ नहीं पाये हो,
तुम्हें लगता है कि तुम न यहाँ के रहे न वहाँ के।
लेकिन वास्तव में तुम मेरे साथ हो,
तुम लौकिक जीवन की निस्सारता जान चुके हो,
फिर भी सत्ता की अन्य सतहों तक नहीं पहुँच पाये हो।
तुम्हारी स्थिति कहाँ है, यह भी तो निश्चित नहीं बता सकते,
लेकिन मैं जानता हूँ
कि तुम कौन हो, तुम्हारा घर कौन-सा है,
और कहाँ वह सब पाओगे जिसकी तुम्हें अभीप्सा है।
विगत की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती–
वह था तुम्हारी आत्मा की यात्रा का एक पक्ष,
तुम्हारी वास्तविक सत्ता को ढूँढ़ निकालने का एक प्रयास
तुम जानने लगे हो कि तुम क्या हो,
और तुम्हारे जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है?
भौतिक जगत् में लौटकर तुम निरुद्देश्य हो जाओगे,
तुम्हारा जीवन निरर्थक हो जायेगा।
वत्स! अपनी आँखें सदा लक्ष्य पर टिकाये रखो,
तुम लौटकर आ मिलने वाले मम् आत्मज हो।
अब देखता हूँ, कौन तुम्हें मुझसे विलग कर सकता है,
तुम तो प्रेम और प्रकाश के घेरे में सुरक्षित हो।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

शंका समाधान

हम लोग गुरु के प्रति कैसे समर्पण करते हैं?

गुरु के प्रति समर्पण का तात्पर्य आपके जीवन को अशक्त या गतिहीन बनाना नहीं है। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि गुरु और आपके बीच कोई भेद नहीं है। आपका शरीर, मन और दैनिक जीवन अबाध गति से चलते रहता है। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आप सोचने लगते हैं कि गुरु आप से भिन्न नहीं है। यह पूर्ण एकत्वभाव की अवस्था है।

शिष्य तीन प्रकार के होते हैं: सामान्य या गृहस्थ शिष्य, संन्यासी या आश्रमवासी शिष्य और अन्तस्थ शिष्य। तीसरे प्रकार के शिष्य बिरले ही ही पाये जाते हैं। प्रत्येक प्रकार के शिष्य के लिये समर्पण के विभिन्न आयाम होते हैं। सामान्य शिष्य भक्ति के माध्यम से समर्पण करते हैं। आश्रमवासी शिष्य अपनी इच्छाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ समर्पित करते हैं। अन्तस्थ शिष्यों को अपना सर्वस्व समर्पित करना होता है।

गुरु अपने शिष्यों को विभिन्न उद्देश्यों के लिये निर्धारित करते हैं। वे अपने गृहस्थ शिष्यों को इस प्रकार से शिक्षा देते हैं जिससे वे मन की शान्ति तथा जीवन के प्रति सही समझदारी प्राप्त कर सकें। अत: यदि वे गुरु के प्रति सिर्फ भक्तिभाव रखते हैं तो इतना ही पर्याप्त है। उन्हें अपने व्यवसाय, परिवार या बच्चों का समर्पण नहीं करना पड़ता है। किन्तु उन्हें सच्ची भक्ति अर्पित करनी होगी ताकि गुरु उनकी सहायता कर सकें। वे प्रथम प्रकार के शिष्य होते हैं।

आश्रमवासी शिष्य गुरु-आश्रम में या उसकी अन्य शाखाओं में रहते हैं। गुरु कम-से-कम बारह वर्षों तक उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप को नियन्त्रित करते हैं। वे उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिवर्तित करते हैं। गुरु न सिर्फ उनके सोचने के ढंग को बदलते हैं बल्कि उनके खाने, सोने, चलने-फिरने और बात करने के तरीकों को भी परिवर्तित करते हैं। वे यह भी नियन्त्रित करते हैं कि ऐसे शिष्य कितनी बार शौचालय में जाते हैं। इस प्रकार एक आश्रमवासी शिष्य बारह वर्षों तक पूर्णत: गुरु के नियन्त्रण में रहता है ताकि जब वह उस जीवन से बाहर आता है तो उसका सम्पूर्ण जीवन बदल चुका होता है। तब वह अपने गुरु के उपदेशों का एक उत्तम सन्देश-वाहक बन सकता है।

तृतीय श्रेणी के शिष्य दुर्लभ होते हैं। वे अन्तस्थ शिष्य होते हैं तथा गुरु स्वयं उनका चयन करते हैं। सर्वप्रथम उनकी जाँच की जाती है तथा जो सुयोग्य पाये जाते हैं, उन्हें ही लिया जाता है। तब उनके जीवन के प्रत्येक पहलू को नियन्त्रित किया जाता है–उनका खाना, सोना, सोचना, उनकी भावनाएँ तथा वासनाएँ। जिस प्रकार आप स्विच को नियन्त्रित करते हैं, उसी प्रकार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नियन्त्रित किया जाता है। ऐसे अन्तस्थ शिष्य कभी भी युग में बड़ी संख्या में नहीं मिलते। आप उन्हें अपनी अंगुलियों पर गिन सकते हैं। वे गुरु की शक्ति के प्रमुख संचारण स्तम्भ होते हैं। आश्रमवासी शिष्य गुरु के ज्ञान एवं उपदेशों के संचारक होते हैंकिन्तु शक्ति का संचारण अन्तस्थ शिष्यों द्वारा ही होता है। यही कारण है कि वे बहुत कम संख्या में पाये जाते हैं। आश्रमवासी शिष्यों की संख्या हमेशा अधिक रहती है और सामान्य शिष्यों की संख्या तो लाखों में हो सकती है।

अत: तीसरी प्रकार के शिष्य शक्ति का संचारण करते हैं, दूसरे प्रकार के शिष्य गुरु के सिद्धान्तों-आदर्शों-उपदेशों का प्रतिपादन करते हैं और प्रथम प्रकार के शिष्य उन सिद्धान्तों-आदर्शों-उपदेशों का अनुकरण करते हैं। समर्पण के अभ्यास का स्वरूप भी शिष्य की श्रेणी पर निर्भर करता है। प्रथम श्रेणी का शिष्य भक्तिभाव, द्वितीय श्रेणी का शिष्य अपना जीवन और तृतीय श्रेणी का शिष्य अपनी आत्मा समर्पित करता है। इस प्रकार समर्पण का स्वरूप शिष्य की इच्छा पर निर्भर रहता है और यदि कोई शिष्य अपना सर्वस्व न्योछावर करना चाहता है तो किसी को भी इस बात का विरोध नहीं करना चाहिये।

यदि शिष्य स्वयं को गुरु के प्रति समर्पित न कर सके तो क्या होता है?

शिष्य को स्वयं को समर्पित करने में लम्बा समय लगता है। अहंकार के अवरोध के कारण समर्पण की प्रक्रिया बहुत कठिन हो जाती है, तथापि समय बीतने के साथ और साधना की सहायता से अहंकार धीरे-धीरे कमजोर होता जाता है और सहजता से समर्पण का भाव उत्पन्न होता है।

मेरे गुरु स्वामी शिवानन्द जी दयालुता और दानप्रियता की मूर्ति थे। और मेरे व्यक्तित्व की विशेषताएँ थी–आत्मानुशासन, समय पालन एवं प्रत्येक कार्य की पूर्णता। तथापि अन्तत: समर्पण का भाव जगा।

मेरे गुरु एक महान् और असाधारण पुरुष थे। और क्योंकि मुझमें सोचने की कुछ क्षमता थी, हमारे विचारों में प्राय: टकराहट होती थी। मैं उनके कुछ कार्यों से सहमत नहीं हो पाता था। उदाहरण के लिये, यदि किसी चोर को दण्ड देता था तो वे उसे फल और बिस्कुट भेजते थे। मैं सोचा करता था कि मेरे गुरु का क्या स्तर है। वे कहते थे कि 'अप्रिय बातें मत कहो या उसे पदच्युत मत करो।' किन्तु ये बातें मेरी प्रशासकीय तथा संस्थागत समझदारी के परे थीं। ऐसी स्थिति में मैं किस प्रकार समर्पण कर सकता था? वे कहते, 'बैठ जाओ और चुप रहो।' और इस पर मेरा मन निश्चित रूप से प्रतिक्रिया करता था। अनेक वर्षों के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वे सही और मैं गलत था।

आप तो जानते हैं कि आश्रमों में मेरा कभी भी विश्वास नहीं था। किन्तु बाद में मुझे अनेक आश्रमों की स्थापना और निर्माण में सम्मिलित होना पड़ा। मैं योग की आलोचना किया करता था और कहा करता था कि यह तो जानवरों के लिये है। इसका कारण यह था कि वेदान्त मेरा प्रिय विषय था। और वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति मुक्त है तथा साधना या मन को नियन्त्रित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु मैंने अपने अन्दर में स्वामी शिवानन्दजी के आदेशों का प्रबलता से अनुभव किया और उनके सन्देश ने मुझे विवश कर दिया। अन्तत: बात मेरी समझ में आ गई और मैं पूर्णत: समर्पित हो गया। यद्यपि स्वामीजी अब इस संसार में नहीं हैं, किन्तु मैं कभी भी उनका वियोग अनुभव नहीं करता हूँ।

शिष्य स्वयं को किस प्रकार खाली करता है?

जब शिष्य गुरु से सम्बन्ध स्थापित करता है तो उसे अपने अहंकार का उन्मूलन करने के लिये बहुत कठिन परिश्रम करना चाहिये। यदि वह समर्पण करने में सक्षम है तो अहंकार बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न नहीं कर सकता। किन्तु यदि वह इस कार्य में सक्षम नहीं है तो गुरु को स्वयं उसका अहंकार विच्छेदन करना पड़ता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की शल्य-चिकित्सा की जाती है उसी प्रकार योग में भी एक शल्य-चिकित्सा की जाती है, जिसे अहंकार विच्छेदन कहते हैं। एक शिष्य के जीवन में अहंकार का उन्मूलन सर्वाधिक कठिन कार्य होता है। वास्तव में बहुत कम लोग अहंकार से कतरा कर निकल जाने में सक्षम होते हैं, शायद लाखों में एक।

गुरु के प्रति समर्पण का क्या अर्थ है?

समर्पण का उद्देश्य सभी स्तरों पर गुरु का सक्षम उपकरण बनना है। एक पूर्णत: समर्पित शिष्य से जब गुरु कहते हैं कि 'यह तुम्हारे द्वारा होगा', तो वैसा ही होता है। एक समर्पित शिष्य के माध्यम से गुरु आश्चर्यजनक कार्य कर सकते हैं।

शिष्य की मनोवृत्ति इस प्रकार की होनी चाहिए: 'मैं कुछ भी नहीं हूँ, मैं सिर्फ माध्यम हूँ, एक नाली हूँ या मार्ग हूँ।' यह भक्तियोग है या पूर्ण आत्मसमर्पण। यदि आप आध्यात्मिक जीवन या योग का अभ्यास करते हैं तो वह भी एक अहंकार जनित कार्य ही है। यह एक सकारात्मक कार्य हो सकता है। किन्तु सम्प्रेषण हेतु आवश्यक समर्पण के सन्दर्भ में यह भी अहंवादिता ही है।

आध्यात्मिक जीवन के क्या खतरे हैं?

एक शिष्य के रूप में अपने सम्पूर्ण जीवन में मैंने अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को बहुत गौर से देखा है जो एक शिष्य के जीवन के लिये बहुत खतरनाक हैं। जब मैं अपने गुरु स्वामी शिवानन्द जी के साथ रहता था, मैं और अन्य अनेक स्वामी प्राय: सोचा करते थे कि हमारा ज्ञान उनसे अधिक है। वास्तव में हमारा विश्वास था कि संस्था का विकास सिर्फ हम लोगों के प्रयासों के परिणामस्वरूप हो रहा है।

हमारे अन्दर पर्याप्त बुद्धिवादिता थी। इस कारण हम अपने गुरु के निकट बाल-सुलभ भावना से नहीं जा पाते थे। एक बार हम लोगों ने अपने गुरु के सामने इस समस्या को प्रस्तुत किया। हमने कहा,'हम प्राय: अनुभव करते हैं कि हम आपसे अधिक जानते हैं और अनेक बार हम अनुभव करते हैं कि आप गलतियाँ करते हैं।' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'तुम लोग ठीक कहते हो।' यह उनकी महानता थी और हम लोगों की क्षुद्रता। यदि आप एक शिष्य बने हैं, चाहे एक सामान्य शिष्य या संन्यासी शिष्य तथा आपने गुरु से एक मन्त्र प्राप्त किया है, तब यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि वे आपके हृदय में एक अखण्ड ज्योति की तरह विराजमान रहें। गुरु के प्रति सतत सजगता रखते हुए आप अपने सद्गुरु को विकसित करने में सक्षम होंगे जोकि आपके अन्दर ही निवास करते हैं।

सम्प्रेषण एवं शिक्षण

आजकल सभी क्षेत्र के लोगों को पूर्व की अपेक्षा योग का बेहतर ज्ञान है, क्योंकि वे वर्षों से योग कक्षाओं में सम्मिलित होते रहे हैं। छात्रों को कक्षा में ज्ञान प्रदान करना शिक्षण की सर्वाधिक प्रचलित पद्धति रही है। इतिहास, भूगोल, गणित, दर्शन, विज्ञान और योग आदि विषय औपचारिक कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं। कक्षा में एक शिक्षक खड़े होकर बोलते हैं और छात्र उनके सामने बैठकर सुनते हैं। वे बौद्धिक दृष्टिकोण से बोलते हैं। उन्होंने पुस्तकों तथा अपने शिक्षकों से जो कुछ सीखा है उसे दुहराते हैं। वे अपनी आत्मा से या व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर नहीं बोलते हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षण की अन्य अवधारणा थी जिसे सम्प्रेषण कहा जाता था। इसके अनुसार छात्रों को सीखने के लिये इन्द्रियों की बाह्य सहायता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। यह प्रक्रिया पूर्णत: आन्तरिक थी। तन्त्रशास्त्र में सम्प्रेषण एक परम्परागत पद्धति थी, जिसका उपयोग गुरु द्वारा शिष्यों को अपना ज्ञान हस्तान्तरित करने के लिये किया जाता था। इस प्रकार किसी ज्ञान के मूल प्रतिपादक तथा सैंकड़ों या हजारों वर्ष बाद उसे प्राप्त करने वाले एक शिष्य के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहता था।

इन दोनों पद्धतियों के बीच मुख्य अन्तर यह है कि एक बौद्धिक है और दूसरी अन्तर्दर्शी। एक का आधार बाह्य अध्ययन, तर्क और अनुभव द्वारा प्राप्त अवधारणाएँ हैं। दूसरी, एक प्रकार का आन्तरिक अनुकूलन है जो मस्तिष्क के एक अतीन्द्रिय केन्द्र में उच्च आवेशयुक्त शक्ति स्फुल्लिंग के प्रवेश के कारण उत्पन्न होता है।

आज वर्षों के योग प्रशिक्षण के बावजूद बहुत कम लोग आध्यात्मिक प्रगति कर पाये हैं। उनके अहंकार, लोभ, पूर्वाग्रह, भय और मानसिक

जटिलताएँ पूर्ववत् बनी हुई हैं। ऐसा इसलिये है कि वे सिर्फ बौद्धिक प्रक्रिया से योग सीखते रहे हैं तथा आध्यात्मिक दृष्टि से इसे आत्मसात् नहीं कर सके हैं। परिणामस्वरूप वे अब तक जीवन की कमजोरियों का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं या प्रसन्नता की अवस्था में स्थित नहीं हो सके हैं।

जब कोई शिष्य या साधक सम्प्रेषण के माध्यम से योग सीखता है तब वह गुरु के आश्रम में निवास करता है। वह किसी कक्षा में सम्मिलित नहीं होता, बल्कि एक यौगिक वातावरण में रहते हुए अन्तरात्मा के माध्यम से योग सीखता है। गुरु के साथ निवास करने की प्रक्रिया में एक घनिष्ठ सम्पर्क की अवस्था विकसित होती है। इसके परिणामस्वरूप शिष्य की आन्तरिक चेतना का विस्तार होता है। और वह गुरु के ज्ञान को ग्रहण करने में सक्षम हो जाता है।

गुरु के साथ रहने का तात्पर्य उनके कमरे में रहने से नहीं है। इसका अर्थ गुरु के साथ आध्यात्मिक सहवास से है। जब मैं ऋषिकेश में अपने गुरु के साथ रहता था तो यदा-कदा ही उनसे मिल सकता था। तथापि प्रतिक्षण मैं उनके साथ था और उनके कार्यों में निरन्तर लगा रहता था। ऋषिकेश आश्रम बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है। मेरा कमरा मेरे गुरु की कुटीर से काफी दूर था। यदि मुझे वहाँ दिन में दो बार जाना पड़ता तो मैं थक जाता। किन्तु मैं सुबह से शाम तक कार्यरत रहता था तथा अपने प्रत्येक कार्य में गुरु की उपस्थिति का अनुभव करता था। यह तो आप जानते ही हैं कि जब आप किसी को प्यार करते हैं तब वह आपके अन्दर रहता है तथा आप उसके अन्दर। गुरु और शिष्य के बीच भी यही स्थिति होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्रदान करने के दो तरीके हैं। आपने शिक्षण के माध्यम से योग सीखने का अनुभव प्राप्त कर लिया है, किन्तु अब आपको बौद्धिक रूप से योग सीखने का प्रयास बन्द कर देना चाहिये। अब आप इसे आध्यात्मिक रूप से आत्मसात् करना प्रारम्भ कीजिये। इस प्रक्रिया की व्याख्या करने लिये मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। सर्वप्रथम एक विद्युत शक्तिगृह से विद्युत को संचारक केन्द्र तक भेजा जाता है। वहाँ से यह विभिन्न विद्युत स्तम्भों से होती हुई आपके घरों तक पहुँचती है। अब यह पूर्णत: आप पर निर्भर है कि विद्युत का उपयोग करने के लिये आप स्विच ऑन करते हैं या नहीं।

यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन में भी है। विद्युत धारा शिष्य तक प्रवाहित हो रही है। स्विच भी आपके पास है, किन्तु यह पूर्णत: उस पर निर्भर है कि

वह इसका उपयोग करता है या नहीं। जब लोग मुंगेर आश्रम में योग सीखने के लिये आते हैं तब सामान्यत: मैं यदा-कदा ही उनसे मिलता हूँ– या तो दिन में एक बार या सप्ताह में एक बार। किन्तु वे प्राय: सोचते हैं कि एक गुरु के रूप में मैं उनकी अवहेलना कर रहा हूँ। चूँकि मैं उनसे हमेशा नहीं मिलता और बातें नहीं करता हूँ, इसलिये वे सोचते हैं कि मैं उन्हें शिक्षा नहीं दे रहा हूँ। किन्तु औपचारिक वर्गों की पद्धति से अनेक वर्षों तक योग सिखाने के बाद मैं अनुभव करता हूँ कि शारीरिक सम्पर्क ही संचार का अन्तिम साधन नहीं है। गुरु और शिष्य को सम्प्रेषण के माध्यम से एक भिन्न आयाम में, एक भिन्न स्तर पर बातें करनी चाहिये।

जब मन शान्त होता है तो इन्द्रिय मार्ग बन्द हो जाते हैं और कुछ समय के लिये अहंकार का लय हो जाता है। तब आत्मा की शक्ति अत्यधिक सबल हो जाती है। यह भौगोलिक तथा मनोभावनात्मक सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती है। और तब दूरस्थ व्यक्ति भी एक-दूसरे से मिल सकते हैं एवं उनके हृदय के बीच बातें हो सकती हैं।

एक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा सामंजस्यपूर्ण मौन है। आप इसका अनुभव कैसे प्राप्त करते हैं? इन्द्रिय या मनोभावनात्मक संचार द्वारा नहीं, बल्कि स्वयं को मौन के साथ समस्वरित करके। सम्प्रेषण की प्रक्रिया की अनुभूति प्राप्त करने के लिये आपको ऐसा करना ही होगा। आपका कठोर और गम्भीर होना अनुचित है। यथासम्भव प्रसन्नचित्त और सहज होने का प्रयास कीजिये। आत्मा की कोई सीमा नहीं होती, क्योंकि वह तो एक ही है। सीमा तो आदमी के मन में है, क्योंकि उसने उसे विशिष्ट, व्यक्तिगत बना दिया है। जिस प्रकार आपकी अपनी पत्नी, बच्चे, घर, नाम और धर्म होते हैं, उसी प्रकार आपने व्यक्तिगत या विशिष्ट मन की अवधारणा भी विकसित कर ली है। एक बार इस व्यक्तिगत मन को समर्पित कर देने के बाद वह सामंजस्यपूर्ण हो जाता है और तब उसे ब्रह्माण्डीय मन कहा जाता है।

अत: अपने विशिष्ट या व्यक्तिगत मन को बाहर निकाल दीजिये और यथासम्भव शिथिल, विश्रान्त बनिये। सत्संग, कीर्तन और आध्यात्मिक प्रवचनों द्वारा यह किया जा सकता है। अपने मन, आदतों और जीवन-पद्धति को सहज बनाकर भी यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है। मैं सदैव आपके साथ रहने का प्रयास करूँगा, शारीरिक रूप में नहीं, आध्यात्मिक रूप में।

सम्प्रेषण का रहस्य

शिक्षक द्वारा छात्र को ज्ञान प्रदान करने की दो पद्धतियाँ हैं। एक का नाम है शिक्षण और दूसरे का सम्प्रेषण। जब मौखिक रूप से ज्ञान प्रदान किया जाता है तथा उसे ग्रहण करने, समझने और विश्लेषण का आधार बुद्धि होती है तब इस पद्धति को शिक्षण कहते हैं। किन्तु जब ज्ञान का संचार सूक्ष्म स्तर पर हो, संचार का वाहन अवचेतन मन हो तथा ग्रहण करने वाला मन भी अवचेतन ही हो, तो इस पद्धति को सम्प्रेषण कहते हैं।

निश्चयात्मक प्रमाण

समय-समय पर ऐसे गुरु और शिष्य हुए हैं जिनके बीच ज्ञान का संचार बिना किसी भौतिक सम्पर्क के होता रहता है। ऐसे संचार के मार्ग में भौगोलिक बाधाओं का कोई अर्थ नहीं होता। आधुनिक विज्ञान द्वारा भी सम्प्रेषण के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में सोवियत रूस के दो वैज्ञानिकों द्वारा किये गये शोध से आश्चर्यजनक परिणाम सामने आये हैं। उन लोगों ने अतीन्द्रिय बोध की सम्भावना के सम्बन्ध में सकारात्मक प्रमाण एकत्र करने के उद्देश्य से सम्प्रेषण पर शोध किया था। यह सोवियत रूस में किये गये परामनोवैज्ञानिक प्रयोगों का एक अंग था।

इस प्रयोग में दो ऐसे व्यक्ति सम्मिलित किये गये थे, जिनके बीच दूरसंवेदी संचार चल रहा था। सर्वप्रथम दो मीटर की दूरी से किये गये संचार को अंकित किया गया। धीरे-धीरे इस दूरी को बढ़ाया गया और अन्ततः पाया गया कि वे 2500 किलोमीटर की दूरी से भी दूरसंवेदी संचार सम्प्रेषित कर सकते थे तथा उसे ग्रहण कर सकते थे। तदुपरान्त उन दोनों को विशेष रूप से बने हुए एक विद्युत-ऊष्मारोधी कक्ष में बंद कर दिया गया, जिसे फैराडे

का पिंजरा कहा जाता है। उसमें विद्युत-चुम्बकीय एवं रेडियोधर्मी तरंगों का प्रवेश नहीं हो सकता है। यदि आप उसके अन्दर एक ट्रान्जिस्टर का स्विच ऑन करेंगे तो वह नहीं बजेगा। यह कक्ष सभी प्रकार के सूक्ष्म कम्पनों से पूर्णत: अवरुद्ध रहता है, किन्तु इस फैराडे के पिंजरे में भी संचार सफल हो गया। यह शक्तिशाली मानस तरंगों के अस्तित्व का एक निश्चयात्मक प्रमाण था। उच्च आवृत्तियों से युक्त ये तरंगें मानसिक स्तर पर या आत्मिक क्षेत्र में कार्य करती हैं। विभिन्न प्रकार की शक्तियों के संचार हेतु विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र, रेडियोधर्मी क्षेत्र, आदि जैसे अनेक क्षेत्र होते हैं। इसी प्रकार मानसिक या आत्मिक क्षेत्र नामक एक सूक्ष्म शक्ति क्षेत्र होता है जो गुरु के सम्प्रेषण का माध्यम होता है। वेदान्तिक शब्दावली में इसे विज्ञानमय कोश कहते हैं।

शास्त्र पाँच प्रकार के कोशों की चर्चा करते हैं (कोश का शाब्दिक अर्थ शरीर या आवरण है)। ये हैं–अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। पहला सर्वाधिक स्थूल और अन्तिम सूक्ष्मतम है। इनमें से प्रत्येक कोश का एक विशेष शक्ति क्षेत्र है। आप में से जिन लोगों ने किर्लियन फोटोग्राफी के बारे में थोड़ा भी अध्ययन किया है, वे यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि इस भौतिक शरीर का भी एक शक्ति क्षेत्र है। ये क्षेत्र सम्प्रेषण-मार्गों से सम्बद्ध होते हैं।

जैसा कि आप जानते हैं, प्राण का सम्प्रेषण अनेक प्रकार से हो सकता है। प्राणिक उपचार सिद्धान्त या प्राणविद्या विज्ञान के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के पास अतिरिक्त शक्ति है तो वह दूसरों को वह शक्ति प्रदान कर सकता है। पहले ऐसे उपचारकों को नीम हकीम कहा जाता था, क्योंकि चिकित्सा विज्ञान के पास प्राणिक शक्ति के सम्प्रेषण से सम्बद्ध समझदारी का पूर्ण अभाव था। किन्तु हाल में वैज्ञानिक शोधों द्वारा प्राणिक उपचार की प्रमाणिकता सिद्ध हुई है। इन खोजों से यह स्पष्ट हुआ कि प्राणिक उपचारकों की हथेलियों से प्राणिक शक्ति प्रवाहित होती है। यह एक प्रकार की चुम्बकीय शक्ति होती है और अब यूरोपीय देशों में ऐसे व्यावसायिक आध्यात्मिक उपचारकों के लिये प्रमाण-पत्र प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। तभी वे अपना व्यवसाय कर सकते हैं। आधुनिक उपकरणों द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति की हथेलियों से चुम्बकीय आवेग या विकिरण की अतिरिक्त मात्रा प्रवाहित होती है। ये प्रयोग कई प्रकार से किये जाते हैं। उनमें से एक है किर्लियन फोटोग्राफी। इस प्रयोग में हाथों को बहुत उच्च विद्युत वोल्टेज

के प्रभाव क्षेत्र में डाला जाता है। इससे हाथों से प्रवाहित होने वाले चुम्बकीय आवेग के क्षेत्र का चित्र लेना सम्भव हो जाता है।

एक व्यक्तिगत अनुभव

इस प्रकार प्राणमय कोश की रचना प्राणिक शरीर से होती है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सम्प्रेषित की जा सकती है। किन्तु लोग कहते हैं कि इसकी सीमाएँ हैं। परन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिये प्राण की कोई सीमाएँ नहीं हैं। महाराष्ट्र के एक व्यक्ति के माध्यम से इस सम्बन्ध में मुझे एक व्यक्तिगत अनुभव हुआ। उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें भगवान दत्तात्रेय की प्रतिमा स्थापित की है।

जब भी सर्पदंश की कोई घटना घटती है, उन्हें टेलीग्राम से इसकी सूचना दी जाती है। टेलीग्राम प्राप्त करते ही वे मन्दिर के अन्दर जाकर उस पर अपना हाथ रखते हैं और सर्पदंश से पीड़ित व्यक्ति अविलम्ब पुनर्जीवन प्राप्त करता है।

जब मैंने इसके सम्बन्ध में सुना तो मेरे मन में उस उपचारक से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने अपने परिव्राजक जीवन के छः महाने उनके गाँव में बिताये। जब मैं उनके आश्रम में गया तो उन्होंने मेरा हार्दिक स्वागत किया तथा अपने शिष्यों को सम्बोधित करने का निवेदन किया। मैंने उन्हें साधना के बारे में बताया और जब एक अभ्यास के क्रम में मैं आँख बन्द कर बैठा हुआ था तो उन्होंने मेरे गले में एक माला डाल दी। कुछ समय पश्चात् मुझे माला के गतिमान होने का अनुभव हुआ। आँखें खोलने पर मैंने देखा कि यह दुबोइया सर्प है, जो सर्वाधिक विषैले सर्पों में से एक है। मेरे हृदय की धड़कन तेज हो गई। उपचारक ने मेरी ओर देखकर कहा, 'चिन्ता न करें, यह आपको कोई कष्ट नहीं पहुँचायेगा, क्योंकि यह मेरा चेला है।' और उन्होंने जो कुछ कहा उसमें मुझे विश्वास था। उस रात भी एक टेलीग्राम आया। वे मुझे अपने साथ मन्दिर के अन्दर ले गये तथा दिखाया कि सर्पदंश से ग्रस्त व्यक्ति का उपचार वे किस प्रकार करते हैं, चाहे वे वहाँ से कितनी भी दूरी पर क्यों न हों। उन्होंने अपनी हथेली उठाकर कहा, 'प्राण सम्प्रेषित किया जा रहा है, मेरा जीवनरक्षक प्राण।' बाद में मुझे पता चला कि जिस व्यक्ति के लिये टेलीग्राम भेजा गया था उसे एक विषैले सर्प ने काटा था और वह जीवित है। इस प्रकार मैंने स्वयं देखा है कि प्राण का सम्प्रेषण किया जा सकता है और उसका एक क्षेत्र होता है जिसे प्राणिक क्षेत्र कहा जाता है।

मानसिक क्षेत्र

मन के भी स्थूल और सूक्ष्म क्षेत्र होते हैं, और आप अपने विचारों, भावनाओं, वासनाओं, ईर्ष्या-द्वेष तथा दया-करुणा जैसे भावों का सम्प्रेषण कर सकते हैं। हम अपने समस्त मानसिक गुणों या विशेषताओं का सम्प्रेषण कर सकते हैं। इस कार्य के लिये आपके पास एक मानसिक क्षेत्र है। गुरु और शिष्य के बीच जो सम्प्रेषण होता है वह सामान्यत: मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश के स्तर पर होता है। एक नया शिष्य गुरु के साथ मानसिक स्तर पर संचार स्थापित करने में सक्षम होता है। इस स्तर पर वह अपने विचारों, भावनाओं आदि के माध्यम से सम्पर्क करता है और उनका आशीर्वाद भी प्राप्त करता है।

जब संचार अधिक सशक्त और सुदृढ़ होता है तथा चेतना का स्तर ऊँचा उठता है तब गुरु और शिष्य के बीच आत्मिक स्तर पर सम्प्रेषण होने लगता है। विगत कुछ वर्षों से हम सम्प्रेषण की सम्भावनाओं पर कार्य कर रहे हैं। यह एक प्राचीन विज्ञान है। यही कारण है कि साधु, योगी और महात्मा लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। यह एक सामान्य नियम या परम्परा है। यदि आप किसी आश्रम में जायेंगे तो गुरु को प्राय: अनुपस्थित पायेंगे, उनसे मिलना असम्भव होता है। कारण स्पष्ट है। आप जितना ही अधिक एकान्तिक बनेंगे, सम्प्रेषण की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होगी। किन्तु जब आप गुरु के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं तथा प्रतिदिन कई बार उनसे मिलकर अपनी समस्याएँ उनके सामने रखते हैं, तब आपके मनोमय कोश पर जोर नहीं पड़ता है। किन्तु गुरु की अनुपस्थिति में आप उन्हें अभिव्यक्त नहीं करते हैं, और तब आप गुरु के बारे में निरन्तर सोचने लगते हैं। इस क्रम में आपके मन का विकास होने लगता है और एक समय ऐसा आता है कि आपकी चेतना अचानक एक विकसित अवस्था में पहुँच जाती है।

ज्योंही आप अपनी चेतना को ऊपर उठाने में सक्षम होते हैं, गुरु के साथ आपका सम्पर्क स्थापित हो जाता है। मन्त्र वह सूत्र है जो आपको अपने गुरु से बाँधता है। मन्त्र के माध्यम से सम्प्रेषण किया जा सकता है। इसीलिये मन्त्र को गुरु-मन्त्र कहा जाता है। आप अपने गुरु से जो भी मन्त्र प्राप्त करते हैं वह आप और आपकी आत्मा के बीच एक प्रकार की कड़ी का काम करता है। इस मन्त्र के अभ्यास द्वारा आप अपनी चेतना के स्तर को ऊँचा उठाने में सक्षम होते हैं।

एक बार मैंने पेरिस के बाहर स्थित योग विश्वविद्यालय के परिसर में एक सप्तदिवसीय विशेष संगोष्ठी का संचालन किया। इस सम्पूर्ण अवधि में मैं वहाँ था, पर छात्रों से नहीं मिला। मैंने सिर्फ संगोष्ठी का उद्घाटन और समापन किया। और इन दोनों कार्यक्रमों के बीच में मैंने कुछ नहीं किया। इस अवधि में वे दिये गये निर्देशों के अनुसार मन्त्र, मौन, उपवास आदि का अभ्यास करते रहे। रात्रि के समय, दस और बारह बजे के बीच, वे सम्पर्क स्थापित किया करते थे। और उनकी डायरी से मुझे पता लगा कि पाँचवें, छठे और सातवें दिन प्रत्येक छात्र इस कार्य में सफल हुआ। रात्रि के दस और बारह बजे के बीच मेरे मन में जो कुछ भी था, उसे ग्रहण करने में वे सफल हुए।

मण्डल–सम्प्रेषण का माध्यम

गुरु द्वारा सम्प्रेषित तथा शिष्य के आन्तरिक मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किया गया यह ज्ञान बौद्धिक प्रदूषण से पूर्णतया मुक्त होता है। मैं समझबूझ कर बौद्धिक प्रदूषण शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, क्योंकि वह वैसा ही है। बुद्धि एक अति अक्षम उपकरण है। विश्लेषण, गणित या आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर अध्यात्म विद्या को कदापि आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

तन्त्र के मण्डल होते हैं। यह एक चित्रात्मक अवधारणा है। हमारी परम्परा में काली, दुर्गा एवं अन्य देवी-देवताओं के लिये अलग-अलग मण्डल होते हैं। ये मण्डल भी सम्प्रेषण के माध्यम होते हैं। उदाहरण के लिये, बहुत से लोग शालिग्राम या शिवलिंग की पूजा करते हैं। ये भी मण्डल ही हैं। जब वे शालिग्राम की पूजा करते हैं तब यह सिर्फ एक धार्मिक परम्परा या अभ्यास नहीं होता। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है जिसके द्वारा आप अपनी चेतना को ऊपर उठा सकते हैं।

आपको एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिए। यदि आप तरंग-दैर्ध्य के साथ अपने मन को समस्वरित नहीं कर सकेंगे तो आपके लिये सम्प्रेषण को ग्रहण करना पूर्णत: असम्भव होगा। यदि आपके ट्रान्जिस्टर में केवल मध्यम तरंग है तो लघु तरंग से होकर आने वाले किसी भी सम्प्रेषण या प्रसारण को आप ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार यदि आप अपने मन को एक विशेष आवृत्ति तक ऊपर उठाने में सक्षम नहीं होंगे तो सम्प्रेषण सम्भव नहीं होगा। एक उच्चतर आवृत्ति तक मन को ऊपर उठाने के लिये एक विशेष प्रकार

के मण्डल का उपयोग किया जाता है। आपको साकार या निराकार उपासना के अनावश्यक विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। हम यह नहीं जानते हैं और न इस बात को महत्त्व ही देते हैं कि ईश्वर साकार है या निराकार, सगुण है या निर्गुण। इन बातों का हमारे लिये कोई महत्त्व नहीं है। हमारा सम्बन्ध सिर्फ एक विज्ञान से है जिसके माध्यम से मन अविलम्ब प्रतिक्रिया करता है।

ब्रह्माण्डीय मन

मन अनेक तत्त्वों से बना हुआ एक पदार्थ है। यह समरूप नहीं है। समरूप का अर्थ होता है एक तत्त्व से बना हुआ। इसकी रचना चौबीस तत्त्वों से हुई है। कुछ विचारकों के अनुसार यह छब्बीस तत्त्वों से बना है। इन तत्त्वों से पदार्थों की रचना होती है जिनके माध्यम से आप संगीत सुनते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं, आदि। इसे स्थूल मानस या स्थूल मन कहते हैं।

इस स्थूल मन को चूर्णित और विरलित करना तथा विशुद्ध बनाना है ताकि यह सूक्ष्म हो जाये। शक्ति विभिन्न स्तरों पर प्रकट हो सकती है, और मन अति उच्च आवृत्ति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्डीय मन का ही एक अंग है। धर्मशास्त्रों द्वारा इसे हिरण्यगर्भ की संज्ञा दी गई है। ऐसा लगता है कि कोई एक सम्पूर्ण मन है और हम सभी उसके अंग है। सम्पूर्ण शहर में एक ही विद्युत प्रवाहित हो रही है, किन्तु आप विभिन्न परिपथों को अलग-अलग कार्य करते हुए देखते हैं। विद्युत एक ही है। यह आप पर निर्भर है कि आप ट्यूबलाइट, निर्वातक पंखे या सामान्य पंखे में से किसके स्विच को ऑन करते हैं। इसी प्रकार असंख्य मन हो सकते हैं, किन्तु वे सभी एक ही मन के परिपथ हैं, जिसे ब्रह्माण्डीय मन या हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

आप ज्यों-ज्यों अपने मन के अवरोधों को तोड़ते हुए आगे बढ़ते हैं, आप अनुभव करने लगते हैं कि आप ब्रह्माण्डीय मन के ही एक अंग हैं। कबीर के एक गीत का अर्थ है, "घड़ा फूट गया। जल अपने स्रोत से एकाकार हो गया। तादात्म्य पूर्ण हुआ। तब अन्तर क्या रहा?" घड़े के फूटने के बाद उसके अन्दर के जल और तालाब के जल का भिन्न अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार मन की अनेक विशेषताएँ और गुण होते हैं। इसकी अपनी रचना, राग-द्वेष और वृत्तियाँ होती हैं। इन अवरोधों का विखण्डन करना ही होगा। यही एक शिष्य की सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट साधना है।

जब तक शिष्य अपनी पहचान तथा अपने व्यक्तिगत अहंकार से युक्त है, वह एक भिन्न तरंगदैर्ध्य पर स्थित होता है। और आपको एक बात समझनी चाहिये कि हम सभी एक निश्चित तरंगदैर्ध्य से समस्वरित होते हैं। वह क्या है? वह माया का तरंग-दैर्ध्य है।

तथापि यदि आप अपने मन के तरंगदैर्ध्य को बदल देते हैं तो आप उच्चतर तरंगदैर्ध्य से सम्बद्ध या उसके साथ समस्वरित हो सकते हैं। कभी-कभी अपने परिवार के किसी सदस्य का देहान्त हो जाने के कारण जब आप उद्विग्न हो जाते हैं तब एक भिन्न तरंगदैर्ध्य से समस्वरित हो जाते हैं। बहुत से लोग रात्रि के समय विचित्र ध्वनियों को सुनते हैं और डरावने चेहरों को देखते हैं, क्योंकि वे एक विशेष तरंगदैर्ध्य से समस्वरित होते हैं। इसलिये योग विज्ञान के अनुसार गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सन्दर्भ में सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिष्य को अपने मानसिक स्तर को ऊँचा उठाना होगा। गुरु-भक्ति के आधार पर ही यह सम्भव है।

गुरु-भक्ति उस प्रकार की भक्ति नहीं है जिसका अभ्यास आप अपने मन्दिरों या गिरजाघरों में करते हैं। वहाँ जाकर आप प्रार्थना या कुछ अनुष्ठान करते हैं। यह वैसी चीज नहीं है। यहाँ तो सम्पर्क स्थापित होना आवश्यक है। तब क्या होता है? कबीर का एक अन्य गीत मेरे मन में आ रहा है– "यदि आपका प्रेमी दूर है तो आप मिलना चाहते हैं। किन्तु मेरा प्रेमी मेरे अन्दर ही है। उससे मिलने के लिये मुझे तनिक भी हिलना नहीं है।" सम्प्रेषण का यही रहस्य है।

स्वप्नावस्था में सम्प्रेषण

यदि स्वप्न में गुरु या इष्ट आपके सिर पर हाथ रखें तो इसे उनका आशीर्वाद समझिये। यह वास्तविक है, काल्पनिक नहीं।

यदि कोई स्वप्न में अपने शरीर में गुरु या इष्ट द्वारा स्पर्श का अनुभव करे तो यह आध्यात्मिक शक्ति का सम्प्रेषण है। यह भी वास्तविक है।

यदि आप स्वप्न में गुरु या इष्ट के हाथ का स्पर्श करना चाहते हैं तो यह उनका आशीर्वाद प्राप्त करने की आपकी क्षमता का संकेत है। यदि आपकी इच्छा होती है कि वे आपकी आँखों को बन्द कर दें तो यह आपके सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त करने का संकेत है।

यदि आप स्वप्न में गुरु को देखते हैं या उन्हें बात करते हुए सुनते हैं तो समझिये कि वे आपको आशीर्वाद दे रहे हैं।

शंका समाधान

हम गुरु के निकट सम्पर्क में कैसे आ सकते हैं?

शिष्य हमेशा अपने गुरु के निकट होता है। संन्यासी शिष्य तो उनके बहुत निकट होता है। गृहस्थ शिष्य भी अवश्य ही अपने गुरु के बहुत निकट होते हैं। किन्तु उनके जीवन में समय-समय पर विक्षेप और विकर्षण आते रहते हैं। वहाँ भटकाव के अनेक अवसर होते हैं। जहाँ तक एक संन्यासी शिष्य का सम्बन्ध है, वे गुरु के बहुत निकट होते हैं, क्योंकि वे अपने तथा गुरु के बीच जो विक्षेप, विकर्षण और भटकाव का आवरण है उसे हटाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। जब तक व्यक्ति के अन्दर सशक्त विश्वास, समझदारी और एक विशेष प्रकार का बोध नहीं होगा तब तक वह अपने लिये एक गुरु का चयन नहीं कर सकेगा।

व्यक्ति द्वारा अपने लिये किसी विशेष गुरु का चयन उसकी आस्था, विश्वास और गहरी समझदारी का परिणाम होता है। इनके माध्यम से ही गुरु और शिष्य एक दूसरे के निकट आते हैं। गुरु मुख्य रूपान्तरकारी केन्द्र के समान होते हैं। आन्तरिक गुरु या आत्मा उत्पादन केन्द्र है। भौतिक शरीरधारी प्रत्यक्ष गुरु ही रूपान्तरकारी केन्द्र या उपकेन्द्र का कार्य करते हैं। उत्पादन केन्द्र से आने वाली शक्ति शहर की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित की जाती है। उस शक्ति को विभिन्न केन्द्रों तक पहुँचाने का कार्य शिष्यों के माध्यम से होता है। अत: महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिष्य को एक सुचालक होना चाहिये।

एक सुचालक भी विफल हो सकता है। जस्ते का तार सुचालक है, किन्तु वर्षा होने पर उसकी क्या स्थिति होती है? उस पर कार्बन एकत्र हो जाता है। इससे उसमें त्रुटि आ जाती है और विद्युत के प्रवाह में एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि जस्ते का तार मुख्य विद्युत मार्ग से जुड़ा हुआ है, फिर भी उससे होकर विद्युत-धारा प्रवाहित नहीं हो रही है, क्योंकि वर्षा होने पर उस पर कार्बन एकत्र हो गया है। यह उसका प्राकृतिक गुण है, किन्तु ताँबे के साथ यह बात नहीं होती। वह सर्वोत्तम, सर्वाधिक विश्वसनीय और सक्षम सुचालक होता है।

इसी प्रकार शिष्य भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते हैं। कुछ ताँबे तथा कुछ जस्ते के तार के समान होते हैं, जिन पर समय-समय पर कार्बन एकत्र हो

जाता है। एलुमीनियम एक सुचालक है तथा अति लचीला भी होता है। किन्तु यह बहुत मैल उत्पन्न करता है। अत: एक शिष्य के लिये गुरु से निरन्तर प्रवाहित होने वाली शक्ति को ग्रहण करने के लिये सिर्फ एक सुचालक होना ही पर्याप्त नहीं है; उन्हें यह भी देखना चाहिए कि वह बहुत अधिक लचीला न हो और अपने में अत्यधिक कार्बन या गन्दगी एकत्र न होने दे। इस हेतु यह आवश्यक है कि अपनी परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्वयं को समझने की एक प्रक्रिया प्रारम्भ हो। तदुपरान्त गुरु और शिष्य एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं।

जब हम कहते हैं कि शिष्य गुरु के निकट सम्पर्क में है तब हम इस कथन को भावनात्मक अर्थ में नहीं लेते हैं। आध्यात्मिक जीवन में इसका एक भिन्न तात्पर्य होता है। एक शिष्य के सन्दर्भ में गुरु और शिष्य की निकटता का अभिप्राय यह है कि वह एक उत्तम सुचालक या वाहक है जिससे होकर गुरु की, या गुरु के माध्यम से सर्वोच्च गुरु की शक्ति उसमें समाविष्ट हो सकती है। एक सुचालक या वाहक के रूप में वह उस शक्ति को विभिन्न स्थानों में पहुँचा सकता है, जहाँ प्रकाश, प्रबोधन या शक्ति की आवश्यकता होती है। गुरु और शिष्य की निकटता का यही सही अर्थ या अभिप्राय है।

यदि कोई शिष्य सोचता है कि वह मेरे बहुत निकट है या यदि मैं सोचता हूँ कि वह मेरे बहुत निकट है तो इसे भावनात्मक अर्थ में नहीं लेना चाहिये। मुख्य बात यह है कि जो कुछ मेरे पास है, जो कुछ मैं दे रहा हूँ, प्रेम के माध्यम से जो कुछ मैं प्रदान कर रहा हूँ, वह शक्ति उसके द्वारा विभिन्न स्थानों में पहुँचनी चाहिये। विश्व के विभिन्न देशों में मेरे शिष्य फैले हुए हैं। वे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान, आध्यात्मिक शान्ति, आन्तरिक समझदारी तथा सामंजस्यपूर्ण और सुव्यवस्थित जीवन का सन्देश लोगों तक पहुँचा रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे अनगिनत लोगों तक आध्यात्मिक शक्ति पहुँचा रहे हैं और इस प्रकार संचारक स्तम्भ का कार्य कर रहे हैं। जब शिष्य गुरु की शक्ति के संचार के लिये संचारक स्तम्भ हो जाते हैं तब समझना चाहिये कि वे अपने गुरु के निकट हैं।

क्या सम्प्रेषण आध्यात्मिक जीवन का एक आवश्यक अंग है?

आध्यात्मिक जीवन में केवल शिक्षण-प्रशिक्षण ही सम्मिलित नहीं है। इसके अन्तर्गत सम्पर्क और सम्प्रेषण भी आते हैं। गुरु के लिये शिक्षा या व्याख्यान

देना आवश्यक नहीं, किन्तु गुरु और शिष्य के लिये क्रमशः सम्प्रेषक और अभिग्राही होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। गुरु और शिष्य के बीच यही वास्तविक सम्बन्ध है। उनके बीच भावनात्मक सम्बन्ध होता है, क्योंकि हम भावनात्मक स्तर पर रहते हैं। गुरु और शिष्य के बीच का यह भावनात्मक सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति के सम्प्रेषण का वहन करता है।

गुरु और शिष्य एक दूसरे से दूर या निकट, कहीं भी रह सकते हैं, किन्तु उनके बीच एक अदृश्य सम्पर्क बना रहता है। जब कोई व्यक्ति शिष्य बनता है तब इस प्रकार का सम्बन्ध निश्चित रूप से स्थापित होना चाहिये। तभी सम्प्रेषण सम्भव होता है। निकट सम्पर्क में रहने की यह एक अत्यधिक शक्तिशाली पद्धति है। अपने आश्रम के सभी शिष्यों के साथ मैं इसी प्रकार रहता हूँ। मैंने उनसे कहा है–"हम एक साथ रहें और कार्य करें। यथासमय हमारा आध्यात्मिक सम्बन्ध निश्चित रूप से विकसित और गहरा होगा।"

जब आध्यात्मिक सजगता प्रकट होती है और मन विशुद्ध हो जाता है तो समस्त धर्मशास्त्र स्वतः उद्घाटित हो जाते हैं, सभी अभ्यास समझ में आने लगते हैं और आप सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र के अधिकारी बन जाते हैं। आप रामकृष्ण परमहंस के बारे में तो जानते ही हैं। वे एक अनपढ़ सन्त थे, किन्तु वे किसी भी विषय पर बोल सकते थे। अपने निकट आने वाले लोगों को वे उपनिषद् की शिक्षा देते थे तथा उनसे बाईबिल की भाषा में बातें करते थे। आत्मशक्ति के प्रकट होने पर आप सहजता से ज्ञानी बन जाते हैं। हमें यह बात अच्छी तरह से समझनी चाहिये तथा यही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

मैंने पढ़ा है कि कभी-कभी शिष्य फ्यूज्ड हो जाते या पिघल जाते हैं और शक्ति के सम्प्रेषण के कारण जल जाते हैं। अतः मैं थोड़ा डर गया हूँ। कृपया मेरी शंका का समाधान करें।

सभी शिष्य एक ही स्तर के नहीं होते हैं। सम्प्रेषण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया उनकी अवस्था के अनुसार होती है। एक-दूसरे से सम्बद्ध दो व्यक्तियों के बीच संचार और सम्प्रेषण निरन्तर चलता रहता है। वास्तव में, ब्रह्माण्डीय स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार एक माला के सभी दाने एक ही धागे से आपस में जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार संसार की, सृष्टि की समस्त वस्तुएँ एक ही धागे द्वारा अन्तर्सम्बन्धित होती हैं।

उसे ब्रह्माण्डीय चेतना कहते हैं। और सृष्टि समस्त पदार्थ को ब्रह्माण्डीय पिण्ड कहा जाता है।

गुरु और शिष्य के साथ भी यही बात होती है। विभिन्न स्तरों पर सम्प्रेषण होता है–यह भावनात्मक, मानसिक, आध्यात्मिक और आत्मिक स्तरों पर हो सकता है। ये भिन्न-भिन्न तरंगदैर्ध्य हैं। माँ और बच्चे, गुरु और शिष्य या दो प्रेमियों के बीच होने वाले सम्प्रेषणों के तरंगदैर्ध्य भिन्न-भिन्न होते हैं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि गुरु किसी एक स्तर पर सम्प्रेषण करते हैं और शिष्य उसे ठीक से ग्रहण नहीं करता है। इसका कारण यह है कि उसका व्यक्तित्व दो भिन्न स्तरों पर स्थित है–मानसिक और भावनात्मक, भावनात्मक और आत्मिक या आत्मिक और आध्यात्मिक। इस प्रकार उसके दोनों व्यक्तित्व एक ही साथ प्रभावित होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण कारक भी विचारणीय हैं। जब हम कीर्तन गाते हैं तब विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करते हैं। कुछ लोग गाते हैं और बातें करते हैं, कुछ बिल्कुल शान्त बैठे रहते हैं और उनके अन्दर कुछ होता रहता है और कुछ लोगों की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। यहाँ एक ही प्रकार का सम्प्रेषण हो रहा है, किन्तु ग्रहणकर्ता चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में है। अत: उनकी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न है।

अनेक बार जब गुरु शक्ति का सम्प्रेषण करते हैं तो शिष्य की प्रतिक्रिया अति अनुकूल होती है। किन्तु कभी-कभी वह बिल्कुल विपरीत प्रतिक्रिया करता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी सम्प्रेषण के बाद शिष्य गुरु के विरोध में बातें करने लगते हैं। वे गुरु की आलोचना करते हैं तथा उन्हें गालियाँ देते हैं। यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया यह होती है कि वे गुरु से प्रेम करने लगते हैं, अपने को समर्पित कर देते हैं तथा निरन्तर उनके बारे में ही सोचते रहते हैं और यह भी हो सकता है कि गुरु द्वारा शिष्य को अपनी शक्ति का सम्प्रेषण किये जाने के बाद वह अति नकारात्मक प्रतिक्रिया करे। वह अपने गुरु की हत्या करने का भी प्रयास कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु से सम्प्रेषण ग्रहण करने के बाद शिष्य की भावनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होती हैं। अत: शिष्य को सर्वप्रथम अपने को स्वच्छ, शुद्ध करना चाहिये। एक निश्चित परिमाण में शुद्धिकरण के उपरान्त ही उसे गुरु से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। तब विषम परिस्थितियों के उत्पन्न होने की समस्या नहीं होगी।

गुरु और शिष्य के बीच का सही सम्बन्ध कैसा होता है?

शिष्य गुरु के ज्ञान की अन्तिम परिणति होता है। गुरु गुलाब के एक सुन्दर पौधे के समान है, तो शिष्य एक खिलता हुआ गुलाब। उनके बीच का सही सम्बन्ध, ज्ञान और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध होना चाहिये। भौतिक स्तर पर उनके शरीर अलग होते हैं। शिष्य अपनी साधना के क्रम में बहुत लम्बे समय तक अपने भौतिक शरीर का उपयोग करता है। किन्तु यदि वह स्वयं को गुरु की आकांक्षाओं की पूर्ति करने में सक्षम बना ले, तो वह गुरु के ज्ञान की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति बन सकता है। ऐसा इसलिये कि गुरु का ज्ञान शिष्य के माध्यम से ही प्रकट होता है। पुष्प प्रस्फुटित होता है; शिष्य को अलौकिक, अतीन्द्रिय अनुभूति प्राप्त होती है।

शिष्य के नाम पत्र

बुद्धि के स्तर पर रहना छोड़ो। इसके सम्मोहन से कब तक चिपके रहोगे? विचार और बुद्धि का त्याग करो। यदि ये बने रहे तो मैं तुम्हें कुंजी नहीं दे सकता हूँ। तुम्हें न सिर्फ मेरे निर्देशों का, बल्कि मेरे अदृश्य आदेशों का भी पालन करना होगा। यदि मैं आकाश से भी बोलता हूँ तो तुम्हें आज्ञाचक्र से सुनना पड़ेगा। मेरे आदेशों की अवहेलना करके तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि मेरा मार्ग वीरों, नायकों, स्वाभिमानी लोगों का मार्ग है। यह उनका मार्ग है जो इसके लिये मृत्यु का वरण करने हेतु भी प्रस्तुत हैं।

जिनके पास बुद्धि है वे अज्ञानी ही बने रहेंगे; सन्देहों से युक्त लोग अन्धकार में ही भटकते रहेंगे। गुरु द्वारा उच्चरित, लिखित और अभिप्रेरित विचारों के अनुसार सोचना शिष्य का कर्त्तव्य है। अपने प्रत्येक विचार और कार्य की बागडोर मेरे हाथों में सौंप दो। निर्भय रहो, यह ईश्वर की वाणी है। मैं यह कहता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह ऐसा ही है। मुझे एक पुस्तक के समान मत समझो, ऐसा समझने से तुम अन्धकार में भटकते रहोगे।

गुरु को कहाँ खोजें?

कुछ शताब्दी पूर्व भारत में अभियन्ताओं का बहुत अभाव था। अत: हम अपने छात्रों को प्रशिक्षण हेतु अमेरिका, जर्मनी और इंगलैण्ड भेजते थे। अब हमारे यहाँ पर्याप्त संख्या में सुयोग्य अभियन्ता उपलब्ध हैं। इसलिए अब प्रशिक्षण के लिये किसी को विदेश भेजने की आवश्यकता नहीं है। यह दूसरी बात है कि अभी भी कुछ लोग अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये वहाँ जाते हैं। जब स्पेन के लोगों को सोने की आवश्यकता महसूस हुई तो वे लैटिन अमेरिका गये। वे अपने देश की खानों से भी सोना प्राप्त कर सकते थे, किन्तु लैटिन अमेरिका में यह अधिक आसानी से उपलब्ध था। जब पेट्रोलियम पदार्थों की आवश्यकता होती है तब आप उन्हें दूसरे देशों से मँगाते हैं, क्योंकि वे यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्येक संस्कृति में कुछ आवश्यक सामग्रियों एवं विशेष प्रकार की प्रतिभाओं को उत्पन्न करने की विशिष्ट क्षमता होती है। मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही भारत में आध्यात्मिक व्यक्तित्व तथा प्रतिभाओं को उत्पन्न करने की क्षमता रही है।

जो लोग योग सीखना चाहते हैं वे अपने-अपने देश में इसे सीख सकते हैं। किन्तु यदि वे गहरे आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण करना चाहते हैं तो उन्हें भारतीय गुरुओं से सम्पर्क करना चाहिये। कुछ गुरु सदैव भारत में रहते हैं और विदेशों की यात्रा नहीं करते। कुछ अन्य गुरु प्राय: भारत में ही रहते हैं, किन्तु समय-समय पर दूसरे देशों की यात्रा करते हैं, क्योंकि पश्चिम के देश अब उनका स्वागत करने के लिये पूर्णत: तैयार हैं। जहाँ माँग होगी वहाँ आपूर्ति भी होगी।

कुछ शताब्दी पूर्व इस सम्बन्ध में पश्चिमी मस्तिष्क पूर्णतया बन्द था। वह अपने धर्म और विज्ञान की सीमाओं से परे कुछ भी नहीं सोच सकता था,

किन्तु अब पश्चिमी देशों के लोग इन सीमाओं के बाहर जाना चाहते हैं। यही कारण है कि अनेक प्रबुद्ध और अत्यंत विकसित शिक्षक और गुरु पश्चिमी देशों में जाते हैं। साथ ही यूरोपीय देशों में उनके अपने समर्पित एवं परोपकारी शिष्यगण भी कार्य कर रहे हैं। उन्होंने योग, प्राच्य दर्शन एवं आध्यात्मिक जीवन पर अनेक उपयोगी तथा शिक्षाप्रद पुस्तकें भी लिखी हैं।

योग तथा अध्यात्म के क्षेत्र में पश्चिमी देशों पर गहरा प्रभाव डालने वाले गुरुओं में स्वामी विवेकानन्द का सर्वप्रथम स्थान है। उनके बाद क्रमश: परमहंस योगानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी रामदास एवं अन्य गुरुओं ने भी बड़े पैमाने पर यह कार्य किया। स्वामी शिवानन्द जी कभी पश्चिम नहीं गये, किन्तु उनके अनेक शिष्य उनका सन्देश एवं उपदेश लेकर वहाँ जाते रहे हैं। भारत में अति उच्च चेतना से युक्त ऐसे अनेक गुरु हैं जो अज्ञात रहना ही पसन्द करते हैं। उनसे मिलने के लिये आपको निष्कपट होकर प्रयास करना होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विकास के अनुसार ही गुरु की प्राप्ति होती है। अनेक लोगों ने पाण्डिचेरी के श्री अरविन्द या तिरुवन्नमलाई के रमण महर्षि से मिलने के लिये बहुत लम्बी यात्रा तय की होगी, किन्तु उनसे मिलने के बाद वे प्रभावित नहीं हुए। इन परिस्थितियों में मुख्य बात यह है कि यदि आपने गुरु खोजने का सही प्रयास किया है तो अपनी यात्रा के क्रम में आप किसी महान् व्यक्ति के सम्पर्क में जरूर आयेंगे जो आपके गुरु होंगे।

इस तथ्य पर विचार करने के बाद मैं एक निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। पश्चिमी देशों के लगनशील आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक जीवन की उच्चतर शिक्षा के लिये अवश्य भारत जाना चाहिये। उन्हें सिर्फ योग ही नहीं सीखना चाहिये, बल्कि निश्चित रूप से आश्रम जीवन भी व्यतीत करना चाहिए। योग और आश्रम जीवन में ठीक वैसा ही अभिन्न सम्बन्ध होता है जैसा कि विज्ञान और प्रयोगशाला में। प्रत्येक देश और समुदाय में कुछ मुट्ठी भर ऐसे लोग जरूर होने चाहिए जो सांसारिकता का परित्याग कर सकें। वास्तव में त्याग और संन्यास प्रत्येक व्यक्ति के लिये नहीं है। यह मार्ग तो अति अल्पसंख्यक जिज्ञासुओं के लिये है। यदि पश्चिमी देशों के लोग बड़ी संख्या में महोपचारिकाएँ एवं पादरी बन सकते हैं तो वहाँ के कुछ लोग संन्यास भी ले सकते हैं।

जो लोग संन्यास मार्ग के योग्य हैं, उन्हें भारत में लम्बी अवधि तक रहना चाहिये तथा अपने अस्तित्व के सभी पहलुओं को आध्यात्मिक जीवन की शर्तों

एवं विशेषताओं से युक्त करना चाहिये। तब उन्हें पश्चिमी देशों में लौटकर गुरु के रूप में कार्य करना चाहिये और आध्यात्मिक प्रकाश फैलाना चाहिये। जिस प्रकार आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व हम अपने लोगों को उच्चतर तकनीकी शिक्षा के लिये विदेशों में भेजते थे, पश्चिमी देशों को भी उसी प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। हम लोगों ने विज्ञान और तकनीक को अपना लिया है और अब पश्चिमी देशों को आध्यात्मिक विज्ञान को अपना लेना चाहिए।

यूरोप के लोग स्वभाव से भौतिकवादी नहीं हैं। उन्हें लाचार होकर ऐसा होना पड़ा है। यदि हम आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई औद्योगिक क्रान्ति के समय के पहले की भारतीय एवं पश्चिमी आध्यात्मिक परम्पराओं की तुलना करें तो हम पायेंगे कि उनमें बहुत अधिक समानता थीं। किन्तु घोर और घिनौने भौतिकवाद तथा व्यापारवाद के विकास के कारण आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले हमारे जैसे लोगों के लिये पश्चिमी जीवन को प्रभावित करना बहुत कठिन हो गया। हम जो कुछ भी कहते, लोग उसे समझ ही नहीं पाते थे।

जब लोगों की जेबों एवं बैंक-खातों में बहुत अधिक पैसा रहता है तो वे उद्धत और अहंकारी हो जाते हैं। "मैं तीन कार खरीद सकता हूँ, पाँच भवन बनवा सकता हूँ, एक कारखाना खोल सकता हूँ, मुझे तुम्हारी कोई परवाह नहीं है"–लोग इस तरह की मानसिकता से ग्रस्त हो जाते हैं। लगभग डेढ़ शताब्दियों तक पश्चिम के लोग इसी प्रकार की उद्धत मानसिकता के शिकार बने रहे। और पिछले चालीस-पचास वर्षों से भारतीय जीवन के कुछ क्षेत्र भी इस प्रकार की सोच से प्रभावित रहे हैं। तथापि पश्चिमी हृदय मूलत: और प्रधानत: आध्यात्मिक है। भौतिकता के तेज तूफान के बावजूद पश्चिमी देशों के लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास कर रहे हैं।

स्पेन की राजधानी मैड्रिड में दो ऐसे विश्वविद्यालय हैं जिनमें योग संकायों की व्यवस्था है। डेनमार्क की सरकार अपने नागरिकों को योगाभ्यास करने के लिये प्रोत्साहित करती है तथा उनके प्रशिक्षण का खर्च वहन करती है। इंग्लैण्ड में भी ऐसा ही हो रहा है। फ्रांस की सरकार ने पेरिस के निकट ही योग विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु सात सौ हेक्टेयर जमीन प्रदान की है। यदि पश्चिम के लोग आध्यात्मिक भावना से युक्त नहीं होते तो ये बातें कैसे सम्भव होतीं? पश्चिमी सभ्यता के बाह्य आवरण के पीछे आन्तरिक आध्यात्मिकता छिपी हुई है। पश्चिमी यूरोप में तो उनकी संख्या इससे भी

अधिक है। स्विट्ज़रलैण्ड में वर्ष में एक बार सभी प्रधान योग शिक्षकों का सम्मेलन होता है। उस समय सम्मेलन-क्षेत्र के समस्त होटल और अतिथि निवास इसके लिए पूरी तरह आरक्षित करा लिये जाते हैं।

यूरोप में भिन्न-भिन्न प्रकार की लगभग दो सौ योग पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। उनमें से प्रत्येक भारत में प्रकाशित किसी भी योग पत्रिका से श्रेष्ठतर है। प्राय: प्रत्येक योग संघ के पास अपना पूर्णत: स्वचालित, कम्प्यूटरयुक्त छापाखाना है, ठीक वैसा ही जैसा कि मेरा कोलम्बिया, स्पेन, ग्रीस, ऑस्ट्रेलिया और डेनमार्क के आश्रमों में है। इससे सिद्ध होता है कि पश्चिमी जगत् के लोग ईमानदारी और लगन से जीवन के उच्चतर मूल्यों की खोज में लगे हुए हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, यूरोपीय समाज की बाह्य संरचना उसकी आत्मा नहीं है। जब भारत के लोग पश्चिमी देशों में आते हैं तब वे सिर्फ वहाँ के जीवन के बाह्य दृष्टिकोण को ही देखते हैं। वे उसके मूलभूत बिन्दु को नहीं देखते। पश्चिम में हजारों लड़के-लड़कियाँ हमारे शिष्य हैं और उनमें सैकड़ों ऐसे हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर संन्यास ले लिया है। जब भारतीय लोग पश्चिमी महिलाओं को रात्रि क्लबों में देखते हैं तब इसे ही उनकी मानसिकता मान बैठते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है।

पूर्व ने पश्चिम को और पश्चिम ने पूर्व को समझने में भूल की है। पश्चिम के लोग सोचते हैं कि पूर्वी देशों के लोग अनपढ़, अशिक्षित, गरीब, पिछड़े, आदिम और अन्धविश्वासी हैं। और पूर्वी देशों के लोगों की दृष्टि में पश्चिमी सभ्यता का तात्पर्य सिर्फ रात्रि-क्लबों और शराब से है, जहाँ औरतों का कोई महत्त्व नहीं है। यह तो भौतिकता का प्रभाव है। किन्तु यह संस्कृति अब पश्चिम तक ही सीमित नहीं है। यह भारत के कई स्थानों में भी फैल चुकी है। आज आप बम्बई में बड़े पैमाने पर इसका प्रभाव देख सकते हैं। अब समय आ गया है जब कि पूर्व और पश्चिम दोनों को इस भौतिकवादी आक्रमण का संयुक्त रूप से सामना करना चाहिए।

भौतिकवादी दर्शन के अनुसार पदार्थ अन्तिम सत्य है और आत्मा महत्त्वहीन है। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में जाने वाले बहुत से भारतीय दिग्भ्रमित और पथभ्रष्ट हो जाते हैं और अपने मूल सांस्कृतिक मार्ग से भटक जाते हैं। अत: हम आशा करते हैं कि पश्चिम से अधिकाधिक लोग भारत आयेंगे। यदि वे संन्यास ले सकते हैं, तो लेना चाहिये। तदुपरान्त उन्हें कुछ वर्षों तक भारत में रहना चाहिये। मन, आत्मा और चेतना को समझने एवं एक निश्चित सीमा तक

विकसित करने के बाद उन्हें स्वदेश वापस लौटकर वहाँ के उन युवक-युवतियों को योग का प्रशिक्षण देना चाहिये जो आध्यात्मिक ज्ञान के प्यासे हैं।

इस उद्देश्य से बहुत से लोग भारत आते रहे हैं। फ्रांस से एक व्यक्ति भारत आया और अपने गुरु के आश्रम में बारह वर्षों तक रहा। तदुपरान्त फ्रांस लौटकर उसने वहाँ 'महान् भ्रातृत्व' नामक आन्दोलन प्रारम्भ किया। वह उन्हीं विषयों पर बोलता है जिन पर मैं बोलता हूँ, जैसे पदार्थ पर आत्मा की, अंधकार पर प्रकाश की श्रेष्ठता आदि। इस व्यक्ति ने पश्चिमी देशों में शाकाहारी आन्दोलन को आँधी की तरह फैलाया। सम्प्रति, उनके समान सैंकड़ों पश्चिमी लोग भारत में अपने गुरुओं के साथ रहकर अपने आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि कर रहे हैं।

मेरे भारत के आश्रम में ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, इंग्लैण्ड, डेनमार्क, आयरलैण्ड, फ्रांस, और जर्मनी के दर्जनों साधक हैं। वे यहाँ छः से बारह वर्षों तक रहेंगे। योग दर्शन तथा योगाभ्यास में पूर्णता प्राप्त करने के बाद वे सभी स्वदेश वापस लौट जायँगे तथा वहाँ गुरु के रूप में कार्य करेंगे।

प्रत्येक गुरु एक प्रकाश हैं

मेरा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति जिज्ञासु होता है और उसे अपना मार्ग तथा गुरु चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। मैं यह नहीं मानता कि गुरु अच्छे और बुरे होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि अच्छे और बुरे पति या अच्छी और बुरी पत्नियाँ नहीं होती। जब दो व्यक्ति पारस्परिक समझौता नहीं कर सकते तो आप किस आधार पर कह सकते हैं कि उनमें से कौन अच्छा और कौन बुरा है।

कुछ गुरुओं के बारे में सार्वजनिक रूप से चर्चा होती है कि वे धोखेबाज हैं तथा उन्होंने बहुतों को दिग्भ्रमित कर उनके जीवन को बर्बाद कर दिया है। यदि आप अपने गुरु के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते तो यह आपकी समस्या है। गुरु अच्छे या बुरे, सन्त या धूर्त नहीं होते। व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से गुरु का वेश धारण करने वाले लोग भी कुछ समय के बाद उत्तरदायी बन जाते हैं। मैंने अनेक बार ऐसा होते हुए देखा है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से युक्त व्यक्तियों को ऐसा कुछ भी नहीं बोलना या करना चाहिये जिससे लोगों के मन में भ्रम उत्पन्न हो। 'यह गुरु महान् है, वह गुरु बिल्कुल बेकार है'–इस तरह की बातें नहीं होनी चाहिये। भिन्नताएँ और श्रेणियाँ शिक्षण विधियों और गुरु के स्तरों में होती हैं। साथ ही, गुरु के जीवन में भी त्रुटियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं अपने गुरु की पूजा और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आपके गुरु की निन्दा करूँ। हमें सिर्फ एक चीज देखनी चाहिये–एक साधक के जीवन में गुरु का सकारात्मक योगदान।

आप एक छोटी मोमबत्ती तथा एक बड़े उपकरण के प्रकाश के बीच तुलना नहीं कर सकते। मोमबत्ती निरर्थक नहीं होती तथा बड़ा प्रकाश प्रत्येक चीज को प्रकाशित नहीं कर सकता। जहाँ प्रकाश का अभाव है वहाँ के लिये मोमबत्ती बहुत उपयोगी होती है। अत: हम लोगों के समान गुरु मानव-विकास

की अन्धकारमय पगडण्डियों पर छोटी मोमबत्तियों के समान हैं। और हम सदैव कुछ दूरी पर स्थित किसी निश्चित लक्ष्य को प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं। उसके आगे कोई दूसरी मोमबत्ती है और उसके भी आगे कोई अन्य। अत: अपने गुरु और अपनी प्रसिद्धि के नाम पर दूसरों के द्वारा प्रदत्त प्रकाशों को बुझाना कदापि उचित नहीं है। इस युग की वर्तमान अवस्था में हम सबको यह बात अवश्य याद रखनी चाहिये।

हाल के वर्षों में प्रत्येक स्वामी और शिष्य से मैं यही कहता हूँ–"किसी की निन्दा मत कीजिये। यदि आप उसकी प्रशंसा नहीं कर सकते तो चुप रहिये। मैं मानवता के हित में ऐसा कह रहा हूँ। अन्यथा अनगिनत छोटे-छोटे मत और पंथ बन जायँगे और उनके बीच निरन्तर संघर्ष होते रहेंगे। हमें इस स्थिति से बचना चाहिए। हमें एक अहिंसात्मक पद्धति विकसित करनी चाहिये, जिसके द्वारा मानवता को समर्पित प्रत्येक व्यक्ति की सकारात्मक देन को संकलित किया जा सके। भिन्न-भिन्न व्यक्ति मन्त्र, ध्यान, प्राणायाम, क्रियायोग और तन्त्र आदि की शिक्षा दे रहे हैं। एक दिन हम अपने विभिन्न प्रकार के अभ्यासों को लेकर एक विशेष स्वरूप के पूजा-स्थल में एक साथ एकत्र होंगे।"

सत्यम् के द्वार पे

दस्तक दूँ सत्यम् के द्वार पे,
दस्तक दूँ सत्यम् के द्वार पे,
ले लो मेरा अहम् मुझसे,
रहा नहीं यह काम का मेरे,
दृष्टि धूमिल है, छाया तिमिर घनघोर है,
चलो चलें सत्यम् के ज्योतिर्मय द्वार पे।

शंका समाधान

कोई व्यक्ति गुरु कैसे बनता है?

गुरु आपके अन्धकार को दूर करते हैं, और तब अनुभव होने लगते हैं, जीवन्त अनुभव, जिन्हें आप आँखों के बिना देख सकते हैं। गुरु अवतरित होते हैं,

निष्कपट साधकों एवं जिज्ञासुओं के मार्गदर्शन हेतु वे उच्चतर चेतना से युक्त होकर आते हैं। किन्तु साथ-ही-साथ मैं आपको यह कह दूँ कि गुरु और शिष्य के बीच उच्चतर या निम्नतर संवर्ग जैसी कोई चीज नहीं होती। एक शिष्य स्वयं के लिये सदैव एक शिष्य ही रहता है। किन्तु उनके शिष्य, जिन्हें वे शिक्षा देते हैं, उन्हें गुरु मानते हैं।

व्यक्ति के सोचने का सर्वोत्तम तरीका यह होना चाहिये कि शिष्य कैसे बना जाये? यदि लोग यह सोचना प्रारम्भ करें कि गुरु कैसे बना जाये तो यह बहुत खतरनाक विचार है। तब कुछ लोग यह भी सोच सकते हैं कि भविष्यवक्ता या पैगम्बर कैसे बना जाये, जो कि और अधिक खतरनाक विचार है। इसी प्रकार करोड़पति कैसे बनें, संयुक्त राष्ट्रसंघ का महासचिव कैसे बनें, आदि अकल्याणकारी विचार हैं।

मैं जानता हूँ कि शिष्य कैसे बना जाये और एक शिष्य बनना ही गुरु बनना है। यदि आप एक सच्चे शिष्य हैं तो आप स्वयं अपने गुरु हैं, क्योंकि शिष्य सब कुछ समर्पित करता है– अपनी भावनाएँ, मस्तिष्क, बौद्धिकता, अच्छे-बुरे कर्म, अहंकार, अभिमान, भूत-वर्तमान-भविष्य, सुरक्षा, वासनाएँ आदि। उसका अपना कुछ नहीं रहता, वह अपना सर्वस्व गुरु को अर्पित कर देता है, वह बाँस के समान खाली हो जाता है और इस प्रकार अपने को खाली करने के बाद वह स्वरमाधुर्य से भर जाता है। अत: एक शिष्य का समर्पण इतना पूर्ण होना चाहिए कि वह एक शिष्य न रह जाए। तब वह क्या हो जाता है? वह एक गुरु हो जाता है– अन्धकार को दूर करने वाला।

गुरु एक श्रेष्ठतर सामाजिक स्थिति नहीं है; इसे एक उच्चतर सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक पद नहीं होना चाहिये। कोई भी मेरे अन्धकार को दूर कर सकते हैं और जो मेरे अन्धकार को दूर कर मुझे अपने अन्दर आन्तरिक प्रकाश, आन्तरिक शान्ति, सामंजस्य और परमानन्द की अनुभूति की क्षमता प्रदान करते हैं, वे गुरु हैं। अत: प्रश्न यह पूछिये कि एक वास्तविक शिष्य कैसे बना जाये।

संसार में असंख्य कपटी या नकली गुरु हैं। हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमें अपने सही गुरु मिल गये हैं?

शिष्य में गुरु को पहचानने की दृष्टि होती है। यदि आप उत्तम गुरु चाहते हैं तो आपको उत्तम शिष्य बनने के लिये तैयार रहना चाहिये। लोगों की भेंट प्राय:

नकली गुरुओं से हो जाती है। तदुपरान्त वे सबसे कहते हैं, "गुरुओं से दूर रहिये, वे बड़े बुरे लोग हैं। मैं एक से मिला था और उन्होंने मुझे धोखा दिया।" जब भी लोग मुझसे ऐसा कहते हैं, मैं उनसे कहता हूँ कि "नहीं, आपने उन्हें धोखा दिया है।"

शिष्य के गुण के अनुसार ही गुरु मिलते हैं। यदि शिष्य निष्कपट और लगनशील है तो उसे वैसे गुरु ही मिलेंगे। यदि शिष्य मानसिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है तो वह उन गुरुओं के पीछे दौड़ेगा जो मानसिक शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। समृद्धि की कामना से युक्त शिष्य समृद्ध गुरुओं के पीछे भागेगा। प्रबोधन की आकांक्षा से युक्त शिष्य एक प्रबुद्ध गुरु प्राप्त कर लेगा, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है। अत: एक शिष्य को गुरु को पहचानने का प्रयास करने की अपेक्षा स्वयं को समझना चाहिये। यदि वह एक अति उच्च अवस्था प्राप्त सन्त गुरु चाहता है तो उसे भी बहुत अधिक योग्य बनने और सन्त प्रकृति विकसित करने का प्रयास करना चाहिये।

आजकल संसार में महिला गुरुओं की संख्या बहुत कम क्यों है?

तन्त्र में महिलाओं को प्रथम गुरु माना जाता है। दीक्षा के लिये एक पुरुष गुरु की अपेक्षा एक महिला गुरु को निश्चय ही अधिक शक्तिशाली माना जाता है। संसार के अनेक धर्मों में महिलाओं को पुरोहित नहीं बनने दिया जाता तथा उन्हें आध्यात्मिक नेतृत्व से भी वंचित रखा जाता है। परन्तु भारत में महिला गुरुओं की एक लम्बी परम्परा रही है। यहाँ आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हुए समुचित योग्यता प्राप्त करने वाली किसी भी महिला को गुरु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मेरा विचार है कि यदि महिला गुरुओं की संख्या बढ़ेगी तो जीवन में अधिक सौन्दर्य, करुणा, प्रेम और समझदारी का संचार होगा। किन्तु हमें सदैव स्मरण रखना है कि गुरु के सम्बन्ध में हमारा निर्णय पुरुष या स्त्री होने पर आधारित नहीं होना चाहिए। गुरु, गुरु होते हैं, लैंगिक भिन्नता से उनमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं आता।

गुरु के प्रति मेरे मन में तनिक भी अनुराग नहीं रह गया है और मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ।

सभी गुरु एक ही होते हैं, यद्यपि शारीरिक रूप से वे भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं। यदि आप स्वयं को मुझे समर्पित करेंगे तो मैं आपको स्वीकार कर लूँगा।

किन्तु यदि आप अपने गुरु को मुझसे भिन्न मानते हैं तो मैं समझता हूँ कि आप गुरु की सार्वभौमिकता को नहीं समझ रहे हैं। गुरु प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम कर सकता है, क्योंकि वह सबमें एक को ही देखता है। इसी प्रकार आपके गुरु कोई भी क्यों न हों, आपको उनमें सभी गुरुओं को देखना चाहिये।

हमें गुरु का चयन अपने हृदय और भावना के आधार पर करना चाहिये या बुद्धि, तर्क और विचार के आधार पर?

जीवन में किसी भी वस्तु का चयन करने के लिये हृदय और भावना की आवश्यकता होती है। जब आप एक फूल की दुकान में जाते हैं तब किसी फूल का चयन किस प्रकार करते हैं, बुद्धि के द्वारा या भावना के द्वारा? आप उसे पसन्द करते हैं और इसीलिये खरीदते हैं। यही बात प्रत्येक वस्तु के साथ लागू होती है। गुरु के साथ तो यह बात विशेष रूप से सही है। यदि आप बुद्धि और तर्क के आधार पर गुरु का चयन करेंगे तो आपके अनेक गुरु होंगे।

अपने गुरु की आलोचना के प्रति हमारी प्रतिक्रिया कैसी होनी चाहिये?

आपका मार्ग सहज और आशा तथा विश्वास से भरा हुआ होना चाहिये। अपने गुरु की निन्दा सुनकर आपको दु:ख हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति अपनी आलोचना से उत्पन्न संवेदना को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार इस संवेदनशीलता पर भी विजय प्राप्त करनी है। जो शिष्य अपने गुरु की प्रशंसा सुनकर मिथ्याभिमान से भर जाता है, वह शोषण का शिकार होता है।

दूसरी तरफ, जो शिष्य गुरु की प्रशंसा सुनकर मिथ्याभिमानी हो जाता है वह अंहकार और कट्टरपन से अन्धा हो जाता है। गुरु की प्रशंसा के बाद भी जो शिष्य अपनी सीमाओं के प्रति सजग रहता है, वह अपने अहंकार का सदुपयोग धर्म के प्रचार में करता है। यदि कोई व्यक्ति गुरु की स्तुति करता है तो मैं चाहूँगा कि वह इस व्यावहारिक धर्म का पालन करे। यदि वह मेरे गुरु की प्रशंसा करता है और अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता तो वह कुछ भी नहीं करता है।

एक शिष्य के नाम पत्र

तुम्हें अपने लक्ष्य की ओर कूच करना है। एक दीक्षित शिष्य को कभी भी पीछे नहीं मुड़ना है, चाहे उसकी गति कितनी भी धीमी क्यों न हो। साधना के लिये गुरु नितान्त आवश्यक है। एक साधक ही इस बात को जानता और अनुभव करता है।

मैंने पहले ही ध्यान के बारे में तुम से कुछ कहा है। कोई भी प्रतीक, जिसमें मन डूब जाये, सर्वोत्तम है। व्यक्ति अपनी भावनाओं तथा अभिप्रेरणात्मक प्रवृत्तियों पर भी ध्यान कर सकता है। धीरे-धीरे अपनी आवृत्ति को बढ़ाओ। प्रतिदिन चार बजे सुबह में सम्पर्क स्थापित करो। मच्छरों से सुरक्षा हेतु मच्छरदानी के अन्दर बैठ कर ध्यान करो। अपना अभ्यास बढ़ाते जाओ ताकि भविष्य में तुम्हारे ऊपर जो उत्तरदायित्व आने वाला है उसका निर्वाह करने की क्षमता प्राप्त कर सको।

इष्ट और मन्त्र वही रहेंगे। ये कभी नहीं बदलेंगे। एक आदमी एक ही स्थान पर पचास फीट खोदकर पानी प्राप्त कर सकता है, पचास जगहों पर एक-एक फीट खोद कर नहीं। ऐसा कोई भी प्रयास बिल्कुल व्यर्थ चला जायेगा। जब कोई यात्री ट्रेन पर सवार होता है तो वह अपना सामान अपने सिर पर नहीं, बल्कि गाड़ी में ही रखता है। जिस ट्रेन से वह यात्रा कर रहा है वही उसका सामान भी ले जायेगी। तब चिन्ता की क्या बात है? विचार करना छोड़ो और सक्रिय हो जाओ।

एकनिष्ठा का महत्त्व

अनेक शिष्य विभिन्न सन्तों, लेखकों और शिक्षकों की रचनाओं में रुचि लेते हैं। वे प्राय: अन्य महान् शिक्षकों से प्रभावित होते हैं और इससे कोई हानि भी नहीं होती। किन्तु परम्परा के अनुसार गुरु एक ही होना चाहिये। आप अन्य स्रोतों से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु वैसे शिक्षकों के बहकावे में न आवें जो आपके निम्नतर मन को प्रभावित करते हैं। जब कोई शिक्षक आपको अपनी इच्छा के अनुसार रहने की अनुमति देता है तब आप उसे अवश्य पसन्द करते हैं। आप उसकी बातों को स्वीकार करते हैं, इसलिये नहीं कि वे सत्य हैं, बल्कि इसलिये कि वे आपके लिये सुविधाजनक हैं।

सतही या छिछले दर्शनों से निर्देशित मत होइये। कुछ साधना पद्धतियों में आप से कहा जाता है कि मन का विरोध मत कीजिये। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप अनुशासनहीन हो जायें। ध्यान या जप के समय प्राय: विचार मन में चक्कर लगाते रहते हैं। वह ऐसा समय है जब मन का विरोध नहीं करना चाहिए। किन्तु जब आप जीवन की दैनिक समस्याओं से जूझ रहे हैं तथा मन गलत निर्णय लेने के लिये दबाव डाल रहा है तब ऐसी स्थिति में यह निर्देश लागू नहीं होगा कि "मन का विरोध मत कीजिये।" ऐसे समय में यदि आप मन के अनुसार कार्य करेंगे तो यह सम्भव है कि आपकी जीवनरूपी गाड़ी समस्याओं की खाई में उलट जाये।

जीवन को सर्वत्र, पूर्व हो या पश्चिम, अनुशासित बनाना होगा। आप किसी कारखाने, अस्पताल, दूरभाष केन्द्र में या अन्यत्र कहीं भी कार्य करें, आपको अपने मनोवेगों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना ही होगा। यदि आप दूरभाष केन्द्र में अपने मन को उछल-कूद करने की अनुमति देंगे तो अनर्थ हो जायगा।

सिर्फ मनोविश्लेषण के क्षणों में, जब आप एकान्त में हों, लोभ, वासना, हिंसा और आक्रमण से सम्बद्ध अस्थिर विचारों को निरापद रूप से अपने मन में खुलकर खेलने की अनुमति दे सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आपको ऐसा व्यवहार करना चाहिये। इसका परिणाम अराजकतापूर्ण होगा। तथापि बहुत से लोग निर्देशों की व्याख्या इसी प्रकार करते हैं और इसलिए अत्यंत अनुशासनहीन जीवन जीते हैं।

पूर्व में बुद्ध, ईसामसीह, श्रीकृष्ण और मोहम्मद साहब जैसे अनेक महान् गुरु हुए हैं, जो समय की रेत पर अपना पदचिह्न छोड़ गये हैं। हमारे मन में उनके प्रति पूर्ण सम्मान और भक्ति का भाव होना चाहिये, क्योंकि वे मानव शरीर में देवत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके उपदेश और महान् कार्य आज भी हमारे लिये प्रेरणा के स्रोत हैं। ईश्वरत्व की अनुभूति प्राप्त करने वाले इन समस्त महापुरुषों के उपदेशों में हम मूलत: एक ही चीज पाते हैं, उनमें कोई विरोधाभास नहीं है। यदि आप गीता, रामायण, बाइबल या कुरान का अध्ययन करें तो आप पायेंगे कि उनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। तथापि देवत्व की अनुभूति से रहित आचार्य-प्राचार्य, मनोवैज्ञानिक और बुद्धिवादी, जो इन शास्त्रों की व्याख्या करते हैं, धीरे-धीरे इनके मूल दर्शन से दूर होते जाते हैं। कभी वे एक बात कहते हैं और बाद में पूर्णत: भिन्न बात कहते हैं। उनके विश्लेषण में एकरूपता, निरन्तरता और स्थायित्व का अभाव है।

एकनिष्ठता या निरन्तरता आध्यात्मिक जीवन का एक अति महत्त्वपूर्ण पहलू है। यद्यपि आपके मन में अनेक गुरुओं एवं आध्यात्मिक मार्गों के प्रति सम्मान का भाव हो सकता है, किन्तु जहाँ तक आपकी व्यक्तिगत साधना का सम्बन्ध है, आपको एक ही गुरु और एक विशेष प्रकार के शिक्षण-निर्देशन का अनुकरण करना होगा। यह आवश्यक है, ताकि आपके बिखरे हुए मन को, जो रजोगुणों से परिपूर्ण है, अभ्यास से भागने का कोई बहाना न मिल सके। यदि आपके गुरु आपको जप का अभ्यास करने के लिये कहते हैं तो आप उसे सतत् करते रहिये, उसमें कोई परिवर्तन मत लाइये। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का यही एक मात्र तरीका है।

मैं आपको एक स्थूल उदाहरण दूँगा। शादी के बाद किसी लड़की का अपने पति के साथ एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। जैसा कि किसी अन्य पुरुष के साथ नहीं हो सकता और यह अच्छी बात भी है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य पुरुषों से बात न करे। कोई पुरुष उसके

कार्यालय का सहकर्मी और दूसरा उसका बहनोई हो सकता है। यदि वह उनसे बातें करती है तो इसमें कोई हानि नहीं है।

जिस प्रकार एक लड़की का अपने पति के साथ विशेष सम्बन्ध तथा अन्य पुरुषों के साथ सामान्य, कार्यात्मक सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार एक शिष्य का अपने गुरु के साथ विशेष सम्बन्ध और अन्य सबके साथ सामान्य सम्बन्ध होना चाहिये। हमें सभी सन्तों का आदर करना चाहिए; हमें किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये। किन्तु अपने गुरु के प्रति हमारे विश्वास में सिर्फ इसलिये कमी नहीं आनी चाहिये कि कोई दूसरा सन्त अधिक आकर्षक लगता है।

संसार में आकर्षक व्यक्तियों की कमी नहीं है और न आकर्षक मार्गों या धर्मों की। आध्यात्मिक मार्ग पर मानव सामाज का मार्गदर्शन करने के लिये इस धरती पर अति प्राचीन काल से ही लाखों सन्त अवतरित हुए हैं। यही कारण है कि आज के समाज में अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिकता होने के बावजूद हमारी परम्परा जीवित है।

क्या गुरु की प्रशंसा करनी चाहिये?

अपने गुरु भाइयों से तथा सत्संग में अपने गुरु के बारे में चर्चा करना सदैव उत्तम है। किन्तु ढोल पीट कर उनके नाम का उद्घोष करना ठीक नहीं है; यह परम्परा के अनुसार भी सही नहीं है। यदि सुनने वाला व्यक्ति अभिमुख हो और आपकी बातों में रुचि ले रहा हो तो अपने या किसी अन्य गुरु के बारे में चर्चा करना गलत नहीं है। परन्तु लोगों को इस उद्देश्य से प्रभावित करने का प्रयास कदापि मत कीजिये कि वे आपके गुरु को स्वीकार करें ताकि उनके अनुयायियों की संख्या बढ़े।

कभी-कभी लोग आपके गुरु की आलोचना करेंगे। समस्त गुरु और पैगम्बर निन्दा तथा आलोचना के शिकार हुए हैं और इस भौतिक संसार में यह पूर्णत: स्वाभाविक है। अपने गुरु की आलोचना सुनकर भावुक मत होइये तथा उनके बचाव का प्रयास मत कीजिये। यदि आप बुद्धिमान् हैं तो समझदारी से काम लीजिये तथा ऐसे व्यक्ति से शान्तिपूर्वक निपटिये। उस व्यक्ति से आपको इतनी अच्छी तरह बात करनी चाहिये कि आपका व्यक्तित्व आपके गुरु के दर्शन को प्रतिबिम्बित करे।

एक बार ग्वाटेमाला में एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा, 'क्या आप उस आदमी को जानते हैं?' वह अपने गुरु के बारे में पूछ रहा था। मैंने कहा, 'हाँ, मैंने सुना है कि वह जेल में है।' वह व्यक्ति क्रोधित होकर बोला, 'आप क्या कह रहे हैं?' कुछ देर तक बिल्कुल शान्त रहने के बाद मैंने उत्तर दिया, 'हाँ, मैंने ऐसा सुना है, किन्तु मेरी सूचना गलत हो सकती है।' उसने कहा,'यह पूर्णत: गलत है, वे जेल में नहीं हैं।' मैंने बिल्कुल सामान्य ढंग से कहा, 'हाँ, आप सही हो सकते हैं, और मैं गलत।' अब विवाद के लिये कोई बात नहीं रह गई, अत: वह व्यक्ति शान्त हो गया।

यदि आप अपने गुरु के दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं तो इसमें कोई कूटनीति नहीं है। मैं स्वामी शिवानन्द जी के दर्शन का प्रतिनिधित्व करता हूँ। आप कैसे कह सकते हैं कि यह एक कूटनीति है। वह तो एक जीवन पद्धति है। यदि कोई मुझसे कहता है, 'मेरा गुरु बहुत अच्छा आदमी है', तो मैं सिर्फ यह कहता हूँ, 'वे अच्छे हो सकते हैं, मैं उन्हें नहीं जानता हूँ,' बस, इतना ही।

मेरे गुरु, स्वामी शिवानन्द जी, विवाद से परे व्यक्ति थे। आज तक किसी ने मुझसे एक शब्द उनके विरोध में नहीं कहा है। अत: मुझे इस समस्या का सामना कभी नहीं करना पड़ा। किन्तु मेरे बारे में लोग अनेक तरह की बातें कहते हैं। अधिक अच्छा यह होगा कि आप मेरे किसी शिष्य से यह प्रश्न कीजिये, क्योंकि यह हो सकता है कि उसे इस प्रकार की परिस्थिति का सामना करना पड़ा हो। स्वामी शिवानन्दजी एक गीत गाया करते थे, जिसका अर्थ यह था कि 'अपमान और अन्याय को सहन करो, यह सर्वोत्कृष्ट साधना है।' किन्तु ऐसा करना बहुत कठिन है।

एक बार जब मैं यात्रा पर था, मेरी भेंट एक व्यक्ति से हुई जो कृष्ण के बारे में बातें कर रहा था। और वह जो कुछ भी कह रहा था वह पूर्णत: नकारात्मक और आलोचनात्मक था। मैंने कोई टिप्पणी नहीं की और हम लोग भोजन करने लगे। तब, चूँकि मैंने उस विषय पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी, सम्पूर्ण बातचीत का प्रसंग बदल गया। हम योग और दर्शन तथा अच्छाई और बुराई के बारे में बातें करने लगे। इस प्रकार मुझे वह सब कहने का अवसर मिल गया जो मैं कहना चाहता था। अत: सर्वप्रथम मैं अहंकार को दूर करने के सम्बन्ध में बातें करने लगा। यह विषय स्वत: उपस्थित हो गया था। जब मैं अहंकार को दूर करने की बातें कर रहा था तब मैंने उसे श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के चीरहरण का ही उदाहरण दिया, जिसकी उसने अभी-अभी आलोचना की थी।

मैंने उसे श्रीकृष्ण की 16008 रानियों के बारे में भी बताया। मैं तो एक पुरुष और आठ प्रकृति के बारे में बातें कर रहा था। व्याप्त और संयोजित आठ प्रकृति को 16008 रानियों का नाम दिया गया है। यदि श्रीकृष्ण प्रति सप्ताह एक विवाह भी करते तो 16008 विवाह करने में कितने वर्ष लगते? मैं यह कहना चाहता हूँ कि ऐसी बातों के शाब्दिक अर्थ को नहीं लेना चाहिये। उनमें सूक्ष्म और गहन अर्थ सन्निहित होते हैं।

इसी प्रकार महाभारत के सन्दर्भ में भी उस व्यक्ति ने श्रीकृष्ण की यह कह कर निन्दा की थी कि वे युद्ध और हिंसा के उपदेशक के अतिरिक्त और कुछ

नहीं थे। इस बात का उत्तर देने के उद्देश्य से मैंने श्रीकृष्ण द्वारा गीता में दिये निर्देश का उल्लेख किया– 'तुम अवश्य युद्ध करो।' परन्तु उसके पहले उन्होंने क्या कहा? उन्होंने कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का उपदेश दिया। 'अत: हे अर्जुन, तुम अवश्य योगी बनो। अत: हे अर्जुन! तुम अवश्य युद्ध करो।' योग में संघर्ष के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। योग में कष्ट और क्लेश है, आन्तरिक और बाह्य शक्तियों के बीच द्वन्द्व है। ये बाह्य तत्त्व अन्धे पिता, अर्थात् अहंकार और अज्ञान से उत्पन्न कौरवों के समान हैं। और ये आन्तरिक शक्तियाँ तेज और प्रकाश, अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न पाण्डवों के समान हैं। धीरे-धीरे मैंने उन सभी विषयों पर सावधानी से प्रकाश डाला जिनकी उसने कुछ देर पहले आलोचना की थी।

आप यह अच्छी तरह समझ लीजिये कि अपने गुरु का बचाव करना आवश्यक नहीं है। और इससे आपको कुछ लाभ भी नहीं होगा। वास्तव में आप गुरु को नहीं, स्वयं को बचाने का प्रयास कर रहे हैं। यदि कोई कहता है कि आपके गुरु महात्मा हैं तो आप बहुत प्रसन्न तथा गौरवान्वित होते हैं। और यदि वह उनकी निन्दा करता है तो आप स्वयं को अपमानित अनुभव करते हैं एवं उसी की भाषा में प्रत्युत्तर देना चाहते हैं। परन्तु क्या इस प्रकार आप अपने गुरु के गुणों को प्रतिबिम्बित कर सकते हैं? कदापि नहीं। इस तरह तो आप दूसरे व्यक्ति के नकारात्मक विचारों को और भी सबल बना देंगे। अत: जब भी लोग आपके गुरु, महात्मा या शिक्षक की आलोचना करें तब सर्वोत्तम तरीका यह है कि आप चुप रहें। यही मेरा दर्शन है।

शिष्य के नाम पत्र

साधना को अपने जीवन का लक्ष्य बनाइये; परमानन्द का एक मात्र लक्ष्य। अपने जीवन को दीवार बनाकर उससे पारिवारिक जीवन रूपी सीढ़ी लगाइये और साधनात्मक प्रयास के द्वारा छत पर चढ़ जाइये। जीवन, शरीर, घर-परिवार– ये सभी साध्य की प्राप्ति के साधन हैं; स्वयं में साध्य नहीं हैं। समस्त चीजों को समझना और शान्ति की वेदी पर अपनी पूजा अर्पित करना सीखिये।

मुक्त मन

जब गुरु और शिष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है तो शिष्य से सिर्फ इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वह अपने मन को मुक्त कर दे। मन को मुक्त करने के सिद्धान्त या प्रक्रिया की व्याख्या करना बहुत कठिन है। मन सदैव या तो इन्द्रिय, मानसिक और भावनात्मक बातों में व्यस्त रहता है या गहनतर स्तरों में संलग्न रहता है। और हम प्राय: यह भी नहीं जान पाते हैं कि हमारे मन को कौन नियन्त्रित कर रहा है। भूत, वर्तमान और भविष्य के प्रत्येक विचार तथा किसी वस्तु या व्यक्ति से अच्छे-बुरे प्रत्येक सम्पर्क को मन से अलग किया जाना चाहिये। हमारी सजगता पर इनमें से किसी भी चीज का नियन्त्रण नहीं रहना चाहिये। जब मन इन उलझनों से मुक्त होता है तब वह एक अनुभव, अनुभूति, प्रकाश या दिव्यदृष्टि के रूप में एक अति महान् शक्ति से युक्त होकर प्रकट होता है। संक्षेप में, मैं अपने शिष्यों से इसी बात की अपेक्षा रखता हूँ।

दो हजार वर्ष पूर्व ईसा मसीह के उपदेशों को देश-विदेश में फैलाने वाले कौन थे? वे उनके ऐसे शिष्य थे, जो मुक्त मन से युक्त थे। इसी कारण वे लोगों के अन्तर्मन को प्रकाशित कर सके तथा दु:खी लोगों में उपचारक शक्ति का संचार कर सके और मैं भी आपसे यही अपेक्षा रखता हूँ।

आप आश्रम में या आश्रम के बाहर एक अच्छे योग शिक्षक के रूप में कार्य करने में सक्षम हो सकते हैं, किन्तु यह एक शिष्य का अति स्थूल और सामान्य गुण है। सदैव आपसे अच्छे शिक्षक मिल जायेंगे, जैसे कि अनेक लोग मुझसे बेहतर शिक्षक बन गये हैं। उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता अधिक उत्तम है तथा वे मुझसे अधिक अच्छी तरह बोल सकते और गा सकते हैं।

यदि आप विद्वान् नहीं हैं, आपने आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन नहीं किया है तथा अभिव्यक्ति की अच्छी क्षमता से युक्त नहीं हैं तो मेरे लिये कोई विशेष बात नहीं है। आपके पास शरीर, मन और इन्द्रियाँ हैं तथा सुख-दु:ख पहुँचाने वाली वस्तुओं एवं विषयों का ज्ञान भी है। और समय-समय पर आप सुखकर चीजों की ओर आकर्षित होंगे तथा असुखकर चीजों से दूर जाना चाहेंगे। यह बात भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह तो शरीर, मन और इन्द्रियों का एक प्राकृतिक, स्वाभाविक व्यवहार है। किन्तु इसे मन की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये।

मन को स्वतन्त्र रहना चाहिये–चाहे आप सुख में हों या दु:ख में, वैभव में हों या दरिद्रता में, युवकों के साथ हों या वृद्धों के साथ। बाह्य परिस्थितियों के साथ मन का तादात्म्य नहीं होना चाहिये और उसे इस प्रकार नहीं सोचना चाहिये कि 'मैं गरीब हूँ', 'मैं अमीर हूँ', 'मैं दु:खी हूँ' या ' मैं बहुत भाग्यवान हूँ'। संन्यासी के रूप में हम अपनी पसन्द से गरीबी का जीवन जीते हैं। क्यों? इसलिए कि हमारा मन मुक्त रहे। वैभव, यश, प्रसिद्धि, वासनाएँ आदि इस महान् मानवीय शक्ति को नियन्त्रित और कुंठित कर देती हैं।

शिष्यों को, और विशेष कर युवा संन्यासियों को यह अच्छी तरह समझना चाहिये कि उन्होंने सिर्फ एक सम्प्रदाय या पद्धति का प्रतिनिधित्व करने के लिये ही इस मार्ग को नहीं अपनाया है। हम भौतिक, मानसिक और भावनात्मक स्तरों पर अपने जीवन को सहज-सरल बनाने का प्रयास कर रहे हैं ताकि मन मुक्त रह सके। यदि हम अपने मन को मुक्त रख सकें तो शक्ति बिना किसी साधना के भी, स्वत: जाग्रत होगी। यह एक सामान्य और वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

आपको मालूम है कि पदार्थ विज्ञान में क्या होता है। आप पदार्थ को लेकर उसे विखण्डित करते हैं। प्रारम्भ में यह अनेक तत्त्वों का मिश्रण होता है। परन्तु जब आप तत्त्वों को पदार्थ से अलग करते हुए अन्तिम अवस्था में पहुँचते हैं तो क्या मिलता है? शक्ति या ऊर्जा प्राप्त होती है न? आधुनिक युग में हम उसे आणविक शक्ति कहते हैं। पदार्थ में शक्ति सदैव वर्तमान रहती है, किन्तु यह प्रसुप्त और अदृश्य अवस्था में रहती है। यदि आप एक मुट्ठी यूरेनियम या प्लूटोनियम लें तो आप एक मुट्ठी बालू के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकेंगे। स्थूल पदार्थ में शक्ति छिपी हुई है। किन्तु आप उसे न तो देख सकते हैं और न अनुभव कर सकते हैं। जिस प्रकार एक

वैज्ञानिक एक-एक कर तत्त्वों को अलग करता है और अन्तत: ऊर्जा को मुक्त करने में सफल होता है, उसी प्रकार जब आप मन को तत्त्वों से मुक्त करते हैं तब यह एक महान् शक्ति के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक शिष्य को इस शक्ति को जाग्रत करना चाहिये। तदुपरान्त उसे लोगों के बीच जाकर हर प्रकार से उनकी सहायता करनी चाहिये, चाहे वह उपचार से सम्बन्धित हो या मानसिक शान्ति तथा आध्यात्मिक प्रबोधन से सम्बन्धित।

अब तक यह महान् मानवीय शक्ति कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: अप्रयुक्त रही है। यह प्रत्येक व्यक्ति में निहित है और कभी भी प्रकट हो सकती है। संन्यास में जो शिष्यत्व आपको प्रदान किया जाता है उसका लक्ष्य इस प्रक्रिया को सुसाध्य बनाना है। इस शक्ति को प्राप्त करने के बाद आपको बहुत सावधान रहना चाहिये ताकि जाने-अनजाने इसका दुरुपयोग न हो सके। यदि आपके पास एक रिवाल्वर हो तो इससे एक मित्र या एक दुष्ट व्यक्ति दोनों की हत्या हो सकती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि आपके मन में क्या है। अत: मन का शुद्धिकरण करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। अपने शिष्यों से यह मेरी दूसरी अपेक्षा है।

मन के अशुद्ध और अन्तर्मुखी होने पर या क्रोध, पूर्वाग्रह, वासना, घृणा, ईर्ष्या, लोभ और पसन्द-नापसन्द से युक्त रहने पर यदि यह शक्ति जाग्रत होती है तो वह व्यक्ति लोगों को लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचायेगा। प्रत्येक परिस्थिति में शिष्य को आन्तरिक शान्ति और मौन की अवस्था में रहना चाहिये। यदि उसका गला घोंटा जा रहा हो या दण्डित किया जा रहा हो, तब भी उसे मानसिक शान्ति, समदृष्टि और पूर्ण नम्रता की भावना से युक्त तथा प्रतिरक्षा, घृणा और बदले की भावना से मुक्त रहना चाहिये। समझदारी और करुणा से पूर्ण एक शान्त, प्रशान्त और अविक्षुब्ध शिष्य मानवता के कल्याणार्थ अपनी जाग्रत शक्ति का उपयोग करने हेतु सदैव तत्पर रहता है।

अभी आपकी संख्या निश्चय ही बहुत कम है, क्योंकि हमने अपना कार्य कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ किया है। लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि थोड़े समय के अन्दर ही मेरे शिष्य सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन करने लगेंगे। भविष्य के लक्षण बिल्कुल स्पष्ट मालूम पड़ रहे हैं। अत: अपने शिष्यों से मैं दो बातों की अपेक्षा रखता हूँ–एक मुक्त, स्वतन्त्र मन और ऐसा मन, जो विशुद्ध हो।

शंका समाधान

कोई व्यक्ति उत्तम शिष्य कैसे बन सकता है?

एक महान् शिष्य उत्तम शिष्य नहीं होता है। सम्पूर्ण समर्पण, पूर्ण नम्रता और अहंकारहीनता का होना आवश्यक है, जैसे कि आप एक बाँसुरी के समान हैं, आपका कोई अस्तित्व ही नहीं है। आप जानते हैं कि एक छिद्रदार बाँस से बाँसुरी बनायी जाती है, किन्तु शर्त यह है कि उसमें कोई गिरह न हो। तभी आप मधुर संगीत उत्पन्न कर सकते हैं। यह एक प्रकार का आत्म-त्याग है।

जब तक आपका अपना अस्तित्व है, आपके अन्दर गुरु का निवास नहीं हो सकता। आपके माध्यम से वे तभी कार्य कर सकेंगे जब आप अपने को पूर्णतया खाली कर दें। और अपने को खाली करने की प्रक्रिया ही वह एक मात्र साधना है जिसका अभ्यास प्रत्येक शिष्य को करना चाहिये। उसके लिये हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग का अभ्यास करना आवश्यक नहीं है; उसे सिर्फ अपने को खाली कर देना है।

'हे मेरे स्वामी! आपके समक्ष मेरा कोई अस्तित्व नहीं है। मैं सोच नहीं सकता हूँ। आप ही मेरे माध्यम से सोचते हैं। मैं अपने जीवन की समस्त इच्छा, आकांक्षा आपको समर्पित करता हूँ।' इस प्रकार का आत्मसमर्पण होना चाहिये। आत्मसमर्पण ही उच्चतर ज्ञान की कुंजी है। यदि आपका मन द्वैत और द्वन्द्व, अहंकार और अज्ञानता से भरा हुआ है तो आप कब तक सिर उठाकर चल सकेंगे? इस द्वैतता से मुक्त होने में अनेक जन्म लग जाएँगे।

हो सकता है, आपके गुरु महान् न हों। वे एक सामान्य व्यक्ति हो सकते हैं। यह हो सकता है कि मेरे गुरु मुझसे बहुत अधिक साधारण व्यक्ति रहे हों, इस बात का मुझे कोई पता नहीं। किन्तु जब मैंने अपने को खाली कर दिया और पूर्ण नम्रता एवं श्रद्धापूर्वक स्वयं को उनके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दिया तो बात बन गयी।

गुरु दो वास्तविकताओं के द्योतक हैं–प्रथम, वे एक शिक्षक हैं, और द्वितीय, वे एक व्यापक यथार्थ हैं। वे एक ऐसे शिक्षक हैं जो आपके हृदय में निवास करते हैं। एक शिक्षक के रूप में वे आपको अनेक आवश्यक बातें सिखाते हैं। आपके हृदय में निवास करते हुए वे विकास और पूर्णता की यात्रा में आपकी गति और मार्ग का निर्देशन करते हैं। घटनाओं को स्वाभाविक रूप

से घटने दीजिये। गुरु एक गड़ेरिया हैं, आप भेड़ बन जाइये और निश्चिन्त हो जाइये। वे स्वयं आपकी चिन्ता करेंगे।

आश्रम में न रहने वाले शिष्य अपने गुरु की सेवा किस प्रकार कर सकते हैं?

सेवा का लक्ष्य आत्म-शुद्धि है। गृहस्थ लोग अनासक्त भाव से अपने समाज के लोगों की सेवा तथा गुरु द्वारा निर्धारित दीक्षा के नियमों का पालन करते हुए उनकी सेवा कर सकते हैं। भारत में गुरु परम्परा के अनुसार आध्यात्मिक निर्देश देते हैं। वे आध्यात्मिक जीवन के प्रति पूर्णत: समर्पित होते हैं और जीविकोपार्जन में उनकी कोई रुचि नहीं होती। वे गहन चिन्तन और ध्यान में लीन रहते हैं तथा उच्चतर सत्य की अनुभूति प्राप्त करने एवं अपने अन्दर ईश्वरीय शक्ति को जाग्रत करने हेतु अपना जीवन न्योछावर कर देते हैं। वे अपने आश्रमवासी तथा गृहस्थ शिष्यों से घिरे रहते हैं जो उनकी सम्पूर्ण संस्थागत व्यवस्था को संबल और सहयोग प्रदान करते हैं।

गृहस्थ शिष्य संस्था के आवश्यक खर्च हेतु मासिक या वार्षिक आधार पर कुछ दान देते रहते हैं। गुरु के जन्म-दिवस के अवसर पर वे गरीबों को भोजन कराते हैं। इस हेतु उत्तम भोज्य-सामग्रियाँ तैयार की जाती हैं तथा इलाके के समस्त कुष्ठ-पीड़ित, अन्धे, अनाथ और असहाय लोगों को भोज में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया जाता है। गृहस्थ शिष्य अपने गुरु के उपदेशों को अपने परिवार के सदस्यों, मित्रों तथा सहयोगियों तक पहुँचा कर भी उनकी सेवा करते हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध में क्या ऐसी सम्भावना नहीं है कि गुरु का व्यक्तित्व शिष्य के व्यक्तित्व को आच्छादित कर देगा?

शिष्य अज्ञानता की अवस्था से गुजर रहा है; वह एक जिज्ञासु है और प्रकाश की खोज कर रहा है। इसलिये वह गुरु की ओर देखता है और गुरु क्रमश: उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर देते हैं। यह रूपान्तरण शनै:-शनै: होता है। यह व्यक्तित्व का समर्पण नहीं है। यह तो एक ऐसे व्यक्ति को अपनी सीमित आत्मा का अर्पण है जो उसे असीम, अनन्त आत्मा में बदल देंगे। वे कच्चे माल को एक बड़ी भट्ठी में डाल देंगे जिससे अन्तत: इस्पात, ताम्बा या सोना प्राप्त होगा। शिष्य तो एक कच्चे माल के समान है।

गुरु उसे आध्यात्मिक विकास की भट्ठी में डालते हैं ताकि वह शुद्ध पदार्थ बन सके।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जब हम स्वयं को गुरु को समर्पित करते हैं तब हमारा लक्ष्य दास बनना नहीं, बल्कि स्वामी बनना होता है। एक शिष्य को यह कदापि अनुभव नहीं करना चाहिये कि वह अपने गुरु के लिये कार्य कर रहा है। जब शिष्य यह सोचने लगता है कि वह अपने गुरु को महान् सेवा प्रदान कर रहा है तब समझना चाहिये कि उसका अहंकार बढ़ रहा है। जब कोई शिष्य अपने गुरु की सेवा कर रहा है तो उसे इस बात के प्रति सजग रहना चाहिये कि वह अपने आध्यात्मिक विकास के लिये ऐसा कर रहा है।

शिष्य पर दीक्षा का क्या प्रभाव पड़ता है?

गुरु से आध्यात्मिक स्फुर्लिंग प्राप्त करने के बाद शिष्य अपने विकास की अवस्था के अनुसार अनुभव प्राप्त करने लगता है। यदि वह बुद्धिवादी है तो उसकी बुद्धि तेज हो जाएगी, सूक्ष्म विषयों की समझदारी बढ़ जाएगी तथा उसे अपने प्रश्नों के सही उत्तर मिलने लगेंगे। एक भक्त स्वभाव का व्यक्ति तीव्र प्रेम के भाव का अनुभव करने लगेगा। कुछ समय के लिये इच्छाएँ प्रबल होकर प्रकट हो सकती हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे समाप्त हो जायेंगी। पुरानी और सुषुप्त बीमारियाँ भी प्रकट हो सकती हैं, किन्तु अन्ततः वे भी सदा के लिये समाप्त हो जायेंगी। इस प्रकार जाग्रत शक्ति शिष्य को आध्यात्मिक पूर्णता के मार्ग पर दृढ़ता से प्रवृत्त करती है।

गुरु के प्रति भक्ति आवश्यक है। ईश्वरीय शक्ति सर्वत्र व्याप्त है, तथापि गुरु ही शिष्य के अज्ञान के आवरण को हटा सकते हैं। जब साधक का विकास होने लगता है तब उसे स्वयं अपना गुरु बनना पड़ता है। उसे अपनी अन्तर्निहित शक्ति के प्रति स्वयं को समर्पित करते हुए अपनी आन्तरिक प्रक्रिया को निरन्तर साक्षी भाव से देखना पड़ता है। सच्चे गुरु अपने शिष्य को संसार छोड़ने का नहीं, बल्कि अपने सीमित व्यक्तित्व का त्याग करने का निर्देश देते हैं। वे उसकी धन-सम्पत्ति को नहीं, बल्कि दोषों और चिन्ताओं को दूर करते हैं। अपने गुरु को महान् समझने वाला शिष्य स्वयं भी महान् बन जाता है। गुरु ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे अपने शिष्य के लिये एक नये, अद्भुत जगत् का सृजन करते हैं। वे विष्णु हैं, क्योंकि वे उसे संबल और सुरक्षा प्रदान करते हैं। और वे शिव हैं, क्योंकि वे उसके अहंकार और अज्ञान का विध्वंस करते हैं।

एक शिष्य की कहानी

जब कोई शिष्य पहली बार अपने गुरु से मिलता है तब वह अपने अन्दर भक्तिभाव के विस्फोट का अनुभव कर सकता है। किन्तु हमेशा ऐसा नहीं होता। और, यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक शिष्य को इस प्रकार का अनुभव प्राप्त हो। यदि गुरु प्रथम दर्शन के समय ही आपकी भावनाओं को उद्वेलित न कर सकें तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप उनकी उपस्थिति के अनुभव से वंचित रह गये। कुछ शिष्य श्रेष्ठतर पदार्थ से बने होते हैं। वे एक हीरे के समान होते हैं। हीरे को काटना बहुत कठिन होता है। किन्तु एक कागज के टुकड़े को काटना कितना आसान है; आपको एक चाकू भी नहीं चाहिये। और एक लकड़ी के टुकड़े को एक छोटे उपकरण से आसानी से काटा जा सकता है।

जब कोई शिष्य आध्यात्मिक क्षेत्र के निकट जाता है तो वह अपनी ही श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि से प्रभावित होता है। उसने अपने लिये एक परिकल्पना और आत्म-सम्मोहन की स्थिति का सृजन कर लिया है। जब भी आप किसी दिव्य क्षेत्र में जाते हैं–अपने गुरु के समक्ष, एक गिरिजाघर या मन्दिर में–आप अनजाने ही अपने अन्दर श्रद्धा की एक स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं और यही कारण है कि आप अविलम्ब प्रभावित होते हैं। आप गुरु या दैवी वातावरण से प्रभावित नहीं हो रहे हैं, यह पूर्णत: एक आन्तरिक चीज है।

यदि गुरु के प्रथम दर्शन से आप प्रभावित नहीं होते हैं तो यह एक शुभ लक्षण है। इसका अर्थ यह है कि आप एक उत्तम शिष्य हो सकते हैं। परन्तु इस हेतु आपको घोर परिश्रम करना होगा। आपको निराश नहीं होना चाहिये। यह एक अति सकारात्मक लक्षण है, किन्तु आपको इसे ठीक से समझना चाहिये। आप ऐसा सोच सकते हैं कि गुरु को देखते ही आप फूट-फूट कर

रोने लगेंगे, आपका शरीर काँपने लगेगा, आप भाव-विभोर हो जायेंगे, आदि। किन्तु इस प्रकार की कल्पना निराधार है।

आधुनिक भारत के महान् सन्त रामकृष्ण परमहंस के विश्व विख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में एक कहानी है। रामकृष्ण उनके पीछे पागल थे। प्रतिदिन शाम के समय वे मन्दिर के दरवाजे पर खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा किया करते थे। वे प्रत्येक व्यक्ति से पूछते थे कि 'क्या नरेन्द्र आ गया है?' (विवेकानन्द का प्रथम नाम नरेन्द्र था) नरेन्द्र विश्वविद्यालय से सीधे अपने घर जाते और तब वे रामकृष्ण के पास आते थे। वे रामकृष्ण के प्रेम और आदर से तनिक भी प्रभावित नहीं होते थे। वास्तव में, वे अपनी इच्छा, व्यक्तित्व और अहंकार को इस अशिक्षित सन्त के समक्ष समर्पित करने में बहुत हिचकिचाते थे।

नरेन्द्र भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक थे, जो प्रारम्भ से ही बुद्धिवादियों का गढ़ रहा है। उन्होंने सभी महान् वैज्ञानिकों के जीवन और कार्यों का अध्ययन किया था। अत: वे इस निरक्षर सन्त से कैसे प्रभावित होते जो अपना नाम लिखना भी नहीं जानते थे। तथापि धीरे-धीरे रंग बदलने लगा। जन्म-जन्मान्तर से एकत्र संस्कारों की ठोस चट्टानें टूटने लगीं। अन्तत: एक ऐसा समय आया जब विवेकानन्द अपने गुरु के अभिन्न अंग बन गये। जो लोग स्वामी विवेकानन्द की जीवनी तथा उनके संन्यस्त जीवन के प्रयोगों से परिचित हैं, वे इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं।

रामकृष्ण के देहान्त के बाद स्वामी विवेकानन्द सम्पूर्ण भारत की पैदल यात्रा पर निकल पड़े। उनके पास सिर्फ दो धोतियाँ थीं, इनके अलावा एक फूटी कौड़ी नहीं थी। उन दिनों उन्हें घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु जब भी वे निराश होते, उनके समक्ष रामकृष्ण की देदीप्यमान मूर्ति प्रकट होती और इससे उन्हें अपार शान्ति और प्रेरणा मिलती। जब दक्षिण भारत में एक धनी व्यक्ति ने उन्हें अमेरिका की यात्रा करने की सलाह दी तो वे यह सोच नहीं सके कि क्या किया जाये। किसी ने उनसे कहा था कि शिकागो में एक धर्म सम्मेलन होने जा रहा है; चूँकि वे एक बहुत अच्छे वक्ता हैं, उन्हें वहाँ जाने का प्रयास करना चाहिये। उन्हें जलयान पर चढ़ा दिया गया। जब वे अमेरिका पहुँचे तो उनके पास पैसे नहीं थे। उनके लिये यह एक बिल्कुल नया देश था, वहाँ उनका कोई मित्र भी नहीं था। उनके सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। आप तो जानते हैं कि अमेरिका के लोग कैसे होते हैं। दरवाजा खटखटाने पर वे खोलते तो हैं, लेकिन अविलम्ब बन्द भी कर देते हैं।

एक प्रभावशाली व्यक्ति की अनुशंसा पर उन्हें धर्म-सम्मेलन में शामिल होने का अवसर मिला तथा बोलने के लिये सिर्फ दस मिनट का समय दिया गया। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि 'मुझे पता नहीं था, क्या बोलूँ, क्योंकि वे सब जानते थे।' अत: वे मंच पर खड़े हो गये और श्रोताओं को सम्बोधित करने लगे। भाषण प्रारम्भ करने के ठीक पहले उनके समक्ष रामकृष्ण का देदीप्यमान चेहरा प्रकट हुआ। उन्होंने उनकी जीवन्त उपस्थिति का अनुभव किया और कहीं खो गये। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उनके प्राण खो गये, बल्कि उनका अहंकार पूर्णतया नष्ट हो गया। उन्होंने दस मिनट तक धर्म-सम्मेलन को सम्बोधित किया। श्रोतागण इतने प्रसन्न हुए कि इस सम्पूर्ण अवधि में जय-जयकार करते रहे तथा अपना टोप उछालते रहे।

स्वामी विवेकानन्द ठीक-ठीक समझ नहीं पाये कि वे क्या बोल गये। उन्हें ऐसा लगा कि वे निद्रावस्था में पहुँच गये हैं और कोई उनके अन्दर से बोल रहा है। तदुपरान्त उन्होंने अमेरिकावासियों का दिल जीत लिया। गुरु और शिष्य के बीच ऐसा ही सम्बन्ध होना चाहिये। अत: गुरु से अभिप्रेरणा प्राप्त करने हेतु प्रतीक्षा कीजिये।

भक्ति कैसे जगायें?

गुरु और शिष्य के बीच नि:स्वार्थ सम्बन्ध होना चाहिये। कभी-कभी ऐसा होता है, किन्तु अधिकतर ऐसा नहीं होता। नि:स्वार्थ सम्बन्ध टिकाऊ होता है। स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। मान लीजिये कि आप किसी चीज के लिये गुरु के पास जाते हैं और वह आपको मिल जाती है, तब आप उनमें विश्वास करने लगते हैं। बाद में यदि वे आपकी माँग की पूर्ति नहीं कर सकते हैं तो आप कहते हैं कि 'आह! अब वे मेरे गुरु नहीं है। उनकी आध्यात्मिक शक्ति समाप्त हो गई है। पहले उनमें पर्याप्त आध्यात्मिक शक्ति थी। अब वे माया के चंगुल में फँस गये हैं और इसलिये उनकी आध्यात्मिक शक्ति समाप्त हो गई है।' यह किस प्रकार की भक्ति या विश्वास है? एक बार जब आपने उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया है तो बात समाप्त हो जानी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि हमारा विश्लेषण प्राय: बौद्धिक होता है।

समय के साथ गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध अधिकाधिक तीव्र होना चाहिये। आप इस सम्बन्ध को इस हद तक विकसित कर सकते हैं कि आप दोनों के बीच पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाये; मैं अपने गुरु में हूँ और वे मुझमें हैं। और जब भी आप आँखें बन्द करें, वे आपके सामने उपस्थित हों। यह आवश्यक नहीं है कि आप सदैव उनके सान्निध्य में रहें, किन्तु यह आवश्यक है कि वे आपकी श्वासों की अपेक्षा आपके अधिक निकट रहें। आप 24 घंटे में 21,600 बार श्वास लेते हैं और यदि तीन मिनट तक श्वास रुक जाती है तो आपकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है। जीवन की इतनी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया, जो आपके भौतिक अस्तित्व से पूर्णत: जुड़ी हुई है, शायद ही आप कभी सोचते हैं कि आप श्वास ले रहे हैं।

इसी प्रकार गुरु निरन्तर हमारे अन्दर निवास करते हैं, किन्तु हम नहीं जानते कि वे वहाँ स्थित हैं। इस सजगता को आप किस प्रकार विकसित कर सकते हैं? सर्वप्रथम आपको एक बाह्य गुरु चाहिये। वे एक व्यक्ति हैं, अत: आप उनसे प्रेम कर सकते हैं, उनके बारे में सोच सकते हैं, उनकी प्रकृति, प्यार, दयालुता और आशीर्वाद का अनुभव कर सकते हैं। आप उनकी असारता या ओछेपन को भी समझ सकते हैं। वे हमलोगों के जैसे ही रहते हैं। हम उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं, क्योंकि वे कमोबेश हमारे स्तर पर ही रहते हैं। इस प्रकार सजगता को अधिकाधिक तीव्र किया जा सकता है।

आप ध्यान या भोजन के समय उनके बारे में सोच सकते हैं। जब आप दु:खी और थके हुए हो, पति या पत्नी से झगड़ा कर रहे हों, बच्चा बीमार हो या अन्य किसी भी प्रकार की गड़बड़ी हो तो आप उन्हें याद कर सकते हैं। आप सैंकड़ों-हजारों अवसरों पर उनके प्रति सजगता का अभ्यास कर सकते हैं और इस प्रकार सतत् सजगता विकसित कर सकते हैं। तब आप उसी सजगता को ईश्वर पर प्रक्षेपित कर सकते हैं।

अत: गुरु और शिष्य के बीच का सम्बन्ध किसी भी आयाम या स्तर पर विकसित किया जा सकता है। आप उन्हें पूज्य, आदरणीय या अपने प्रेमी के रूप में मान सकते हैं। आप जिस वस्तु को पसन्द नहीं करेंगे, उस पर एकाग्रता का अभ्यास नहीं कर सकेंगे। बुद्ध के एक सूत्र में कहा गया है कि मानसिक एकाग्रता विकसित करने के प्रसंग में सबसे पहला स्थान पसन्द और प्रियता का आता है, तदुपरान्त प्रेम और अनुराग का। यदि आप एकाग्रता प्राप्त करना चाहते हैं, गुरु या किसी अन्य वस्तु में पूर्णत: लीन हो जाना चाहते हैं, तो आपको इसी क्रम में आगे बढ़ना होगा। सर्वप्रथम आप उन्हें पसन्द करें; और इस पसन्दगी से प्रियता उत्पन्न होनी चाहिये। आपको उनके बारे में सोचना अच्छा लगने लगता है। उसके बाद प्रेम या अनुराग और भक्ति विकसित होनी चाहिये। इनके बाद एकाग्रता स्वत: प्राप्त हो जायेगी। यदि आप किसी वस्तु को पसन्द नहीं करेंगे तो वह आपको सुखद नहीं लगेगी। अत: उसके प्रति आपके अन्दर प्रेम उत्पन्न नहीं होगा और आप अपने मन को उसमें एकाग्र नहीं कर सकेंगे।

शिष्य को निर्देश

मन की सीमा के ठीक बाहर एक अवस्था या अनुभूति का क्षेत्र है जिसमें आप उस व्यक्ति या वस्तु को देख सकते हैं जिसे आप बहुत अधिक चाहते हैं। तब आप अपनी सजगता के आन्तरिक स्तर पर उसे एक स्पष्ट वास्तविकता के रूप में प्रकट कर सकते हैं। किन्तु ऐसा तभी होता है जब आपकी चेतना का स्तर ऊँचा उठता है। और तब जो चित्र उभरता है, वह बिल्कुल स्पष्ट होता है। इस उच्च अवस्था में आप अनुभव करेंगे कि आप गुरु के सामने बैठे हुए हैं और वे आपसे बातें कर रहे हैं। अत: अपनी चेतना को विकसित करने के लिये प्रतिदिन आधा से एक घंटा तक अभ्यास कीजिये।

चेतना की मुख्यत: दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था में आप जानते हैं कि आप सब कुछ देख रहे हैं, किन्तु दूसरी अवस्था में आप यह नहीं जानते। तदुपरान्त जब आप उससे बाहर आते हैं तो थोड़ा असन्तुलित रहते हैं। यदि आप गुरु के निर्देश के अनुसार अभ्यास कर रहे हैं तो यह असन्तुलन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। किन्तु यदि आप उनके निर्देश के अनुसार नहीं चल रहे हैं तो यह सम्भव है कि आप पागल हो जायें। यही कारण है कि गुरु-निर्देशों के बिना कदापि साधना नहीं करनी चाहिये, कुंजल और नेति भी नहीं। शिष्य को स्वयं को पूर्णत: गुरु पर छोड़ देना चाहिये। तब, सही समय आने पर, गुरु उसे समुचित साधना प्रदान करेंगे। मैंने पूर्व में आपसे ये बातें नहीं कही, क्योंकि इन्हें समझने के लिये कुछ परिपक्वता आवश्यक थी।

यदि गुरु से आपका सम्बन्ध बहुत सहज है तो उसका रूप कुछ भी हो सकता है। वे सिर्फ आपके गुरु ही नहीं है, आप उन्हें अपना मित्र, प्रेमी, सन्तान या माता-पिता मान सकते हैं। वे पुरुष और आप एक स्त्री हो सकते

हैं, किन्तु अपने समस्त शिष्यों से गुरु का सम्बन्ध पूर्णत: स्पष्ट है। उनका प्रत्येक कार्य शिष्यों की चेतना को प्रभावित करने के उद्देश्य से ही होता है। अपने शिष्यों के सम्बन्ध में गुरु का अन्य कोई लक्ष्य नहीं होता है, किन्तु अधिकतर शिष्य इस बात को नहीं समझते। अत: उनके अन्दर प्राय: भावनात्मक असन्तुलन उत्पन्न होता है। कभी आप सोचते हैं कि 'स्वामीजी मुझे बहुत प्यार करते हैं' और फिर कभी यह सोचते हैं कि 'इन दिनों वे मुझे तनिक भी प्यार नहीं करते हैं।' ऐसा सोचना गलत है। गुरु कभी किसी को प्यार नहीं करते हैं। वे जो कुछ करते हैं, उसके पीछे एक लक्ष्य होता है– शिष्य की मानसिक अवस्था में गुणात्मक परिवर्तन लाना।

आप जानते हैं कि दूध में चीनी डालने से उसका गुण बदल जाता है। उबलते हुए जल में चाय डाल कर आप जल के गुण को बदल देते हैं। इसी प्रकार जब एक बार गुरु आपके मन में प्रविष्ट हो जाते हैं तो वे उसकी समस्त संरचना और गुणों को परिवर्तित कर देते हैं। यह एक बिल्कुल सरल प्रकिया है। वे मन्त्र, साधना, प्रवचन, कीतर्न, चिन्तन, आदि अनेक माध्यमों से यह कार्य कर सकते हैं। जब आपके मानसिक स्तर पर गुरु का आगमन होता है तब साधना प्रारम्भ होती है। किन्तु ऐसा कभी मत सोचिये कि गुरु व्यक्तिगत रूप से किसी से जुड़े हुए हैं या उसे प्यार करते हैं।

एक निश्चित अवस्था में पहुँचने पर शिष्य में अपनी सजगता विकसित करने की क्षमता आ जानी चाहिये। तब उसे गुरु के भौतिक स्वरूप की तनिक भी आवश्यकता नहीं रह जाती। सजगता की उस स्थिति और भौतिक सम्पर्क के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों अवस्थाएँ पूर्णत: एक समान हो जाती हैं। यह भी हो सकता है कि चेतना की वह अवस्था भौतिक सम्पर्क से अधिक साकार और वास्तविक हो। यदि आप एकान्त में मेरा मानसदर्शन या अनुभव कर सकें तो यह प्रत्यक्ष निर्देश की अपेक्षा बहुत अधिक तुष्टिकारक और पूर्णता प्रदान करने वाला होगा। आप इस हेतु प्रयास कर सकते हैं।

सबसे पहले आपको यह समझना चाहिये कि मैं आपका गुरु हूँ और आप प्रतिक्षण मेरे नियन्त्रण में हैं। गुरु का यही प्रयोजन होता है। कभी-कभी मैं गुस्सा कर सकता हूँ, आपको गाली दे सकता हूँ, ठोकर मार कर आश्रम के मुख्य द्वार से बाहर भी कर सकता हूँ। इन समस्त चीजों को आपको स्वीकार करना होगा। पक्का शिष्य वही है जो सदैव अपने गुरु के नियन्त्रण में रहता है।

अन्यथा बहुत से साधक अपने आध्यात्मिक जीवन में घोर परिश्रम करते हैं और कुछ अनुभव भी प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु बाद में पुन: सामान्य अवस्था में पहुँच जाते हैं। चूँकि उनके कोई गुरु नहीं हैं, वे बैठे-बैठे अनुपयोगी बातें किया करते हैं और वही कार्य करते हैं जो उन्हें अच्छा लगता है। यदि मैं कहूँ कि मौन धारण कीजिये, सोईये नहीं, तो आप मेरे साथ तर्क नहीं कीजिये, बिना किसी सोच-विचार या हिचकिचाहट के मेरी आज्ञा का पालन कीजिये। गुरु के समक्ष साधक शिष्य का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होना चाहिये। तभी वे उसकी सहायता कर सकते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि आप में सभी तत्त्व विद्यमान हैं। आवश्यकता है कठिन परिश्रम करने की। महीने में एक बार, सप्ताह में एक बार या दिन में एक बार अभ्यास कीजिये। आन्तरिक सजगता को विकसित कीजिये। अपने गुरु के साथ आन्तरिक संचार स्थापित कीजिये। वह बाह्य, प्रत्यक्ष भौतिक संचार की अपेक्षा अधिक ठोस, संतोषजनक, शक्तियुक्त और यथार्थ है। कुछ समय के अभ्यास के बाद ही आप इस बात को समझ सकेंगे। यह अवास्तविक नहीं है। सम्भवत: यही वास्तविक और बाह्य सम्पर्क अधिक अवास्तविक लगता है। किन्तु इसका एक मात्र कारण यह है कि यह सजगता की एक ऊँची अवस्था है।

आपको मालूम है कि सजगता किस प्रकार प्रक्षेपित की जाती है। अत्यधिक भय या वासना की अवस्था में सजगता की इस अभिव्यक्ति को आप देख सकते हैं। किन्तु इसका अभ्यास करते समय आप एक बात अवश्य स्मरण रखें– उस समय मैं जो भी आदेश दूँ, वह बिना किसी तर्क के अवश्यमेव स्वीकार्य हो। ऐसा निश्चय करने के बाद ही आप यह अभ्यास कर सकते हैं। अन्यथा, चेतना की क्षणिक अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करना भी बहुत कठिन हो जाता है। आप कहेंगे कि 'मैं ऑस्ट्रेलिया जा रहा हूँ', और यदि मैं कहूँ कि 'नहीं, मत जाइये,' तो आप मेरी बात नहीं मानेंगे।

अत: सर्वप्रथम आप मेरे साथ इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कीजिये कि मैं जो भी आज्ञा दूँ उसका पालन आप अविलम्ब और सहजतापूर्वक करें। इस सम्बन्ध में पुनर्विचार, तर्क, विश्लेषण या निर्णय का कोई स्थान नहीं होना चाहिये। यदि मैं कहूँ नहीं, तो बात वहीं समाप्त हो जानी चाहिये। अन्यथा, चेतना के प्रकट होने पर क्या स्थिति होगी? अनेक प्रकार के विचार मन में आने लगते हैं और व्यक्ति आधारहीन हो जाता है। अत: यदि आप कहें कि

'मैं ऑस्ट्रेलिया जा रहा हूँ' और मैं कहूँ कि 'प्रतीक्षा कीजिये, अभी नहीं' तो आपको कहना चाहिये कि 'ठीक है, स्वामीजी ने कहा नहीं, अत: मैं नहीं जाऊँगा।' गुरु जो भी कहें–सही या गलत–शिष्य को सहजता से स्वीकार करना चाहिये। जब तक इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न हो जाये, शिष्य को उच्चतर साधना का अभ्यास करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। अन्यथा अनुभव की अवस्था में पहुँचने पर वह दिग्भ्रमित हो जा सकता है।

सामान्य जीवन के सन्दर्भ में आपके अपने अनुभव हैं और मेरे अपने। किन्तु गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सर्वदा आध्यात्मिक होता है, चाहे आप रूपये-पैसे या धन से सम्बन्धित कार्यों में संलग्न क्यों न हों। अत: आप जहाँ भी जायें, यह सजगता बनी रहनी चाहिये। मेरे निर्देश के अनुसार कार्य करते हुए यदि अपने विभाग में आपसे कुछ गलतियाँ हो जाती हैं तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। मैंने ही आपसे ऐसा करने के लिये बोला था। मान लीजिये कि आप रसोई घर में कार्य कर रहे हैं और मैं आपसे कहता हूँ कि गेहूँ को बाहर रखिये। ऐसे करने से यदि दस बोरा गेहूँ बर्बाद हो जाये तो चिन्ता की कोई बात नहीं है। यह एक भौतिक क्षति हो सकती है, किन्तु यह एक आध्यात्मिक लाभ है, क्योंकि आपने गुरु की आज्ञा का पालन किया है।

गुरु शिष्य का शोषण नहीं करते हैं। यदि शिष्य भक्ति-भाव से भरा हुआ है तो वे कदापि उसका शोषण नहीं कर सकते। यदि शिष्य स्वार्थी है तो गुरु उसका शोषण कर सकते हैं। अनेक पुस्तकों में लिखा हुआ है कि गुरु शिष्यों का शोषण करते हैं, किन्तु मेरा अनुभव है कि गुरु नि:स्वार्थी शिष्यों का शोषण कभी नहीं कर सकते। वे सिर्फ स्वार्थी शिष्यों का शोषण कर सकते हैं। एक नि:स्वार्थी साधक शिष्य की कभी कोई हानि नहीं होती, चाहे गुरु उससे कुछ भी कहें, क्योंकि उसकी उच्चतर चेतना निरन्तर विकासशील रहती है।

शंका समाधान

अभौतिक स्तर पर गुरु हमसे किस प्रकार संचार स्थापित करते हैं?

जब गुरु ब्रह्माण्डीय मन विकसित कर लेते हैं तब वे कहीं से भी कार्य कर सकते हैं, क्योंकि ब्रह्माण्डीय मन अन्य प्रत्येक मन के साथ कभी भी और कहीं भी सम्पर्क स्थापित कर सकता है। यह सम्प्रेषण की नहीं,

बल्कि संचार और अन्तर्मिलन की बात है। व्यक्तिगत मन तो सिर्फ एक अवधारणा है; वास्तव में यह कुछ भी नहीं। व्यक्तिगत मन नामक कोई चीज नहीं होती, अस्तित्व तो केवल ब्रह्माण्डीय मन का होता है, क्योंकि आप ब्रह्माण्डीय मन का एक अंग हैं। गुरु आप से कहीं से, कहीं भी संचार स्थापित कर सकते हैं। दो व्यक्ति अपने बीच सदैव संचार स्थापित कर सकते हैं, क्योंकि उनके मन समान होते हैं।

इस बात को ठीक से समझना होगा। शिष्यों के भ्रम के कारण कभी-कभी गुरु को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति गीत गा रहा है तो उसके सामने बैठा हुआ बहरा व्यक्ति कहेगा कि वह गा नहीं रहा है। इसी प्रकार गुरु का ब्रह्माण्डीय मन तो संचार स्थापित करने में सक्षम है, किन्तु शिष्य उसे ग्रहण नहीं कर सकता है। अत: वह कहता है कि गुरु अयोग्य हैं। शिष्य व्यक्तिगत मन के दलदल में फँसा हुआ है। गुरु समय-समय पर सन्देश भेजते रहते हैं, किन्तु शिष्य के बहरे कान उन्हें सुन नहीं सकते। आन्तरिक स्तर पर गुरु से संचार स्थापित करने के लिये शिष्य को अपना ब्रह्माण्डीय मन विकसित करना होगा।

यदि कोई संन्यासी गुरु से सम्पर्क करना चाहे तो क्या इसके लिये रात या दिन का कोई विशेष समय सर्वोत्तम होगा?

एक शिष्य अपने गुरु से कभी भी सम्पर्क कर सकता है, क्योंकि उनके बीच कोई भौगोलिक अवरोध नहीं होता है। अधिक गहरे और उच्चतर मन द्वारा सम्पर्क किया जा सकता है। सिर्फ सोचने से ही सम्पर्क स्थापित हो सकता है, किन्तु इसके लिये मन को अतिसूक्ष्म बनाना होगा। एक ऐसा क्षण आता है जब व्यक्तिगत मन का ब्रह्माण्डीय मन के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। तब कुछ समय के लिये व्यक्तिगत अहंकार समाप्त हो जाता है।

गुरु अपने सैंकड़ों-हजारों शिष्यों के व्यक्तिगत विकास को किस प्रकार समझते और निर्देशित करते हैं?

अन्तरिक्ष में एक उपग्रह है और समस्त रेडियो संचार उससे होकर गुजरते हैं। जब वे उपग्रह से गुजरते हैं तो अविभेदीकृत एवं अवर्गीकृत रहते हैं। यदि आप अपने रेडियो को उस उपग्रह के संचार से समस्वरित कर सकें तो आप केवल अविभेदीकृत गुंजायमान ध्वनियों को ही सुनेंगे।

प्रति सैकण्ड हजारों संदेश उस उपग्रह से गुजरते हैं और विश्व के विभिन्न रेडियो केन्द्रों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। वहाँ उनका विभेदीकरण, वर्गीकरण और अर्थनिर्णय किया जाता है और तब आप दूरभाष पर अपने मित्र से सम्पर्क करते हैं। गुरु और शिष्य के बीच में भी ऐसा ही होता है।

शिष्यों द्वारा प्रेषित विचार तरंगें गुरु के पास पहुँचती हैं। सर्वप्रथम वे उनकी ब्रह्माण्डीय चेतना से गुजरती हैं और उस समय वे अभेदीकृत रहती हैं। उस अवस्था में इनके लिये कोई भाषा या विचार नहीं होता, सिर्फ स्पन्दन होता है। तदुपरान्त वह स्पन्दन उनकी ब्रह्माण्डीय चेतना से उनकी व्यक्तिगत चेतना में पहुँचता है। जब यह उनकी व्यक्तिगत चेतना से गुजरता है तब वे अपने शिष्य के प्रति सजग होते हैं। यह बात सिर्फ गुरु के साथ ही सत्य नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति के साथ ऐसा ही होता है। आप प्रतिदिन अनगिनत व्यक्तियों और वस्तुओं को याद करते हैं, यह ब्रह्माण्डीय चेतना से व्यक्तिगत चेतना में संचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भौतिक दृष्टि से गुरु भी शरीर में हैं, किन्तु भौतिक शरीर गुरु नहीं है। वे भौतिक शरीर के अतिरिक्त कुछ और हैं। भौतिक शरीर तो केवल एक निवास स्थान है; गुरु उस शरीर के परे हैं। वे उन्नत सजगता या उच्चतर चेतना के द्योतक हैं। यह अन्तर्चेतना ही संदेशों को ग्रहण करती है, और उन्हें वर्गीकृत करने के बाद निपटाती है। और यह सब इसलिये होता है कि वे स्वयं में एक उन्नत सत्ता हैं।

ब्रह्माण्डीय चेतना की अवधारणा को हम किस प्रकार समझ सकते हैं?

सृष्टि में करोड़ों मनुष्य, पशु और वस्तुएँ हैं। वे भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, किन्तु वस्तुत: वे सभी एक ही शरीर के विभिन्न अंग हैं। आप जानते हैं कि आपके शरीर में कोशिकाएँ हैं और उनमें से प्रत्येक एक पूर्ण जीव है। यदि कोई कोशिका सोचना प्रारम्भ कर दे तो वह स्वयं को अन्य कोशिकाओं से भिन्न समझने लगेगी। किन्तु क्या वह वास्तव में भिन्न है?

हम कोशिका को सम्पूर्ण शरीर के अंग के रूप में देखते हैं, क्योंकि हम विश्लेषण करने में सक्षम हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में एक उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेता है, वह सम्पूर्ण सृष्टि को एक संरचना के रूप में देखता है। अत: क्या हम वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं? क्या गुरु

शिष्य से भिन्न और शिष्य गुरु से भिन्न है? क्या वे सभी एक ही ब्रह्माण्डीय चेतना में अन्तर्ग्रथित नहीं हैं? हम सब का एक ब्रह्माण्डीय मस्तिष्क और एक ब्रह्माण्डीय शरीर है। तब गुरु और शिष्य के बीच संचार में क्या कठिनाई हो सकती है? वे दोनों एक ही ब्रह्माण्डीय शरीर की दो कोशिकाएँ हैं।

अत: चिन्ता मत कीजिये। प्रात:काल में थोड़ा योगाभ्यास कीजिये, अपने पेट से वायु को निष्कासित कीजिये, मौन धारण कीजिये तथा अपने मन और इन्द्रियों को शान्त कीजिये। अपनी बन्द आँखों के सामने अपने गुरु का देदीप्यमान स्वरूप विकसित कीजिये। ऐसा तब तक करते जाइये जब तक कि वे सूर्य या चन्द्र के समान चमकने न लगें और तब अपनी भावनाएँ उन्हें प्रेषित कीजिये। अविलम्ब उत्तर मिलेगा।

गुरु एक मनोचिकित्सक

मनोचिकित्सक और गुरु, दोनों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती हैं। जहाँ मनोचिकित्सक का कार्य समाप्त होता है, वहाँ से गुरु का कार्य प्रारम्भ होता है। अत: उन दोनों की तुलना करने के बदले उन्हें एक-दूसरे से जोड़ देना अधिक उचित होगा।

गुरु निश्चय ही एक मनोचिकित्सक के रूप में कार्य कर सकते हैं, किन्तु यह उनका प्रमुख लक्ष्य नहीं है। एक मनोचिकित्सक आपके जीवन के एक विशेष संकट के सन्दर्भ में आपकी सहायता करता है। किन्तु गुरु द्वारा की जाने वाली मनोचिकित्सा, एक स्वत: प्रवर्तित और निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। वे अपने जीवन के अनुभव तथा मन की प्रकृति के ज्ञान के आधार पर शिष्य की विशेष मानसिक समस्याओं का समाधान करते हैं और तदुपरान्त उसे आध्यात्मिक दिशा प्रदान करते हैं।

यही कारण है कि प्रारम्भ से ही कुछ नियम निर्धारित कर दिये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता है। गुरु बनने के लिए सर्वप्रथम आपको पूर्ण शिष्यत्व प्राप्त करना होगा। एक छात्र हुए बिना आप किसी विश्वविद्यालय का व्याख्याता या प्राचार्य नहीं बन सकते। कुछ योग-सूत्रों या योग-पुस्तकों को पढ़ने एवं योग-संगोष्ठियों में शामिल होने के बाद आपको यह नहीं सोचना चाहिये कि आप एक योग्य गुरु बन गये हैं। यह बहुत खतरनाक अवस्था है। ऐसे गुरु को मनोचिकित्सक की आवश्यकता होती है।

यदि आप किसी व्यक्ति के मन की चिकित्सा करते हैं और उसे एक स्थिति में लाकर छोड़ देते हैं तो उसकी समस्याएँ बनी रहेंगी। एक निश्चित स्तर पर मनोरोग की चिकित्सा अवश्य करनी होगी, किन्तु इसका अन्त नहीं

है। मेरी राय में मनोचिकित्सा की अपेक्षा मन का अतिक्रमण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। मन तीन गुणों से निर्मित होता है। उस पर इनका आक्रमण सतत् जारी रहता है। अत: शिष्य को ज्ञान और अनुभव के नये उपकरण विकसित करने चाहिये जिनकी सहायता से मन की समस्याओं पर विजय प्राप्त की जाये।

हम सत्संग की तुलना सामूहिक चिकित्सा से नहीं कर सकते, भले ही हम प्राय: इस रूप में इसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हों। सत्संग शब्द का संस्कृत मूल सत् है, जिसका अर्थ होता है वास्तविकता का द्योतक। सत्संग का तात्पर्य बहुत लोगों के साथ रहने से नहीं है। उसे तो संघ कहा जाता है जिसका अर्थ होता है संगठन। सत्संग का अर्थ होता है सत्य के साथ या सत्य के सान्निध्य में रहना।

सत्संग के अनेक रूप होते हैं। आप आँखें बन्द कर अकेले सत्संग कर सकते हैं। जब आप कोई आध्यात्मिक पुस्तक पढ़ते हैं तो वह भी एक प्रकार का सत्संग है। जब आप किसी समूह में बैठकर ईश्वरीय सत्ता का गुणगाान या आत्मशुद्धि तथा आत्म-विकास जैसे विषय पर प्रवचन सुनते हैं तो इसे भी सत्संग कहा जाता है। आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने हेतु कष्ट सहने वाले तथा स्वयं को न्योछावर करने वाले लोगों के जीवन के बारे में सुनना भी सत्संग है।

सत्संग में आप कीर्तन और ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं। किन्तु यह सत्संग नहीं है, यह तो सत्संग करने का एक तरीका है। सत्संग के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात अन्तिम, सर्वोच्च या ईश्वरीय सत्ता से सम्बद्ध विचारों की सतत् गतिशीलता है।

हाल के वर्षों में कुछ संगठनों से मेरा सम्पर्क हुआ है जहाँ लोग कुछ अभ्यास करने तथा एक-दूसरे की सहायता करने के लिए एकत्र होते हैं। तरीका बहुत सरल और वैज्ञानिक है। यदि आप एक बड़ी दीवाल घड़ी के आस-पास अनेक छोटी दीवाल घड़ियाँ लगा दें तो प्रारम्भ में उनके पेण्डुलम की गति में एकरूपता नहीं होगी। किन्तु कुछ समय के बाद बड़ी घड़ी के पेण्डुलम की गति के साथ अन्य सभी घड़ियों के पेण्डुलम समरूप हो जाते हैं। यह प्रयोग कई बार किया जा चुका है। इसी प्रकार जब आप एक वायलिन बजाते हैं तो उस कमरे की अन्य सभी वायलिनें गुंजायमान हो जाती हैं। यदि आप ध्यान से सुनेंगे तो पायेंगे कि प्रथम वायलिन का

स्पन्दन निष्क्रिय वायलिनों से संचारित हो रहा है। जब कुछ लोग एक-दूसरे की सहायता करने के लिए एक समूह में एकत्र होते हैं तो वहाँ भी ऐसा ही होता है।

भारत में इस प्रकार के सामूहिक सत्रों की बहुत आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ की सामाजिक व्यवस्था अभी भी बहुत अच्छी तरह संगठित है। एक संयुक्त परिवार या आश्रम के वातावरण में रहने वाले लोग मानव मनोविज्ञान की प्रकृति को समझने लगते हैं। उन्हें एक-दूसरे की तुलना में स्वयं को समझने का अवसर मिलता है। वे अपने मन, सीमाओं और त्रुटियों का मूल्यांकन करने में सक्षम होते हैं। आधुनिक संस्कृति में ऐसा होना प्राय: असम्भव है।

पश्चिमी देशों में, विशेषकर इस शताब्दी में, सामूहिक चिकित्सा एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गई है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ एक भिन्न स्थिति थी। उन दिनों वहाँ का पारिवारिक तथा सामुदायिक जीवन अधिक ठोस और सुसंगठित था। किन्तु पिछले डेढ़ सौ वर्षों में वहाँ की सामाजिक संरचना धीरे-धीरे विकृत होती गयी है। और इस कारण सामूहिक चिकित्सा आवश्यक हो गई है।

तथापि हमें स्मरण रखना चाहिये कि मन अन्तिम सत्य नहीं है। मन के परे भी कोई चीज है। हम सिर्फ मन के बारे में चर्चा करते हैं, क्योंकि अनेक लोगों को यह एक अवरोध मालूम पड़ता है। वास्तव में आध्यात्मिक जीवन में हम जो कुछ भी करते हैं वह मन से नहीं, बल्कि ब्रह्माण्डीय आत्मा की खोज से सम्बद्ध है। अत: मनोचिकित्सा प्रणाली एक निश्चित सीमा तक ही अपनाई जा सकती है।

उसके बाद एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ इसे छोड़ना पड़ेगा। विकास की एक विशेष अवस्था में मनोविश्लेषण निश्चित रूप से बहुत उपयोगी हो सकता है। किन्तु अन्तत: यह एक अवरोधक बन जाता है और तब आपको इसका अतिक्रमण करना होता है।

शिष्य के नाम पत्र

एक महान् शिष्य की एक अति आवश्यक योग्यता यह है कि वह गुरु के आदेशों का तत्काल और सहज भाव से पालन करे। यदि इस क्षेत्र में यह एक सद्‌गुण अपना लेता है तो अगले क्षेत्र में भी ऐसा ही होता है। जब शिष्य का संपूर्ण व्यक्तित्व गुरु के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी हो जाता है तभी गुरु के निर्देशों के अनुसार की गई साधना में अप्रत्याशित सफलता मिलती है।

गुरु प्रहरी नहीं है

कुछ लोग गुरु को सत्तावादी व्यक्ति के रूप में देखते हैं, किन्तु मेरी राय में समस्त ज्ञान से युक्त होते हुए भी उन्हें नम्र होना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि जब बादल जल से भर जाते हैं तो पृथ्वी के निकट आ जाते हैं, फलों से लदी वृक्ष की डालियाँ भी धरती की ओर झुक जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को अधिक विनम्र होना चाहिये, न कि उद्धत और अहंकारी।

गुरु या शिक्षक को ऐसा नहीं कहना चाहिये कि 'मैं जानता हूँ', और 'यह ऐसा ही है।' उन्हें जो भी ज्ञान और अनुभव प्राप्त है उसे अपने शिष्यों को प्रदान करना चाहिये। गुरु और शिष्य के बीच बहुत आत्मीय सम्बन्ध होता है। यह श्रेष्ठता और हीनता जैसी अवधारणा पर आधारित नहीं है। आप गुरु को एक वरिष्ठ अधिकारी तथा स्वयं को उनके अधीनस्थ के रूप में न देखें। आप दोनों एक ही पदार्थ से बने हुए हैं तथा आपके बीच एकरूपता और समानता है। अत: आप दोनों के बीच जो एकत्व है उसे अनुभव करने का सतत् प्रयास कीजिये।

यदि गुरु और शिष्य के बीच एकत्व का भाव नहीं रहता है तो शिष्य हमेशा गुरु से भयभीत रहता है। वह उन्हें एक अहंकारी व्यक्ति के रूप में देखता है। और यदि वे कहते हैं कि 'तुम्हें ऐसा करना है' तो वे उसे एक पुलिस अधिकारी के सदृश लगने लगते हैं।

अनेक वर्ष पूर्व मैं पूछा करता कि 'ईश्वर गुरु है या पुलिस पदाधिकारी?' आप जानते हैं कि कैथोलिक, हिन्दू और मुस्लिम धर्मों में ईश्वर के बारे में हमें क्या समझाया जाता है तथा उन्हें किस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है। वे एक पुलिस अधिकारी, दण्डाधिकारी, न्यायाधीश या गुप्तचर विभाग के पदाधिकारी जैसे प्रतीत होते हैं, जो आपके प्रत्येक कार्य पर निगरानी रखते हैं तथा तत्सम्बन्धी सूचना एकत्र करते हैं। वे बहुत पक्षपाती भी हैं–हिन्दू देवता

ईसाइयों को तथा ईसाई ईश्वर मूर्तिपूजकों को स्वर्ग में प्रवेश की अनुमति नहीं देंगे। इन सभी कथाओं से आप अच्छी तरह परिचित हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सन्दर्भ में हम जो कुछ कहते हैं वह ईश्वर और भक्त के सम्बन्ध के प्रसंग में भी पूर्णत: लागू होता है। हम ईश्वर से क्यों डरें? यदि मैं आपका कीमती हार या रुपया चुरा रहा हूँ तो मुझे उनसे नहीं डरना चाहिये, क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। ऐसा हो सकता है कि मैं जो कर रहा हूँ, उससे वे सहमत न हों, किन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे अभी भी मेरे मित्र हैं। वे मेरे पदाधिकारी या शासक तो निश्चय ही नहीं हैं।

यह अवधारणा हमें अध्यात्म या धर्म के एक ऐसे दृष्टिकोण के करीब लाती है जिसके अनुसार ईश्वर सिर्फ एक 'बड़े भाई' के समान नहीं हैं। ईश्वर के साथ आपका सम्बन्ध वैसा ही होना चाहिये जैसा कि आपका अपनी प्रेमिका के साथ होता है। मैं पत्नी नहीं कहूँगा, क्योंकि पति और पत्नी के बीच कुछ दूरी रहती है। स्त्री मित्र या पुरुष मित्र के साथ रोमांसमय जीवन होता है। भक्त और भगवान के बीच भी वैसा ही सम्बन्ध होना चाहिये।

ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक सन्तों के भाव विचारणीय हैं। आपने मीराबाई का नाम तो अवश्य सुना होगा। वे कृष्ण के पीछे पागल थीं। वे कहा करती थीं कि 'मैं कृष्ण को देखना चाहती हूँ; यदि वे नही आयेंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगी।' क्या आप ऐसा कहेंगे? गुरु और शिष्य, भगवान और भक्त के बीच ऐसा ही सम्बन्ध होना चाहिये।

यह स्मरण रखिये कि यहाँ जब हम गुरु की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय बाह्य गुरु से है। यह बाह्य गुरु आपके अन्दर में स्थित आन्तरिक गुरु तक पहुँचने का माध्यम है। आपसे मेरा यह कहना निरर्थक होगा कि 'गुरु आपके अन्दर हैं, मेरे अन्दर नहीं, 'क्योंकि ऐसा कहने से आप न उसे पा सकेंगे और न मुझे। यह कहना आसान है कि गुरु एक आन्तरिक वास्तविकता है। यह सत्य भी है। किन्तु उस आन्तरिक गुरु का अनुभव प्राप्त करने के पूर्व एक बाह्य गुरु से समुचित सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। आप उनकी भाषा, भावनाएँ तथा सलाह समझ सकते हैं, किन्तु आन्तरिक गुरु के निर्देशों को आप नहीं समझ सकते। वे हमेशा बोलते रहते हैं, किन्तु उनकी भाषा लैटिन है और आप सिर्फ रोमन समझ सकते हैं। अर्थात् आपकी वर्तमान अवस्था में वे बोधगम्य नहीं हैं।

आन्तरिक गुरु की भाषा समझने के पूर्व आपको अपने बाह्य गुरु के साथ पूर्ण और सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित करना होगा। आप दोनों के बीच अद्वैत

भाव की अवस्था होनी चाहिये, द्वैत की नहीं। जिस प्रकार शरीर के दो भाग होते हैं, बायाँ और दायाँ, उसी प्रकार गुरु और शिष्य एक ही आध्यात्मिक इकाई हैं। भगवान और भक्त के साथ भी यही बात लागू होती है।

मैं प्राय: पूछा करता हूँ कि 'क्या ईश्वर दण्ड भी देते हैं?' अनेक हिन्दू, ईसाई और मुस्लिम धर्मावलम्बी ऐसा कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि ऐसा कहना सही नहीं है, विशेषकर तब जब हम भगवान और भक्त को एक ही आध्यात्मिक इकाई मानते हैं। दण्ड देने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है, और वे किसे दण्ड देते हैं? अपने ही आधे भाग को न? यदि ईश्वर प्रकृति को निर्देशित तथा प्रत्येक चीज को नियन्त्रित कर रहे हैं तो आप कैसे कह सकते हैं कि आप कोई पाप कर रहे हैं? क्या आप स्वयं अपने प्रति पाप कर सकते हैं? क्या इसके पीछे भी ईश्वर नहीं हैं? क्या वे भी आंशिक रूप से उत्तरदायी नहीं हैं? यदि मेरे कहने पर आप किसी व्यक्ति की हत्या कर देते हैं तो इस हत्या के लिये मैं भी आंशिक रूप से उत्तरदायी हूँ, क्योंकि मैंने यह कार्य करने के लिये आपको अभिप्रेरित किया।

अत: इन बातों को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये – गुरु या ईश्वर पुलिस अधिकारी नहीं हैं तथा आप और आपके गुरु या ईश्वर दो भिन्न ईकाइयाँ नहीं हैं।

गुरु कृपा ही केवलम्

'गुरु-कृपा ही केवलम्' का तात्पर्य यह है कि गुरु की कृपा ही परम सत्ता और एकमात्र वास्तविकता है। एक शिष्य के प्रसंग में यह अभिव्यक्ति पूर्णत: लागू होती है, क्योंकि अपने आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन के बीहड़, अगाध गर्त्त में वह किसकी ओर देखेगा? जब जलपोत बन्दरगाह के निकट पहुँचने लगते हैं तो प्रकाशस्तम्भ उनका मार्गदर्शन करता है। जिस प्रकार एक जलपोत चालक के लिये प्रकाशस्तम्भ अति आवश्यक है, उसी प्रकार एक शिष्य के जीवन के बीहड़ों में उसके मार्गदर्शन हेतु गुरु बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

यदि आप ध्यानपूर्वक चिन्तन करें तो अनुभव करेंगे कि आप वास्तव में यह नहीं जानते कि आप कौन हैं और कहाँ हैं। यथार्थत: हम अपने बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं, और यदि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये हम गहराई में डुबकी लगाने का प्रयास करते हैं तो हमें डरावनी अनुभूतियों का सामना करना पड़ता है। अत: जीवन के अन्धकारमय पथ के पथिक के हाथ में एक प्रकाश उपकरण तो होना ही चाहिये। इसीलिये हमलोग कहते हैं कि *'गुरु-कृपा ही केवलम्।'*

मेरे गुरु स्वामी शिवानन्द एक सन्त थे, उपदेशक नहीं। यद्यपि वे दो सौ पचास से अधिक पुस्तकों के लेखक थे, किन्तु वे बुद्धिवादी नहीं थे। वे एक बच्चे के समान निष्कपट और शुद्ध भावना से युक्त थे तथा उनके अनेक प्रतिभाशाली शिष्य थे। और आज, जिस प्रकार मैं उनकी कृपा का अनुभव कर रहा हूँ, मुझे पक्का विश्वास है कि उन सब को भी यह प्राप्त हो रही है।

जब मैं स्वामी शिवानन्द के साथ था, अपने आध्यात्मिक विकास हेतु घोर परिश्रम किया करता था। गुरुत्व प्राप्त करने तथा आश्रम और शिष्य बनाने का

मेरा कोई उद्देश्य नहीं था। आज भी यह बात मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं है कि मैं एक गुरु हूँ। अनेक बार मैं अपने अन्दर गुरु को ढूँढ़ने का प्रयास करता हूँ, किन्तु मुझे वहाँ कोई गुरु नहीं मिलता। हाँ, अपने अन्दर मैं शिष्यत्व को अवश्य देखता हूँ। शिक्षक या उपदेशक बनने का मेरा कभी, कोई लक्ष्य नहीं था। मैं तो हवा की दिशा में गगन में उड़ते हुए मुक्त पक्षी तथा सागर की तरंगित लहरों के समान जीना चाहता था। मेरा आदर्श था – न कुछ करना और न कुछ प्राप्त करना; न कुछ खोना और न कुछ पाना; किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये रखना, बस, इतना ही।

और 1956 से 1963 तक इस प्रकार का जीवन बिताने में मैं सफल भी रहा। मैं न तो किसी एक स्थान में ठहरा और न मैंने किसी व्यक्ति से सम्पर्क किया; एक साधारण भिखारी की तरह घूमता रहा। और यदि आप मुझे देखते तो मेरे भाग्य पर आपको दया आती। मैं पगडण्डियों पर या गलियों में रात बिताया करता तथा किसी भी स्थान का जल पी लेता था। मैं कहीं भी और किसी भी प्रकार के लोगों के साथ सो जाता था। मैं इस प्रकार का जीवन पसन्द करता था, क्योंकि उसमें पूर्ण एवं अनिर्दिष्ट स्वतन्त्रता थी। कोई भी मुझसे धर्म या सामाजिक संहिता के अनुकरण की अपेक्षा नहीं रखता था। इसी प्रकार कोई भी मुझसे परिवार, समाज या राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व से सम्बन्धित बातें नहीं करता था।

तब, जुलाई 1963 की एक रात में मुझे आकाशवाणी सुनाई पड़ी। संदेश स्पष्ट थे। आज मुझे लगता है कि मैं उनका अनुसरण कर रहा हूँ, इसलिये नहीं कि मुझे सम्मान मिलता है, किन्तु इसलिये कि उन्होंने इस कार्य हेतु मुझे चुना। इसे ही कृपा कहते हैं।

यदि वे मुझे दु:ख देंगे तो उसे भी मैं उनकी कृपा ही मानूँगा। केवल अच्छी चीजें तथा जीवन की सकारात्मक और अनुकूल परिस्थितियाँ ही गुरु या ईश्वर की कृपा के द्योतक नहीं हैं। कृपा के पीछे एक उद्देश्य होता है, हम उसे समझें या न समझें। वस्तुत: मेरी दार्शनिक परम्परा वेदान्त की रही है, योग की नहीं। मैं योग की अपेक्षा वेदान्त के बारे में अधिक जानता हूँ, क्योंकि मैंने अनेक वर्षों तक इसका अध्ययन किया। तथापि मैं योग का प्रचार कर रहा हूँ, वेदान्त का नहीं, क्योंकि वे (मेरे गुरु) सोचते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दुर्बल इच्छाशक्ति से ग्रस्त है और सिर्फ योग से ही उनका कल्याण सम्भव है।

जब मैं स्वामी शिवानन्द के आश्रम में रहता था, मेरे लिये किसी भी व्यक्ति को अपने सहयोगी के रूप में स्वीकार करना कठिन था। मैं यह नहीं चाहता था कि कोई मुझ पर निर्भर रहे। मैं सदैव सोचता था, 'मैं अकेला आया हूँ, अकेला जाऊँगा, अत: मुझे अकेले ही रहना चाहिये।' किन्तु आज मैं आश्रम में पाता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति मुझसे अत्यधिक जुड़ा हुआ है। लोग हमेशा मेरी कुटिया का चक्कर लगाते तथा मेरे दरवाजे के बाहर प्रतीक्षा करते रहते हैं। यह सब मेरे लिये बहुत असह्य है, क्योंकि मै एक भिन्न प्रकार का व्यक्ति हूँ। आप देखते हैं कि मैं किसी व्यक्ति के कमरे में जाकर बातें नहीं करता हूँ। यह मेरा स्वभाव नहीं है। अनेक बार मैंने सोचा है कि शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करूँ। किन्तु जब भी मैं ऐसा सोचता हूँ, मुझे पुन: गर्जना सुनाई पड़ती है, 'जारी रखो।' मैं अविलम्ब स्वीकार करता हूँ, 'ठीक है', और क्लेश के साथ मैं चलता चला जा रहा हूँ।

यद्यपि मैं अभी भी शिष्य ही हूँ, किन्तु मेरे ऊपर गुरुत्व आरोपित कर दिया गया है और मुझे यह भारी वजन उठाना है। सोचता हूँ कि एक शिष्य के रूप में मेरे सामने कोई अन्य विकल्प नहीं है। अत: जब लोग पूछते हैं कि 'क्या आप मेरे गुरु हैं?', मैं कहता हूँ, 'हाँ।' मैं यह कहना अधिक पसन्द करूँगा कि, 'मैं आप जैसा ही हूँ, मैं आपका बड़ा भाई या वरिष्ठ मित्र हूँ।' किन्तु मुझे कहना पड़ता है, 'हाँ, मैं आपका गुरु हूँ', क्योंकि एक शिष्य के लिये गुरु-कृपा अत्यावश्यक होती है और उसके पास कोई विकल्प नहीं होता। यदि शिष्य के पास कोई विकल्प होगा तो गुरु और शिष्य के बीच एक लौह दीवार खड़ी हो जायेगी। तब गुरु इस दीवार की एक तरफ होंगे और शिष्य दूसरी तरफ, उनके बीच संचार असम्भव हो जायेगा।

मैंने अनेक महान् शिष्यों की जीवन-कथाएँ पढ़ी हैं। उनमें स्वामी विवेकानन्द की जीवनी भी एक है। गुरु-कृपा से वे सागर की लहरों की भाँति तरंगित हो गये थे। रामकृष्ण ने अपनी कृपा से उन्हें पूर्णत: आप्लावित कर दिया था और अपने जीवन की छोटी-सी अवधि में वे अपने गुरु के लक्ष्यों के प्रति पूर्णतया समर्पित रहे। प्रारम्भ में उनका व्यक्तित्व बहुत नकारात्मक था और वे रामकृष्ण के बारे में कहा करते थे कि 'मैं इस साधु को तनिक भी पसन्द नहीं करता हूँ।' किन्तु रामकृष्ण ने तो उनके बारे में अन्तिम निर्णय कर लिया था और एक बार जब गुरु निर्णय कर लेते हैं तो शिष्य के सामने कोई विकल्प नहीं रह जाता।

केवल भारत में ही नहीं, यूरोप में भी शिष्य के जीवन में गुरु-कृपा की पवित्र परम्परा सदा से कायम रही है। शिष्यों की कमी तो आज भी नहीं है, किन्तु गुरु-कृपा से युक्त शिष्य विरले ही मिलते हैं। मुझे प्राय: आश्चर्य होता है कि स्वामी शिवानन्द जी ने मुझे क्यों पसन्द किया। मैं सोचता हूँ कि इसका सिर्फ एक ही कारण हो सकता है–मैं सदैव उनका एक उत्सुक और उत्साही अनुचर बना रहा। उनके जीवन की एक सामान्य घटना भी मेरे लिये बहुत अर्थपूर्ण होती थी। मैं उनके प्रत्येक शब्द, अभिव्यक्ति और गतिविधि का बहुत सावधानीपूर्वक अवलोकन किया करता था–वे क्या और कैसे खाते थे, कैसे और कितनी देर सोते थे, लोगों का किस प्रकार अभिवादन करते थे तथा उनके साथ कैसा व्यवहार करते थे, आदि। अनेक बार मैं यह भविष्यवाणी कर सकता था कि वे क्या सोच रहे हैं और कभी-कभी तो किसी विषय पर उनके द्वारा निर्णय लिये जाने के पूर्व ही मैं कह सकता था कि वे क्या करने जा रहे हैं। गुरु द्वारा शिष्य के आध्यात्मिक भविष्य के बारे में निर्णय लिये जाने के पूर्व ही उसे सब-कुछ ठीक से सोच-समझ लेना चाहिये।

कुछ विशेष परिस्थितियों में आश्रम निवासी मुझसे पूछा करते थे कि स्वामीजी क्या करने जा रहे हैं और मैं बिल्कुल सही-सही भविष्यवाणी कर देता था। जब मैं उनकी बगल में खड़ा होता था तो उनकी विचार-तरंगों को स्पष्ट रूप से देख सकता था। आज भी मुझे यह विश्वास नहीं होता है कि उनका देहान्त हो गया है। यह सही है कि अब वे इस संसार में नहीं हैं, किन्तु मेरे लिये ऐसा मानना बहुत कठिन है, क्योंकि जब वे जीवित थे तो उनका जो शरीर मुझे दृष्टिगोचर होता था, वह भौतिक पदार्थों का बना हुआ नहीं मालूम पड़ता था। वह किसी विशुद्ध-निर्मल ईश्वरीय पदार्थ से निर्मित मालूम पड़ता था। सिर्फ एक दिन के लिये ही नहीं, बल्कि पूरे बारह वर्षों तक मैं उनके शरीर को इसी रूप में देखता रहा।

जब तक मैं स्वामी शिवानन्द जी के साथ रहा, प्रत्येक वस्तु एवं विषय के सम्बन्ध में उनके साथ मेरा पूर्ण तादात्म्य बना रहा। गुरु और शिष्य के बीच इस प्रकार का एकत्व अवश्यमेव स्थापित होना चाहिये, तब गुरु की कृपा स्वत: प्रवाहित होने लगती है। इसीलिये कहा गया है, *'गुरु-कृपा ही केवलम्।'*

आप लोगों के समान मैं भी ईश्वर में विश्वास रखता हूँ, किन्तु उनके बारे में क्या विचारणीय है तथा उनके बारे में किस प्रकार विचार किया जाये?

वे क्या हैं और क्या नहीं हैं? वे एक मनुष्य नहीं हैं, एक मूर्ति नहीं हैं; वे तो सम्पूर्ण हैं, समग्र हैं। मैं अपने इस लघु मस्तिष्क से उस सम्पूर्णता, समग्रता के बारे में कैसे सोच सकता हूँ? मस्तिष्क सीमित है और ईश्वर असीम, अनन्त। क्या यह विश्वसनीय है कि सीमित मस्तिष्क अनन्त, असीम ईश्वर को देख सकता है?

असीम को देखने, समझने और अनुभव करने के लिये आपको स्वयं असीम बनना पड़ेगा। अत: वर्षों पूर्व मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अपने गुरु से तादात्म्य स्थापित कीजिये, उनके साथ एकाकार हो जाइये। जिस प्रकार नमक जल में, चीनी दूध में और सुगन्ध वायु में घुल-मिल जाती है, ठीक उसी प्रकार गुरु से एकत्व स्थापित कीजिये, द्वैतता को पूर्णतया समाप्त कर दीजिये। जल नमकीन हो जाता है और नमक जलीय। वे एक-दूसरे के गुणों को अपना लेते हैं। इस प्रकार का एकत्व स्थापित होना चाहिये; तब गुरु की कृपा निरन्तर प्राप्त होती रहती है। किन्तु बातें हम कितनी भी करें, व्यावहारिक जीवन के तथ्य तो भिन्न ही होते हैं। मस्तिष्क अति कठोर पदार्थ का बना होता है, वह जल्दी टूटता नहीं, और सत्य को जानते हुए भी हम विफल हो जाते हैं।

भर लो घट

सुनी मैंने अन्तर की एक ध्वनि
"जागो शिव!
भरो अपने जीवन का घट
इस अमृत से,
और पिलाओ इसे सबको,
दूँगा मैं तुम्हें वह सामर्थ्य,
ऊर्जा, शक्ति और ज्ञान।"
पालन किया मैंने उस आदेश का,
वह भरता गया घट को
मैं पीता गया, पिलाता गया सबको।

–स्वामी शिवानन्द सरस्वती

शंका समाधान

क्या शिष्य के लिये गुरु ईश्वर होते हैं?

गुरु एक मनुष्य होते हैं। उनके भौतिक शरीर में देदीप्यमान आत्मा का निवास हो सकता है या वे अज्ञानी भी हो सकते हैं। किन्तु शिष्य उन्हें ईश्वर की प्रतिकृति के रूप में देखता है। मैं सोचता हूँ कि यह सही है, किन्तु इस अवधारणा में कुछ सुधार करना आवश्यक है।

मेरे गुरु स्वामी शिवानन्द जी थे। मैं सदैव उन्हें ईश्वर मानता था और आज भी मानता हूँ। किन्तु मैं यह प्रचार नहीं करता हूँ कि वे ईश्वर हैं। इस अवधारणा में मैं महत्त्वपूर्ण सुधार करना चाहता हूँ। हम अपने गुरु को ईश्वर मानते हैं; यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु गलती तब होती है जब हम दूसरों से भी कहते हैं कि वे हमारे गुरु को ईश्वर माने। मेरे गुरु के साथ मेरा सम्बन्ध पूर्णत: व्यक्तिगत है। मैं उन्हें देव मानूँ या दानव, यह मेरा व्यक्तिगत विचार है। आपके गुरु आपके ईश्वर हैं, इस तथ्य को मैं अस्वीकार नहीं करता। किन्तु यदि आप चाहते हैं कि मैं आपके गुरु को ईश्वर मानकर उनका सम्मान करूँ तो इस बात को मैं स्वीकार नहीं करता। इसी बिन्दु पर भ्रम उत्पन्न होता है।

ईश्वरीय सत्ता तो प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित है। कुछ लोगों ने उसे जाग्रत किया है और अन्य लोग ऐसा नहीं कर सके हैं। अपने गुरु की खोज के क्रम में मैं अनेक महात्माओं से मिला। किन्तु मैं ऐसे गुरु की खोज कर रहा था जिनमें ईश्वरत्व का अनुभव कर सकूँ। यद्यपि मैं यह जानता था कि प्रत्येक गुरु में देवत्व का निवास होता है, किन्तु उनमें मुझे इसका आभास नहीं मिलता था।

जिन सन्तों से मेरी मुलाकात हुई उनमें सर्वप्रथम थीं आनन्दमयी माँ। वे अति आदरणीय व्यक्ति थीं जिनका हाल ही में देहान्त हो गया। जब मैंने उन्हें देखा तब मेरी उम्र सिर्फ दस वर्ष थी। किन्तु उस समय मैं उनमें देवत्व का दर्शन न कर सका। मैं यह नहीं कहता कि उनमें देवत्व नहीं था, किन्तु मैं उनमें देवत्व न देख सका। उनसे मिलने के बाद मैं अन्य अनेक महापुरुषों से भी मिला। उनमें रमण महर्षि, श्री अरविन्द, स्वामी रामदास और मेहर बाबा के नाम उल्लेखनीय हैं। वे सभी निस्सन्देह देवत्व से युक्त थे। किन्तु ईसाई

संस्था में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के कारण मैं उनमें देवत्व के दर्शन न कर सका। मैंने बाइबिल तथा ईसाई सन्तों की रचनाओं का पर्याप्त अध्ययन किया था, अत: तत्सम्बन्धी बातें मेरे मस्तिष्क में भरी हुई थीं।

मैं एक वृद्ध तान्त्रिक गुरु के साथ भी छ: महीनों तक रहा। वे अति सामान्य व्यक्ति थे, किन्तु अपनी विद्या पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे मुझे बहुत प्यार करते थे। उस समय मैं उन्नीस वर्ष का था और वे सड़सठ वर्ष के हो चुके थे। वे अपना समस्त ज्ञान मुझे प्रदान करना चाहते थे। किन्तु मैंने सोचा, 'मुझे इनमें ईश्वरत्व नहीं दिखाई पड़ता है; ये एक अच्छे, विद्वान् व्यक्ति हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त मुझे इनमें और कुछ दिखाई नहीं पड़ता।' अत: मैं वहाँ से रवाना हो गया। किन्तु मैं जिस दिन स्वामी शिवानन्द जी से मिला उसी दिन से मुझे उच्च चेतना की अनुभूतियाँ होने लगीं। उनके व्यक्तित्व में मुझे ईश्वर का साकार रूप दिखाई पड़ा। मैं जब तक उनके साथ रहा, मुझे उनके भौतिक स्वरूप की पृष्ठभूमि में सदैव देवत्व का आभास होता रहा। जब भी कोई मुझसे पूछता कि 'क्या आप अपने गुरु को ईश्वर के समान मानते हैं?' तो मैं उत्तर दिया करता था कि 'यह मेरा व्यक्तिगत मामला है, ठीक वैसा ही जैसा कि किसी व्यक्ति का अपनी पत्नी के प्रति दृष्टिकोण उसका व्यक्तिगत मामला है। अत: कृपया मुझसे यह प्रश्न मत कीजिये।' अपने गुरु से सम्बन्ध के प्रसंग में प्रत्येक शिष्य को यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये।

आपको अपने गुरु में ईश्वरत्व का दर्शन करना ही चाहिये। यदि आप ऐसा नहीं कर सकते हैं तो वे आपके गुरु नहीं हैं। यदि किसी पात्र में पेट्रोल है और आप अग्नि से उसका सम्पर्क कराते हैं तो क्या परिणाम होगा? प्रत्येक व्यक्ति को यह बात मालूम है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है। गुरु ज्यों ही शिष्य की आत्मा का स्पर्श करते हैं, एक विस्फोट होता है। यदि विस्फोट नहीं हो तो समझना चाहिये कि कुछ गलत है। हो सकता है कि आपसे किसी ने कहा हो कि यह पेट्रोल है, किन्तु वास्तव में यह जल है। अत: जब आप अग्नि लाते हैं तो कुछ नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पेट्रोल नहीं है। ऐसा सम्बन्ध पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आग पानी को प्रज्वलित नहीं कर सकती है।

इसी प्रकार जब आप अपने गुरु में देवत्व का दर्शन करते हैं तो वह एक अभिव्यक्ति की अवस्था होती है। यह बुद्धिवादिता नहीं, आध्यात्मिकता है।

आप ध्वनियाँ सुनने, दिव्य दृश्य देखने और स्वचालित होने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति ही आपके गुरु हैं और आपके लिये वे देवत्व की प्रतिमूर्ति हैं।

देवत्व क्या है? यह उच्चतर अस्तित्व, सृष्टि की पूर्णता या ईश्वर की अभिव्यक्ति है। ईश्वरत्व ही देवत्व है। गुरु देवत्व के अवतार हैं। देवत्व का कोई नाम या रूप नहीं होता। इसके अस्तित्व की कोई सीमा नहीं होती, कोई आयाम नहीं होता। यह पूर्ण है, अनन्त है। किन्तु मनुष्य इसके निराकार स्वरूप को नहीं समझ सकता। अत: सूक्ष्म और अतीन्द्रिय देवत्व अपनी सदिच्छा से स्थूल रूप में अवतरित होता है, ताकि आदमी को उसका बोध हो सके। इस प्रकार अवतरित होने वाले इने-गिने लोग पैगम्बर या अवतार कहे जाते हैं और शिष्य उन्हें अपना गुरु या ईश्वर मानते हैं।

अपने देहान्त के बाद गुरु शिष्यों का मार्गदर्शन किस प्रकार करते हैं?

अपने भौतिक शरीर के त्याग के उपरान्त गुरु एक निकटस्थ स्तर से कार्य करने में सक्षम होते हैं। गुरु का लक्ष्य स्वयं को मुक्त करना नहीं होता। क्षणभंगुर शरीर को त्यागने के बाद भी वे अपने शिष्यों का मार्गदर्शन कर सकते हैं। यह सत्य है कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह शिष्य की प्रगति में सहायक होता है। किन्तु एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण स्मरणीय तथ्य भी है, शिष्य का अपना अन्त:करण ग्रहणशील होना चाहिये ताकि वह अपने गुरु के स्पन्दनों के संचार को ग्रहण कर सके। अत: देहान्त के बाद यद्यपि गुरु एक भिन्न स्तर पर जीवित रहते हैं, किन्तु सभी शिष्य उनके संचार को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होते। वास्तव में गुरु भी चयन या विकल्प की पद्धति अपनाते हैं। वे उस अदृश्य स्तर से अपने कुछ शिष्यों का मार्गदर्शन करते रहते हैं।

गुरु विभिन्न स्तरों पर स्थित होते हैं। उनमें से एक है सूक्ष्म स्तर। उनकी स्थिति का एक अन्य स्तर भी है और वह है शिष्य का हृदय। उनकी आत्मा शिष्य के हृदय में निवास कर सकती है। शिष्य का हृदय एक आध्यात्मिक स्तर होता है। कुछ शिष्य इस मामले में अति संवेदनशील होते हैं। वे अपने गुरु के प्रति इतना सजग रहते हैं कि उनके हृदय में गुरु के स्पन्दन का आरोपण किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु एक ही समय में अनेक स्तरों पर रह सकते हैं, अर्थात् वे एक साथ सूक्ष्म स्तर पर और शिष्य के हृदय में निवास कर सकते हैं।

जब गुरु अपने शिष्य के हृदय में निवास करते हैं तब शिष्य के लिये ग्रहणशील होना आवश्यक नहीं है। गुरु उसकी विचार प्रक्रिया, कार्य एवं अन्य प्रत्येक चीज को नियन्त्रित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि उसके व्यक्तिगत अहंकार का स्थान गुरु ले लेते हैं। शरीर तो शिष्य का ही होता है, किन्तु मन प्रतिस्थापित हो जाता है। वहाँ गुरु स्थित हो जाते हैं। यह अति महत्त्वपूर्ण तथ्य है। शरीर शिष्य का होता है और मन में गुरु की आत्मा होती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण और असाधारण अवस्था है। और यदि किसी शिष्य के जीवन में ऐसा होता है तो यह गुरु का द्वितीय अवतार है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। सामान्यत: गुरु सूक्ष्म स्तर से ही मार्गदर्शन करते हैं।

एक तृतीय अवस्था भी होती है। गुरु किसी स्तर पर हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। किन्तु शिष्य के अन्दर में श्रद्धा होती है और वह गुरु के प्रति अत्यधिक सजग रहता है। तब उसकी श्रद्धा पुनर्गठित हो जाती है और गुरु का स्वरूप रूप ले लेती है। इसे 'गुरु चेतना' कहते हैं। गुरु वहाँ नहीं है, वहाँ तो शिष्य का मन, उसकी भावना या वह स्वयं है। किन्तु अपने ठोस विश्वास के कारण उसने 'गुरु चेतना' विकसित कर ली है। इस 'गुरु चेतना' के कारण वह अपने अन्दर एक उच्चतर चेतना का विकास कर लेता है। यह कार्य बहुत सहज है; यह वैसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव है जो अपने विश्वास को सशक्त बनाने में सक्षम है।

इस प्रकार मैंने तीन संभावनाओं की चर्चा की है। प्रथम, अपने देहान्त के बाद गुरु सूक्ष्म स्तर से शिष्यों का मार्गदर्शन करते हैं। द्वितीय, सूक्ष्म स्तर पर रहने के साथ-साथ वे शिष्य के हृदय में भी निवास करते हैं तथा उसके जीवन को पूर्णतया आविष्ट या अभिभूत कर लेते हैं। और अन्त में, शिष्य अपने अन्दर ही 'गुरु चेतना' विकसित कर लेता है तथा आध्यात्मिक जीवन बिताता है। तृतीय स्थिति बहुत अधिक सम्भव है और प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की गुरु चेतना विकसित कर सकता है। द्वितीय अवस्था तो दुष्प्राप्य है और विरले ही किसी शिष्य को प्राप्त होती है।

क्या शिष्य गुरु के निकट एक ही जीवन में आता है या उनके बीच पूर्व जन्मों का भी सम्बन्ध रहता है?

आपके प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में देना होगा। दूसरों के बारे में मुझे कुछ पता नहीं, किन्तु अपने बारे में मैं ठीक से जानता हूँ। पूर्व जन्म में ऐसे अनेक

लोगों से मेरा सम्पर्क था जो वर्तमान जीवन में मेरे शिष्य हैं। यह बात मैं किसी विशेष क्षण में ही जान सकता हूँ, हमेशा नहीं। यह मेरे व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है। जहाँ तक इससे सम्बन्धित दर्शन का प्रश्न है, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध दीर्घकालिक होता है। ऐसा नहीं है कि कोई प्रथम बार ही संन्यासी शिष्य बनता है।

सामान्यत: आप किन्हीं के पास जाते हैं और उनसे एक मन्त्र प्राप्त करते हैं। यह एक साधारण बात है। किन्तु जब आप अपना सर्वस्व– भविष्य, व्यक्तित्व, धन, यश आदि समर्पित करते हैं तो यह कोई सामान्य बात नहीं है। एक संन्यासी शिष्य का त्याग या बलिदान महान् होता है। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि पूर्व जन्म की परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने के लिये बाध्य न करें। यह सिर्फ नाम और वस्त्र बदलने, सिर, मुड़ाने, सम्पत्ति बेचने या घर, पत्नी आदि का त्याग करने से ही सम्बद्ध नहीं है। यह सब किसलिये, क्यों? यह सब इसलिये सम्भव है कि आपके प्रारब्ध या पूर्व जन्म की परिस्थितियों ने आपको समर्पण, प्रतिबद्धता और पूर्णता के इस बिन्दु तक पहुँचा दिया। अत: हमें समझना चाहिये कि गुरु और शिष्य, विशेषकर संन्यासी शिष्य के बीच का सम्बन्ध दीर्घकालीन होता है। यह स्थायी संयोग या स्थायी प्रतिबद्धता की अवस्था है।

जब भी मैं आँखें बन्द करता हूँ, मुझे आपका स्वरूप दिखाई देता है। क्या मेरा मत-आरोपण हो रहा है, या मैं एक भावनात्मक स्थिति उत्पन्न कर रहा हूँ, या यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध का प्रारम्भ है?

मैं सोचता हूँ कि ये तीनों बातें सही हैं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध की तैयारी के लिये आत्म-आरोपण आवश्यक है, और एक भावनात्मक स्थिति भी अति आवश्यक है।

स्वामी शिवानन्द

स्वामी शिवानन्द जी के जीवन में समस्त सम्पूर्णता समाहित थी। वे एक ही साथ ईसा मसीह के स्तर के संत, श्रेष्ठ प्रशासक और जीवन से पूर्णतया अनासक्त संन्यासी थे। उनका जीवन करुणा, प्रेम और उदारता से लबालब भरा हुआ था। उनका दृढ़, अनुशासित और तपोमय जीवन पूर्णत: वासनारहित था। वे महान् ईश्वर भक्त थे और साथ-ही-साथ एक श्रेष्ठ बुद्धिवादी, दार्शनिक भी। उनके अन्दर ईश्वर की सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ – सजीव-निर्जीव, संवेदनशील-असंवेदनशील के प्रति स्नेहमय दयालुता का भाव था।

ऐसे व्यक्ति हम सबके लिए उदाहरण हो सकते हैं। प्राय: हम सभी जीवन की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं से परेशान रहते हैं। हम वासनाओं और भावनाओं के प्रवाह में बह जाते हैं और जब अपने भावनात्मक जीवन के उतार-चढ़ाव से हमारा सामना होता है तो हम निरुत्साह हो जाते हैं। प्रत्येक निष्कपट व्यक्ति के समक्ष निश्चय ही एक प्रश्न उपस्थित होता है – अनेक सीमाओं से घिरे हुए मेरे जैसे व्यक्ति के लिये जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचना किस प्रकार सम्भव है? जीवन की क्रूरताओं के शिकार, निराश और निरुत्साह, किन्तु निष्कपट लोगों के लिए स्वामी शिवानन्द प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। उनके बारे में सुनना आनन्ददायक, सोचना योग और चर्चा करना समय का सदुपयोग है। यद्यपि वे भौतिक शरीरधारी थे, किन्तु वे भौतिक आत्मा नहीं थे। उनके सान्निध्य में बिना किसी प्रयास के सहज ही आन्तरिक सजगता विकसित हो जाती थी।

एक उपनिषद् में एक नीति-कथा है। एक शिष्य अपने गुरु से पूछता है, 'मनुष्य कैसे टहलता है? मनुष्य कैसे चलता है?' गुरु ने उतर दिया, 'वह सूर्य के प्रकाश में चलता और टहलता है।' तब शिष्य ने पूछा, 'सूर्यास्त के

बाद वह कैसे चलता और टहलता है?' गुरु ने उत्तर दिया, 'चन्द्रमा के प्रकाश में।' शिष्य ने पुन: पूछा, 'जब सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं, तो व्यक्ति किसके प्रकाश में टहलता है?' गुरु ने उत्तर दिया, 'तारों के प्रकाश में।' शिष्य ने पुन: पूछा, 'जब सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जाते और तारे भी नहीं टिमटिमाते हैं, तब वह किसके प्रकाश में टहलता है?' गुरु ने उत्तर दिया, 'स्वयं अपने प्रकाश में।'

वे किस प्रकाश के बारे में चर्चा कर रहे हैं? जब मन वासनाओं से विचलित हो जाता है, बुद्धि पूर्णतया भ्रमित हो जाती है, आपका अपना विश्वास धोखा दे देता है और आपकी अपनी अवधारणाएँ जीवन में सहायक नहीं हो पाती हैं, तब आपको अपनी स्वयं की चेतना को जाग्रत करना होगा। आपको अपनी आत्मा को जगाना होगा। आत्मा को जगाने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि एक सद्गुरु की खोज की जाय। स्वामी शिवानन्द जी ऐसे ही गुरु थे। किन्तु वे सिर्फ अपने समय के ही गुरु नहीं थे; वे वर्तमान समय के भी गुरु हैं जब कि उनके जीवन और शिक्षण का सन्देश उन लोगों के लिये ज्योति के समान है जो अपने आन्तरिक प्रकाश को जाग्रत करने के इच्छुक हैं।

सर्वोत्तम व्यक्ति

जब आप अन्य संन्यासियों और सन्तों के जीवन के साथ स्वामी शिवानन्द के जीवन की तुलना करते हैं तब पाते हैं कि उनका व्यक्तित्व पूर्णत: भिन्न था। वे एक चमत्कारी व्यक्ति, महान् धर्मगुरु या उपदेशक के समान व्यवहार नहीं करते थे। वे एक साधारण आदमी की तरह जीवन बिताते थे। उनके मानवीय गुणों को बदलना बहुत कठिन था। उनका व्यक्तित्व उन समस्त श्रेष्ठ गुणों का ज्वलन्त उदाहरण था, जिनके बारे में आप पुस्तकों में पढ़ते हैं।

मेरे लिये एक आदमी का आदमी होना एक सन्त होने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक आदरणीय और श्रेष्ठ व्यक्ति या गुरु होना एक आदमी होने की अपेक्षा आसान है। देना बहुत कठिन है, प्रेम करना सर्वाधिक कठिन है, और समझना असम्भव है। आज आदमी उस बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ वह अपनी मौलिक मानवीयता का अनुभव करने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है। यदि एक आदमी आदमी बन सके तो वह कुछ भी बन सकता है, क्योंकि आदमी बनने के लिये उसे अन्दर की प्रत्येक चीज को मारना पड़ता

है। बाँसुरी बनाने के पूर्व बाँस को खोखला बनाना होगा। इसी प्रकार आपको स्वयं को खाली करना होगा। आपको ठोकर खानी होगी, आलोचनाएँ सहनी होंगी, वासनाओं का सामना करना होगा। अपने भय को समाप्त कीजिये तथा उत्पीड़न और अपमान सहने के लिये तैयार रहिये। आपको प्रेम और सम्मान की अपेक्षा नहीं रखनी चहिये।

अनेक बार जब लोग प्रेम के बारे में चर्चा करते हैं तो मुझे उन पर हँसी आती है। मैं कभी किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं मिला जो प्रेम करना जानता हो। किन्तु मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि स्वामी शिवानन्द जी ऐसे व्यक्ति थे जिनके सम्पूर्ण अस्तित्व से प्रेम नि:सृत होता था। उनमें भावुकता की मात्रा अल्पतम थी। वे शान्त, निश्चल,अनुद्विग्न और पूर्णतया अनासक्त थे। वे सर्वोत्तम व्यक्ति थे। मैंने ईसा मसीह को नहीं देखा, किन्तु मैंने स्वामी शिवानन्द जी को देखा है। और इसलिये मैं विश्वास करता हूँ कि किसी जमाने में ईसा मसीह भी अवश्य रहे होंगे। वे ऐसे आदमी थे जिनमें दयालुता और करुणा असीम थी। वे माधुर्य की प्रतिमूर्ति थे और उनकी आँखें हमेशा मुस्कुराती प्रतीत होती थीं।

अपने सम्पूर्ण जीवन में वे जो कुछ भी करते थे, उसकी पृष्ठभूमि में उनका मात्र एक ही दृष्टिकोण रहता था– प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण करना। वे कभी भी एक अधिनायक के समान व्यवहार नहीं करते थे और न कभी अपने शिष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप करते थे। वास्तव में, वे अपने शिष्यों के चरण उसी प्रकार स्पर्श किया करते थे जिस प्रकार एक शिष्य अपने गुरु के चरण-कमलों का स्पर्श करता है।

अपने जीवन में तथा आश्रम में एक निवासी और व्यवस्थापक के रूप में मुझसे अनेक भूलें हुईं। मैं हमेशा सोचा करता था कि वे मुझे बुलायेंगे। परन्तु उन्होंने कभी भी मुझे नहीं बुलाया। मैं सोचा करता था कि वे मुझे चेतावनी देंगे तथा फटकारेंगे और मुझसे कहेंगे कि क्या सही और क्या गलत है। परन्तु उन्होंने कभी भी एक शब्द भी नहीं कहा। जब मैं उनके पास जाया करता था तो वे उस मामले को कदापि नहीं उठाते थे। वे प्राय: सामान्य बातों पर चर्चा किया करते थे। मनुष्य की गलतियों पर उनका ध्यान कभी नहीं जाता था। वे सदैव यही कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ईश्वर की ज्योति स्थित है।

लोगों के प्रति उनका दृष्टिकोण अद्‌भुत था। यदि कोई व्यक्ति अपनी आलोचनाओं से चिन्तित होता था तो वे इस स्थिति की व्याख्या बहुत सहज

ढंग से करते थे– "यह एक ईश्वरीय परीक्षा है। जब आप स्टील की छड़ खरीदते हैं तो उसका परीक्षण नहीं करते, किन्तु जब आप सोने की छड़ खरीदते हैं तो उसका पूर्ण परीक्षण करते हैं। और यदि आप एक हीरा खरीदने जाते हैं तो ऐसा नहीं होता कि जिसे आप सर्वप्रथम देखते हैं उसे ही उठा लेते हैं। इसी प्रकार जब ईश्वर आपका चयन कर रहे हैं तो उन्हें आपकी जाँच करनी ही चाहिये। यह आपका कर्म नहीं है जो दु:ख-तकलीफ के रूप में आपके पास आ रहा है। आपका पाप या दोष आपकी आलोचना का कारण नहीं है। यह तो ईश्वरीय परीक्षा है ताकि आप इसमें उत्तीर्ण हो सकें, और तब आपको उच्चतर ज्ञान प्रदान किया जायेगा।"

सदैव देते रहिये

स्वामी शिवानन्द जी एक चिकित्सक थे और उन्होंने सर्वप्रथम मलाया में एक चिकित्सक के रूप में कार्य प्रारंभ किया। ऋषिकेश आने पर वे आध्यात्मिक जीवन में कूद पड़े। वे इतने निष्कपट, लगनशील और भक्त थे कि उनके आस-पास में रहने वाले समस्त संन्यासी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। कभी-कभी वे अपनी दैनिक भिक्षा से प्राप्त चपातियों में से कुछ को एक बक्से में रख लेते थे। जब पर्याप्त संख्या में चपातियाँ एकत्र हो जातीं तो एक सप्ताह के लिये अन्दर से अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर साधना में लीन हो जाते थे। कभी-कभी आप देखते कि वे मध्य रात्रि में छाती-भर पानी में गंगा नदी में खड़े होकर 'ॐ, ॐ, ॐ' का गायन कर रहे हैं।

आध्यात्मिक जीवन के प्रति इस निष्कपट समर्पण के कारण वे शीघ्र ही वहाँ के संन्यासियों के प्रिय बन गये। इसकी प्रतिक्रिया में वहाँ बदमाशों का एक गिरोह बन गया, जो उन्हें तंग किया करता था और वस्तुत: नुकसान भी पहुँचाता था। इन लोगों के प्रति उनका दृष्टिकोण अति मानवीय था। वे कहा करते थे, 'यदि कोई तुम्हें ठोकर मारता है तो उसे प्रेम प्रदान करो' और वे प्रतिदिन इस आदर्श का अभ्यास भी करते थे। बाद में जब स्वामी शिवानन्द बहुत प्रसिद्ध हो गये तो वे लोग उनका बहुत सम्मान करने लगे।

वे बहुत उदार थे। लोग जो कुछ भी माँगते, उन्हें दे देते थे। उनका प्रमुख लक्ष्य था– 'सदैव देते रहिये।' यदि उन्हें सावधान भी कर दिया जाता कि कोई व्यक्ति उन्हें ठगने आया है तो वे इस बात पर ध्यान नहीं देते। वे कहते थे, 'वह उसका कर्म है और यह मेरा कर्म है।' वे मुक्त भाव से अन्न, वस्त्र,

रुपये, पुस्तकों और कम्बलों का वितरण किया करते थे। यदि कोई उनसे कहता, 'स्वामीजी, वह आदमी कपटी है, उसे कम्बल मत दीजिये', तो वे कहते, 'ईश्वर ने यह मुझे उसके लिये ही दिया है, रुपया-पैसा हमारा नहीं है, आश्रम हमारी सम्पत्ति नहीं है।'

ज्ञानी और भक्त

स्वामी शिवानन्द जी वेदान्त दर्शन की श्रेष्ठतम कोटि के संन्यासी थे। वेदान्त दर्शन के अनुसार, 'मैं ब्रह्म हूँ', और यह किसी निम्नतर रूप की मूर्ति-पूजा को स्वीकार नहीं करता। यह एक पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन है। इसके अनुसार सत्य का कोई नाम और रूप नहीं होता तथा समस्त अनुभूतियाँ मन के अन्दर स्थित होती हैं। इस प्रकार स्वामी शिवानन्द जी एक व्यावहारिक चिकित्सक होने के साथ-ही-साथ एक सच्चे ज्ञानी भी थे। वे सम्पूर्णता के दर्शन पर साधिकार बोलते थे। वे ईश्वर के प्रति पूर्णत: समर्पित एक भक्त भी थे। वस्तुत: उनका विश्वास था कि ईश्वर-भक्ति तथा उनके नाम के जप और गायन द्वारा व्यक्ति सांसारिक चेतना की सीमाओं का अतिक्रमण आसानी से कर सकता है।

नाम में उनका विश्वास कभी-कभी अति अबौद्धिक लगता था। वे कहा करते थे, 'सिर्फ नाम ही तुम्हें भव-सागर के पार ले जा सकता है।' अत: 1943 में उन्होंने एक अद्‌भुत् कार्यक्रम प्रारम्भ किया – अखण्ड नाम संकीर्तन। उस समय तक हम एक प्रशाल का निर्माण कर चुके थे तथा हममें से सात या आठ संन्यासी हो चुके थे। उस प्रशाल में एक ज्योति रख दी गयी। प्रत्येक स्वामी वहाँ प्रतिदिन दो घंटे कीर्तन करता था। एक के बाद दूसरे स्वामी इस कार्य को जारी रखते थे। इस प्रकार हमें बारह से कुछ अधिक संन्यासियों की आवश्यकता थी ताकि किसी के बीमार हो जाने पर कीर्तन में बाधा न पड़े। स्वामीजी ने कीर्तन के लिये निम्नलिखित मन्त्र निर्धारित किया – *'हरे राम, हरे राम, राम राम हरे-हरे, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'* यह एक अति प्राचीन मन्त्र है तथा इसे महामन्त्र कहा जाता है। यह कलिसंतरण उपनिषद् से उद्धृत है, जो 108 उपनिषदों में से एक है। स्वामीजी ने इसके गायन की धुन भी निश्चित कर दी। इस प्रकार अखण्ड कीर्तन का यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहता था कोई-न-कोई स्वामी सदैव इसे गाता रहता था। उन दिनों जब भी कोई व्यक्ति आश्रम में आकर संन्यासी बनने की इच्छा व्यक्त करता तो मैं

उनका स्वागत करता था, क्योंकि हमें कीर्तन के कार्यक्रम को अखण्ड, अबाध गति से चलाना था।

आश्रम के उद्घाटन-दिवस पर स्वामीजी ने कहा,'यह कीर्तन तब तक चलता रहेगा जब तक कि यह संसार रहेगा।' हम लोग बहुत चिन्तित हो गये। मैंने सोचा एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष या चार वर्ष तक की बात तो समझ में आती है, किन्तु जब तक संसार रहेगा।'और यह स्वामी शिवानन्द जी का सही, सूक्ष्म या सुस्पष्ट कार्यक्रम था जो उस सम्पूर्ण संरचना का केन्द्र बना, जिसे कि आज आप देख रहे हैं।

निष्कपट मन

स्वामी शिवानन्द प्रत्येक व्यक्ति में विश्वास करते थे तथा यह कभी नहीं सोचते थे कि कोई आदमी बुरा होता है। वे निरहंकार और महत्त्वाकांक्षा से रहित व्यक्ति थे तथा कभी भी अपने को एक महान् संन्यासी के रूप में प्रस्तुत नहीं करते थे। उनके पास हजारों लोग आते थे और उनके आशीर्वाद से जीवन की कठोर परिस्थितियों से उबरने में सफल होते थे। किन्तु वे सिर्फ इतना कहते थे,'यह सब ईश्वर की कृपा है।' वे सभी उनसे कहते थे, 'स्वामीजी, आप एक महान् सिद्ध और गुरु हैं। आप के आशीर्वाद से ही मेरा बच्चा इस संकट से उबर सका है।' किन्तु वे कहते, 'नहीं, नहीं, नहीं। यह सब ईश्वर की कृपा और आपके प्रारब्ध कर्म का परिणाम है।'

स्वामी शिवानन्द जी बुद्धिवादी नहीं थे। वे निष्कपट मन से युक्त एक विशुद्ध भक्त थे। यदि कोई उनके निकट अपनी समस्याएँ लेकर आता या पत्र द्वारा लिखता तो वे सभी आश्रमवासियों को ध्यान की स्थिति में बैठाकर उस व्यक्ति के समुत्थान के लिये उपयुक्त मन्त्र का जप करवाते थे। इस पद्धति में उनका इतना विश्वास था कि जप की समाप्ति के बाद वे हमसे उस व्यक्ति को पत्र द्वारा सूचित करने के लिये कहते कि 'हमने आपके लिये मन्त्र-प्रार्थना की है और अब आप बिल्कुल ठीक हो जायेंगे।'

जब तक आप में श्रद्धा नहीं होगी, आप ऐसी बातों में विश्वास नहीं करेंगे। हम सभी बुद्धिवादी हैं। हम सभी मन्त्रों के बारे जानते हैं, किन्तु उनमें हमारी श्रद्धा नहीं है। यदि हम किसी अस्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य लाभ के लिये जप करें तो हम उन्हें यह लिखने का साहस नहीं कर सकते कि वे पूर्णत: ठीक हो जायेंगे, क्योंकि हमारे विश्वास का आधार ठोस नहीं है।

श्रद्धा में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं होता, किन्तु ज्ञान में दरारें होती हैं। मैं बुद्धि का विरोधी नहीं हूँ, किन्तु इसकी सीमाओं को स्वीकार करना भी आवश्यक है।

श्रद्धा एकदम निष्कपट, किन्तु अति शक्तिशाली होती है। महान् सन्तों के जीवन के चमत्कार निष्कपटता के ही परिणाम हैं। निष्कपटता बचपना नहीं है; यह मानव मन की शुद्धता की अभिव्यक्ति है। निष्कपट होने के लिये आपको कुछ करना नहीं है, कुछ बनना नहीं है; बल्कि आपने जो कुछ भी प्राप्त किया है–ज्ञान, धन-सम्पत्ति, शक्ति, पद, राजनैतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि–उन्हें फेंक देना है। आपको विश्वास करना है कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' जब आपके मन में इस प्रकार का दृष्टिकोण उत्पन्न होता है तो यह आपकी श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है। और मैंने स्वामी शिवानन्द जी में इस श्रद्धा का पूर्ण जीवन्त रूप देखा।

टिप्पणी लेना

एक समय मैं बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य लिख रहा था। मेरी प्रारम्भिक शैक्षिक पृष्ठभूमि काफी अच्छी थी। मैं एक प्रतिभावान छात्र था। अत: मुझे संस्कृत और दर्शनशास्त्र का ठोस बौद्धिक ज्ञान था। फिर भी इस उपनिषद् पर भाष्य लिखने में मुझे बहुत कठिनाई हो रही थी। समय-समय पर स्पष्टीकरण के लिये जब मैं स्वामीजी के पास जाता था, तो वे मुझे तपोवनम् जी महाराज के पास भेज दिया करते थे। वे स्वामीजी के शिष्य नहीं थे। वे ऋषिकेश में नहीं, उत्तरकाशी में रहते थे। वे संस्कृत के महान् विद्वान थे तथा उपनिषदों पर उनका पूर्ण अधिकार था।

स्वामी शिवानन्द जी द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या तीन सौ से चार सौ के बीच है। जिस अवधि में मैं उनके निकट था उसमें वे दो सौ पचास पुस्तकों की रचना कर चुके थे। किन्तु उनके जीवन-दर्शन का एक अति महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि वे अपने शिष्यों के समक्ष भी यह दिखावा नहीं करते थे कि वे सब कुछ जानते हैं। शिष्य यदि कुछ सीखना चाहता है तो गुरु को चाहिये कि वे उसे उस विषय के अधिकारी विद्वान् के पास भेजें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो वे शिष्य को धोखा दे रहे हैं।

स्वामी शिवानन्द जी कुछ पुस्तकों के अध्ययन की सलाह देकर मेरा मार्गदर्शन कर सकते थे। किन्तु वे मेरे शुभचिन्तक थे। वे जानते थे कि

स्वामी तपोवनम् जी महाराज जैसे अधिकारी विद्वान् से उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करना मेरे हित में है।

अत: बर्फीली शीत ऋतु में जब स्वामी तपोवनम् जी ऋषिकेश में निवास करते तो स्वामी शिवानन्द जी मुझसे कहते थे,'स्वामी तपोवनम् जी यहाँ पधारे हुए हैं। उनके पास जाकर अध्ययन करो।' अत: मैं स्वामी तपोवनम् जी के पास अपने समस्त दार्शनिक प्रश्नों और व्याकरण की जटिलताओं को लेकर जाया करता था। मैं उनके निकट घंटों बैठ कर दार्शनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श करता और जब वापस लौटता तो सदैव स्वामी शिवानन्द जी को अपनी प्रतीक्षा करता हुआ पाता। वे मुझे अपनी कुटीर बुलाते और पूछते, 'तुम्हारा प्रश्न क्या था और उन्होंने क्या उत्तर दिया?' मैं जो कुछ भी सीख कर आता, उन्हें विस्तार से बताता और वे उन समस्त बातों को लिख लेते। अगले दिन वे इस नोट को टाइप करवा लेते तथा उसके तथ्यों के आधार पर एक कहानी, लेख या कविता की रचना कर लेते।

प्रबोधन जनित नम्रता

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो सोचते हैं कि मैं सब कुछ जानता हूँ। वे दूसरों से प्राप्त होने वाले सकारात्मक प्रभावों के प्रति ग्रहणशील नहीं होते। यदि उनसे कोई नयी बात कहें जो आपने अभी-अभी सीखी है तो वे कहेंगे कि 'मैं तो यह पहले से ही जानता हूँ।' यह मानव स्वभाव की एक विचित्र विशेषता है। यह उसके व्यक्तित्व की गहराई में जड़ जमाये हुए अन्तर्निहित अहंकार का द्योतक है। और जहाँ अहंकार है वहाँ अज्ञान का निवास अवश्य होगा।

ईसाई, मुस्लिम और हिन्दू धर्मों के समस्त धर्मशास्त्र एक ही बात कहते हैं–'अहंकार की उत्पत्ति ज्ञान या बोध से नहीं होती। धार्मिक दृष्टि से कहा जाये तो यह शैतान की सन्तान है। जहाँ बोध है, ज्ञान है, वहाँ नम्रता है।' अधिक बोधयुक्त व्यक्ति अपने को अधिक छोटा अनुभव करता है। यह बात किसी सन्त या संन्यासी के सम्बन्ध में ही सत्य नहीं है, बल्कि एक कवि, कलाकार, गायक, वैज्ञानिक या राजनीतिज्ञ के सम्बन्ध में भी सही है। ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती है, व्यक्ति अपने सम्बन्ध में कम-से-कम सोचने लगता है। और यदि आप छोटेपन का अनुभव करेंगे तो आपके पास अहंकार कैसे टिक सकेगा?

महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने अपने अन्वेषणों के बारे में कहा था, 'मैं तो ज्ञान के समुद्र के किनारे कंकड़ ही चुनता रहा, समुद्र तो मुझसे अछूता ही रह गया।' एक सच्चा, महान्, प्रबुद्ध व्यक्ति खुले मन से हर प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करता है। उसके लिये इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह एक सन्त से कुछ सीख रहा है या एक पापी, दुष्ट व्यक्ति से। ये भिन्नताएँ तो सिर्फ सामाजिक विभेद, वर्गीकरण या श्रेणीकरण की द्योतक हैं। एक माँ के लिये इस बात से अन्तर नहीं पड़ता कि उसकी सन्तान लड़का है या लड़की, स्वस्थ है या अस्वस्थ, सामान्य है या सुन्दर, संन्यासी है या शराब पीने वाला।

सन्त कभी किसी की आलोचना नहीं करते और न कभी पूर्वाग्रह या आसक्ति से आक्रान्त होते हैं। वे आध्यात्मिक स्तर पर अन्त:क्रियाएँ करते हैं। सन्तों के बारे में चर्चा करना आसान नहीं है। वे हिमशैलों के समान होते हैं। आप उनके एक छोटे अंश को ही जल के ऊपर देख सकते हैं, अधिकांश तो जल की सतह के नीचे ही छुपे रहते हैं। अत: मेरे लिये स्वामी शिवानन्द जी के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। उनके साथ मैं कुछ वर्षों तक ही रहा, किन्तु उन्होंने मेरे जीवन की समस्त धाराओं और अवधारणाओं को परिवर्तित कर दिया।

योग तरी तीरे तीरे

सन् 1956 का एक दिन स्वामी शिवानन्द जी ने मुझसे पूछा, 'तुम क्या साधना कर रहे हो?' बारह वर्षों की अवधि में उन्होंने इस प्रकार का कोई प्रश्न नहीं पूछा था। मैं आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करता था, किन्तु गुरु के आदेशानुसार नहीं, सिर्फ व्यक्तिगत चयन और रुचि के अनुसार। मैंने बहुत बड़ी संख्या में मन्त्र का जप भी किया था। साथ-ही-साथ मैं दिन-रात कर्मयोग किया करता था। मैंने उत्तर दिया, 'मैं आसन, प्राणायाम और मन्त्र-जप करता हूँ तथा कुछ अन्य आसन भी।' उन्होंने पूछा, 'क्या तुम क्रियायोग का अभ्यास नहीं करते हो?' मैंने कहा, 'नहीं, मैंने इसके बारे में सुना है, किन्तु इसके बारे में कुछ नहीं जानता।' वे मुझे अपने कमरे में ले गये। वहाँ उन्होंने मुझे 10 मिनटों में क्रियायोग की शिक्षा दी या दूसरे शब्दों में, मैंने दस मिनटों में क्रियायोग सीख लिया। तब उन्होंने मुझे 108 रुपये दिये और कहा, 'अब तुम यहाँ से जा सकते हो। इस आश्रम में अब तुम्हें नहीं रहना है। भ्रमण करते रहो तथा योग के सन्देश को प्रत्येक घर में पहुँचा दो, समस्त विश्व में फैला दो।'

इस निर्देश के अनुसार मैंने आश्रम छोड़ दिया तथा इतस्तत: घूमने लगा। उन दिनों अनेक आध्यात्मिक आन्दोलन चल रहे थे। गुरुओं की संख्या भी कम नहीं थी। दूसरी तरफ, मैं अभी भी युवा था। मेरे जैसे व्यक्ति के लिये इस क्षेत्र में टिकना कठिन था। झूठ बोलना, लोगों को धोखा देना तथा बातों को जटिल बना कर प्रस्तुत करना मेरे लिये बिल्कुल सम्भव नहीं था। मैं अनेक वर्षों तक भ्रमण करता रहा।

आन्तरिक जागृति

14 जुलाई 1963 को मैं मुंगेर में था। मेरे मानस-पटल से होकर एक दिव्य दृश्य तेजी से गुजर गया और मैं अचानक अन्दर से जाग उठा। मैंने देखा कि मैं ऋषिकेश में गंगा के किनारे खड़ा हूँ और एक जलयान उसके दूसरे किनारे की ओर जा रहा है। उसके डेक पर स्वामी शिवानन्द जी खड़े हैं। वे अपने हाथों को नमस्कार की मुद्रा में जोड़े हुए मेरी ओर देख रहे हैं। तुरही और शंखों की ध्वनि हो रही है, ढोल-मृदंग-नगाड़े बज रहे हैं, घंटियाँ बज रही हैं। एक समय तो जलयान मेरे अति निकट आ गया और धारा इतनी तेज थी कि प्रचक्र द्वारा मेरे सिर, गले और सम्पूर्ण शरीर पर जल का छिड़काव हो गया।

इस दिव्य दृश्य के समाप्त होने के बाद मैं समझ गया कि स्वामी शिवानन्द जी ने अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया है तथा जल के छिड़काव के रूप में उन्होंने मुझे अपना आशीर्वाद प्रदान किया है। स्वामीजी गंगा से अतिशय प्रेम करते थे; मैं उस प्रेम की सीमा का उल्लेख नहीं कर सकता। वर्षाऋतु में जब उसका जल बहुत गन्दा हो जाता तब भी उसका पान करते थे। बाढ़ और वर्षा के कारण जब गंगा का जल-स्तर बहुत ऊँचा हो जाता तब उनके कमरे में भी उसकी आधी ऊँचाई तक जल भर जाता था। इस स्थिति में भी दूसरे भवन में जाना उन्हें स्वीकार्य नहीं होता था।

उसी दिन मैं अपना थैला लेकर रेलवे स्टेशन पहुँच गया और टिकट खरीद कर ऋषिकेश के लिये रवाना हो गया। वहाँ पहुँचने पर मैंने पाया कि 14 जुलाई की अनुभूति बिल्कुल सही थी। स्वामीजी का देहावसान हो चुका था। उस समय से लेकर आज तक, कम-से-कम वर्ष में एक बार, मैं आंतरिक रूप से जाग्रत हो सकता हूँ। और यह अनुभव उतना ही सही, वास्तविक, गहरा और ठोस होता है जितना कि उपर्युक्त अनुभव। यह एक स्वप्न, सम्मोहन या कल्पना नहीं है। इसका वही आयाम होता है जो इस

वास्तविकता का। वहाँ मैं उनसे मिलता हूँ, बातें करता हूँ तथा अतिस्पष्ट मार्गदर्शन प्राप्त करता हूँ।

मेरा जीवन अति अपवादात्मक रहा है। मुझे कभी किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। अत: जब मैं अपने गुरु के पास जाता हूँ तो कोई इच्छा लेकर नहीं जाता हूँ। अनेक बार मैंने सोचा है कि मुझे कुछ चीजों के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। किन्तु मुझे मालूम ही नहीं है कि किस चीज के लिये प्रार्थना करूँ। उन्होंने मुझे सब कुछ दिया है। और जो उन्होंने मुझे नहीं दिया है, मैं सोचता हूँ कि वह मुझे नहीं चाहिये। स्वामी शिवानन्द जी के साथ मेरे सम्बन्ध का प्रधान उद्देश्य आत्मान्वेषण था। उनके सान्निध्य में मैं बारह वर्षों तक रहा और उस समय का उपयोग मैंने अपने आन्तरिक दर्पण को परिष्कृत करने में किया। अहंकार और अज्ञान को मिटाना था, वासनाओं को समाप्त करना और इच्छाओं को सुनिश्चित करना था। गुरु की सेवा किये बिना कोई व्यक्ति इन दुष्कर कार्यों को किस प्रकार सम्पादित कर सकता है?

शंका समाधान

अपने शिष्य के लिये स्वामी शिवानन्द जी का प्रमुख उपदेश क्या था?

एक बार स्वामी शिवानन्द जी ने मुझसे कहा था कि हम सभी उपकरण हैं, माध्यम हैं। हमें बिना किसी वासना, आसक्ति और अपेक्षा के प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करना चाहिये, उसकी सेवा करनी चाहिये। हमें बगैर किसी प्रत्याशा के ईश्वर से प्रेम करना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य दिव्य दृष्टि प्राप्त करना है। ईश्वर ने हमें सब कुछ दिया है; हमने इनकी माँग नहीं की थी। तब हम उनसे कुछ भी क्यों माँगें? उन्हें पता है कि हमें क्या मिलना और क्या नहीं मिलना चाहिये तथा हम किस योग्य हैं। अत: हम समस्त इच्छाओं का त्याग कर दें और सब-कुछ ईश्वरीय इच्छा को समर्पित कर दें। चाहे हम सुख में हों या दु:ख में, समृद्धि में या गरीबी में, हम पूर्णत: उसके हाथों में हैं।

यदि कभी आपकी भेंट स्वामी शिवानन्द जी जैसे व्यक्ति से हो तो कृपया मुझे सूचना दीजिये। और जब तक ऐसे व्यक्ति न मिलें, अपनी साधना

करते रहिये। दुर्भाग्य से आज संसार में ऐसे लोगों का सर्वथा अभाव है। मैं ध्यानपूर्वक, उत्सुकतापूर्वक ऐसे व्यक्ति की खोज करता रहा हूँ। अच्छे वक्ता, बहुत अच्छे लोग तो मिल जाते हैं, किन्तु ईश्वरोन्मत्त व्यक्ति नहीं मिलते। अत: ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ने का प्रयास कीजिये, उनका अनुसरण कीजिये तथा सब कुछ त्याग कर स्वयं को उनके चरणों में समर्पित कर दीजिये।

क्या स्वामी शिवानन्द जी का कोई विशेष दर्शन था?

अपने सम्पूर्ण जीवन में उन्होंने जो कुछ भी किया उसके पीछे उनका एकमात्र उद्देश्य था–प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण करना। जहाँ तक उनके आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है, वह सब प्रकार से पूर्ण था। वे चौबीसों घंटे अपने मन्त्र की सजगता में डूबे रहते, तल्लीन रहते। जब वे शरीर का त्याग करने वाले थे, एक दिन उनके निकट रहने वाले एक व्यक्ति ने उनसे मानवता को अपना अन्तिम संदेश देने का निवेदन किया। उन्होंने एक कलम उठाई और लिखा, 'ईश्वर ही यथार्थ है, अन्य सब माया है।' यही स्वामी शिवानन्द जी के सम्पूर्ण जीवन का दर्शन था, और इसके अलावा कुछ नहीं।

अपने गुरु के साथ आपका सर्वश्रेष्ठ अनुभव क्या था?

यदि आप स्वामी शिवानन्द जी के साथ रहते तो आप सदैव ईसा मसीह को याद करते। जब उन्होंने कहा, 'हे ईश्वर, उन्हें क्षमा करना, क्योंकि वे यह नहीं जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं', तो मैंने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा आदमी होना असम्भव है। तथापि स्वामी शिवानन्द और महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में इस दर्शन को प्रत्यक्ष करके दिखाया। मेरे जीवन का यह एक अति श्रेष्ठ अनुभव था।

आपने शिष्य के रूप में अपने प्रारम्भिक दिनों की कठिनाइयों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की?

जब आप किसी को प्यार करते हैं तो कोई भी समस्या कठिन नहीं होती। कठिनाइयों का अनुभव आप तभी करते हैं जब आप किसी से प्यार नहीं करते। यदि आप अपने गुरु से या किसी अन्य व्यक्ति से प्रेम करते हैं तो सारा संसार आपको ठोकर मारे या आपकी आलोचना करे, आप इन सबकी परवाह नहीं करते हैं। स्वामी शिवानन्द जी का व्यक्तित्व इतना

शान्त और करुणामय था कि मैं जिन रोगों या बीमारियों से ग्रस्त हुआ, उनका कभी-भी अनुभव नहीं किया।

यदि मैं पीछे मुड़कर उन वर्षों पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि यह सब कैसे हुआ। मैं स्वप्न देख रहा था या सम्मोहित था। यदि आपके दिल में किसी के प्रति गहरा और स्थायी प्रेम हो तो आप असंगत अनुभवों के प्रति सजग नहीं हो सकते। यदि आप युवक या युवती के उत्तेजक आलिंगन में हों तो आपको समय का भी ख्याल नहीं रहता। जब आप वासना के नियन्त्रण में होते हैं तो अन्य किसी चीज के बारे में नहीं सोचते हैं। अत: जब आप अपने गुरु के सान्निध्य में हैं तो स्वयं के प्रति किस प्रकार सजग रह सकते हैं?

अपने अनुभव के प्रकाश में कृपया पूर्ण परित्याग की व्याख्या करें।

सच्ची बात यह है कि मुझे आश्रम नहीं चाहिये, शिष्य नहीं चाहिये। और कभी-कभी मैं अपने वातावरण में परिश्रान्त हो जाता हूँ। मैं आश्रम छोड़कर किसी जंगल में, एकान्त स्थान में जाकर बैठना चाहता हूँ। मैं सोचता हूँ, 'जब मैंने अपने माता-पिता, समस्त सम्बन्धियों एवं सम्पत्ति का परित्याग कर दिया तो इन सम्बन्धियों (शिष्यों) की क्या आवश्यकता है? 'ऐसे समय में मुझे निश्चित रूप से एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। मुझे पता नहीं चलता है कि यह लम्बे समय तक टिकती है या कुछ क्षणों के लिये। उस समय मैं चेतना के एक अन्य क्षेत्र में पहुँच जाता हूँ। मैं स्वामी सत्यानन्द नहीं रह जाता हूँ और अति स्पष्ट रूप से सुनता हूँ, 'नहीं, चलते रहो, पीछे मत हटो।' यह स्वामी शिवानन्द जी की आवाज है।

परित्याग पूर्ण होना चाहिये। ऐसी प्रत्येक वस्तु का परित्याग करना चाहिये जिसके प्रति हम आसक्त हैं। हम अपने पुराने घर एवं वस्त्र का परित्याग कर सकते हैं, किन्तु जिस व्यक्ति से मैं प्यार करता हूँ उसका परित्याग कैसे करूँ? यह बहुत कठिन है। हम प्राय: सुविधाजनक परित्याग का अभ्यास करते हैं। हम उन चीजों का परित्याग करते हैं जिन्हें नापसन्द करते हैं। किन्तु वास्तविक परित्याग तब होता है जब आप उस वस्तु या व्यक्ति का त्याग करते हैं जिसे आप पसन्द करते हैं।

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि देर-सबेर इस चक्र से बाहर निकलने वाला हूँ। कुछ समय पूर्व मैंने इस छोटी-सी कविता की रचना की थी–

निर्वस्त्र शरीर,
खाली हाथ,
विचरने दो मुझे गंगा-तट पर।
होठों पर नाम हो शिव का,
मन में भाव हो देवी और दुर्गा का,
ज्ञान न हो मुझे अपने अस्तित्व का भी।
और महाप्रयाण के समय मैं अनभिज्ञ रहूँगा
कि मैं इस जीवन की अन्तिम यात्रा पर हूँ।

स्वामी शिवानन्द जी ने इसी प्रकार का जीवन जीने के लिये मुझे सदैव अनुप्राणित किया और अब मुझे उनका अनुसरण करना है।

गुरु-स्तोत्रम्

'गुरु गीता' से उद्धृत। यह अंश शिव और उमा (शक्ति) के संवाद के रूप में स्कन्द पुराण के उत्तरखण्ड में उपलब्ध है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु भगवान शिव हैं। वे ही साक्षात् सत्ता हैं। मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरोर्पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोर्कृपा॥

गुरु का स्वरूप ध्यान की वस्तु है। गुरु-चरणों की पूजा ही वास्तविक पूजा है। गुरु के वचन समस्त मन्त्रों के आधार हैं। मात्र गुरु-कृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

मैं उस सद्गुरु को प्रणाम करता हूँ जो अखण्ड चेतना से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक चर-अचर में व्याप्त हैं। उस गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ जो उसमें स्थित हैं तथा जिन्होंने मुझे उसकी अनुभूति के प्रति जाग्रत किया है।

मन्नाथः श्री जगन्नाथः मद्गुरु श्री जगद्गुरुः।
मदात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्री गुरवे नमः॥

मेरे स्वामी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। मेरे गुरु सम्पूर्ण जगत् के गुरु हैं। मेरी आत्मा समस्त भूतों, पदार्थों की आत्मा है। अत: मैं अपने गुरु को प्रणाम करता हूँ जिनसे मुझे यह ज्ञान मिला है।

ज्ञानशक्ति-समारूढ: तत्त्व-माला विभूषित:।
भुक्ति-मुक्ति-प्रदाता च तस्मै श्री गुरवे नम:॥

जो आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति से युक्त हैं, परम सत्य की माला से विभूषित हैं, इस संसार में ही भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करने वाले हैं, उस गुरु को मेरा प्रणाम।

स्थावरं जंगमं व्याप्तं यत्किंचित् सचराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नम:॥

जो समस्त सजीव-निर्जीव, चर-अचर पदार्थों में व्याप्त है उसकी अनुभूति प्रदान करने वाले गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

चिन्मयं व्यापितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नम:॥

मैं उस गुरु को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मुझे भूत,वर्तमान और भविष्य तथा समस्त चर-अचर पदार्थों में व्याप्त सत्ता की अनुभूति प्रदान की है।

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरंजन:।
बिन्दुनादकलातीत: तस्मै श्री गुरवे नम:॥

उस गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ जो चिरन्तन, अनासक्त, प्रकाशमय और ज्ञानमय हैं, तथा बिन्दु-नाद-कला और आकाश के भी परे हैं।

SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

अनेक लोग तर्क करते हैं कि गुरु आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि वास्तविक गुरु तो हमारे अन्दर ही हैं। यह सच है, परन्तु कितने लोग उनके निर्देशों को सुनने, समझने एवं अनुसरण करने का दावा कर सकते हैं। आप चाहे जो हों या जैसे हों, गुरु आपके जीवन की आवश्यकता हैं। गुरु शुद्ध देदीप्यमान अन्तरात्मा हैं, जो अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हैं। एक बार गुरु से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर काल इसे नहीं बदल सकता और न मृत्यु ही इसे मिटा सकती है।

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती द्वारा रचित एवं संकलित यह पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में गुरु को कैसे पहचाने, गुरुओं के प्रकार, शिष्यों के प्रकार, गुरु के प्रति नकारात्मक भाव, दीक्षा आदि अध्यायों का समावेश किया गया है। द्वितीय खण्ड में चुने हुए सत्संगों का संकलन है; विषय हैं– गुरु के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ना, अहंकार का अर्पण, संचारण के रहस्य, प्रत्येक गुरु एक प्रकाश पुंज, आदि। यह पुस्तक जिज्ञासुओं और साधकों की गुरु सम्बन्धी लगभग सभी मुख्य जिज्ञासाओं का समाधान करेगी एवं उनके लिए प्रेरणास्रोत का कार्य करेगी।

978-81-85787-98-5

ISBN